COINS & MYTHOLOGY

SCin: Sein

1828

Coins 1

प्राचीन भारतीय मूर्त्तिविज्ञान

[प्रारम्भ से गुप्तकाल तक की ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैनधर्मों की प्रमुख मूर्त्तियों का अध्ययन]

डॉ० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी
निदेशक, राज्य-संग्रहालय, लखनऊ

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रकाशक :
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना–८००००४

प्रथम संस्करण, २०००

शकाब्द १८९९; विक्रमाब्द २०३४; खीष्टाब्द १९७७

मूल्य : रु० ३२.००

मुद्रक :
श्रीहिमालय प्रेस
पटना–८००००४

वक्तव्य

'प्राचीन भारतीय मूर्त्तिविज्ञान' पुरातत्त्व से सम्बद्ध है, जिसका प्रकाशन परिषद् की भाषणमाला-योजना के अन्तर्गत किया गया है। यह परिषद् से प्रकाशित एतद्विषयक ग्रन्थों में अन्यतम है। इससे पूर्व भारत के प्रसिद्ध इतिहासविद् डॉ० अनन्त सदाशिव अलतेकर के 'गुप्तकालीन मुद्राएँ' तथा डॉ० विन्ध्येश्वरी प्रसाद सिन्हा के 'भारतीय कला को बिहार की देन' नामक दो बहुचर्चित ग्रन्थ यहाँ से प्रकाशित हो चुके हैं। अब परिषद् लखनऊ के राज्य-पुरातत्त्व-संग्रहालय के निदेशक डॉ० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी के प्रस्तुत ग्रन्थ को प्रकाशित कर पाठकों के समक्ष उपस्थित कर रही है।

इस ग्रन्थ में विष्णु, शिव, गणेश, कार्त्तिकेय, सूर्य, लक्ष्मी, दुर्गा आदि हिन्दू देवी-देवताओं, बुद्ध, बोधिसत्त्व, यक्ष आदि बौद्ध उपास्यों तथा जैन तीर्थंकरों की प्रस्तर-प्रतिमाओं, मृण्मय मूर्त्तियों एवं भित्ति-चित्रों का विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रतिमा-लक्षण-ग्रन्थों, पुरातात्त्विक अभिलेखों, पुराणों और सम्बद्ध बौद्ध-जैन-ग्रन्थों एवं आधुनिक ऐतिहासिक शोधों के आधार पर इन मूर्त्तियों की शास्त्रीयता एवं प्रामाणिकता सिद्ध की गई है। लेखक के अध्ययनपूर्ण विवेचन के साक्ष्य के लिए ग्रन्थ में शताधिक चित्रों एवं रेखाचित्रों को नाम, परिचय और संख्या-क्रम के साथ अंकित किया गया है। इनके साथ ही प्रत्येक अध्याय के अन्त में सन्दर्भ-सूची भी संलग्न है। इस प्रकार सभी अंगों-उपांगों के साथ शोध एवं अध्ययन से परिपूर्ण पुरातत्त्व के एक आवश्यक अध्याय——मूर्त्ति-विज्ञान के प्रामाणिक विवरणों को प्रस्तुत करके इस ग्रन्थ को उपादेय बनाने का प्रयास किया गया है। इतिहास की इस आवश्यक सामग्री को प्रकाशित कर परिषद् ने हिन्दी-वाङमय की श्रीवृद्धि के योगदान में एक नया पग आगे रखा है।

इस ग्रन्थ के लेखक डॉ० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी इतिहास और पुरातत्त्व के अधीती विद्वान् हैं। आप इतिहास-विद्या के बहुश्रुत एवं मूर्धन्य मनीषी डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के शिष्य हैं। अभी आप लखनऊ के राज्य-संग्रहालय के निदेशक हैं। यहाँ आपने जो कुछ भी सामग्री दी है, वह आपके सतत स्वाध्याय का अवदान है और इस प्रसंग में यह निवेदन कर देना उचित जँचता है कि डॉ० जोशी महाराष्ट्र के निवासी और मराठी-भाषी हैं। आपने इस ग्रन्थ का प्रणयन कर राष्ट्रभाषा के श्रीसंवर्धन में जो योगदान किया है, वह सर्वथा श्लाघनीय और उल्लेख्य है।

साहित्य के अतिरिक्त वाङमय के दूसरे अंगों को भी समृद्ध और पुष्ट करने का परिषद् का यह प्रयास विद्वन्मण्डली को अवश्य मान्य होगा। हमारी ओर से हिन्दी-भारती के मन्दिर में अनेक रूप-रंग के विविध सुगन्धित पुष्पों का समर्पण होता रहा है। इसी क्रम में पुरातत्त्व से सम्बद्ध इस ग्रन्थ को हम सुविज्ञ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है, अभिज्ञजन इसे अपनाकर अवश्य अनुगृहीत करेंगे।

आषाढ़ी पूर्णिमा, सं० २०३४ वि०

३० जुलाई, १९७७ ई०

हंसकुमार तिवारी

निदेशक

पटोद्घाटन

भारतीय मूर्त्तिविज्ञान---इस विषय पर भारतीय भाषाओं में बहुत कम ग्रन्थ हैं, यद्यपि अब यह विषय अधिकतर भारतीय विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर परीक्षा के लिए निर्धारित है। अँगरेजी में मूर्त्तिविज्ञान या Iconography से सम्बद्ध कई ग्रन्थ हैं, और वे ही अधिकतर पाठ्यपुस्तकों का रूप धारण कर चुके हैं। इन ग्रन्थकारों में कृतज्ञता-भाव से डॉ० आनन्द कुमार-स्वामी, श्रीगोपीनाथ राव, श्रीजितेन्द्रनाथ बनर्जी, श्रीशिवराममूर्त्ति, मेरे गुरु डॉ० वासुदेव-शरण अग्रवाल, प्रो० सरस्वती, डॉ० मोतीचन्द्र आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मेरे सहयोगी मित्रों में श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी, श्रीरत्नचन्द्र अग्रवाल, डॉ० सतीशचन्द्र काला, डॉ० उमाकान्त शाह, डॉ० राय गोविन्दचन्द्र, डॉ० बलराम श्रीवास्तव आदि ने भी इस विषय को खूब आगे बढ़ाया है। इन सबके ग्रन्थों तथा शोध-लेखों का मैंने प्रचुर उपयोग किया है। इतना सब होने पर भी इस ग्रन्थ में ऐसी कुछ सामग्री मिलेगी, जो इनमें से अधिकतर विद्वानों की आँखों से ओझल ही रही। इसका कारण मेरी अपूर्व विद्वत्ता नहीं, भाग्ययोग है। बात यह है कि प्राचीन भारतीय मूर्त्तिविज्ञान पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री का एक बहुत बड़ा भाण्डार मथुरा तथा लखनऊ के संग्रहालयों में भरा-पड़ा है। प्रकाशनों के अभाव में वह विद्वानों के सामने पहुँच ही नहीं पाया है। डॉ० फोगल तथा उनके बाद डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने कैटलग प्रकाशित करके सन् १९३९ ई० तक की सामग्री शब्दों के द्वारा जनता के सामने प्रस्तुत की, किन्तु छायाचित्रों के रूप में वह सामने नहीं आ सकी। सन् १९३९ ई० के बाद से आजतक की सामग्री के कुछ भाग यत्र-तत्र लेखों के रूप में प्रकाशित हुए, तथा सन् १९७३ ई० तक की उपलब्धियाँ एक सूची के रूप में **'संग्रहालय-पुरातत्त्व-पत्रिका, लखनऊ'** के ११-१२वें अंक में प्रकाशित भी हुई, किन्तु अब भी वह सचित्र रूप में कहीं नहीं मिलेगी। स्वभावतया मथुरा-संग्रहालय के अध्यक्ष-पद को पानेवाले एकमेव व्यक्ति का यह सौभाग्य रहता है कि वह कुषाण-कालीन माथुरी कलाकृतियों को---जिनमें प्रारम्भिक मूर्त्तिविज्ञान की कई कड़ियाँ तथा अनेक अनमोल रत्न छिपे पड़े हैं---देखे और परखे। मुझे इस पद पर अप्रैल, १९६३ से जुलाई, १९६७ ई० तक रहने का सौभाग्य मिला था। मुझे मेरी 'अल्पविषया मति' के अनुसार 'कुषाण-प्रभव मूर्त्तिवंश' में जो कुछ नवीन मिला, उसका मैंने इस पुस्तक में उपयोग किया है। इसीलिए, मेरा निवेदन है कि इस पुस्तक की नवीनता मेरे 'भाग्ययोग' के कारण है।

प्रस्तुत पुस्तक का क्षेत्र न केवल प्राचीन भारतीय, अर्थात् आरम्भ से गुप्तकाल की समाप्ति तक की ब्राह्मणधर्म की मूर्त्तियों के---वह भी प्रमुख, अर्थात् शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य, कार्त्तिकेय तथा गणेश के---विवेचन तक ही सीमित है, बल्कि परिषद् के निदेश पर बौद्ध एवं जैन मूर्त्तियों का भी इसमें समावेश किया गया है। इन दो अध्यायों में काल-मर्यादा को भी थोड़ा शिथिल किया गया है। इस ग्रन्थ में कला और साहित्य का मेल बैठाने तथा चित्रों और रेखाचित्रों की सहायता से विषय को सुलभ बनाने का प्रयत्न किया गया है। चित्रों की

संख्या का अधिक होना अनिवार्य था; क्योंकि मूर्त्तिविज्ञान जैसे रूखे विषय को सरस बनाने का वही एक साधन है।

प्रथम अध्याय में विषय की अवतारणा करते हुए मूर्त्ति और अर्चा, देश, काल और सम्प्रदाय का मूर्त्तिविज्ञान पर प्रभाव, मूर्त्तिविज्ञान की उपादेयता, उसकी प्राचीनता, उद्भव, महाविलयन-पद्धति, देवता-संघ का विकास, मूर्त्तिपूजा के प्रारम्भिक उल्लेख, तालमान आदि विषयों की संक्षिप्त चर्चा की गई है। बाद के अध्यायों में क्रमशः शिव, विष्णु, शक्ति, कार्त्तिकेय, सूर्य, चन्द्र, गणेश, ब्रह्मादि विविध देवताओं; बुद्ध एवं बौद्ध देवताओं तथा जैन-प्रतिमाओं पर विचार किया गया है। यथास्थान मूर्त्तियों की संग्रहालय-संख्याएँ या प्रकाशन-स्थान भी दिये गये हैं, जिससे जिज्ञासुओं को मूल स्रोत पकड़ने में कठिनाई नहीं होगी।

इस पुस्तक को इस रूप में लिखने का मेरा विचार बहुत दिनों से चल रहा था, किन्तु उसे मूर्त्तरूप केवल बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के सौजन्य के ही कारण प्राप्त हो सका। न परिषद् मुझे व्याख्यान देने के लिए--और वह भी मनचाहे विषय पर--आमन्त्रित करती, और न मेरी यह पुस्तक पूरी होती। परिषद् में ये व्याख्यान दिनांक २ एवं ३ अप्रैल, १९७० ई०, को दिये गये। अतएव मैं सर्वथैव परिषद् का कृतज्ञ हूँ। साथ ही, मैं उन सभी संग्रहालयों के अधिकारियों का आभारी हूँ, जिन्होंने निस्संकोच मुझे अपनी सामग्री का उपयोग करने दिया। मैं निदेशक, सांस्कृतिक कार्य-विभाग, उत्तरप्रदेश-शासन का भी इस कार्य के लिए आवश्यक अनुमति देने के लिए आभारी हूँ। यहाँ दिये जानेवाले अधिकतर चित्र मथुरा तथा लखनऊ-संग्रहालयों के छायाचित्रकार श्रीकृष्णदत्त मिश्र तथा श्रीराजेशकुमार सिन्हा द्वारा बनाये हुए हैं, कुछ मेरे अपने हैं। कामचलाऊ रेखाचित्र तो अपने ही हैं।

एक महाराष्ट्रीय व्यक्ति होने के कारण भाषा का सदोष होना सम्भव है, मुद्रण-दोष तथा सन्दर्भों में भूल-चूक भी हो सकती है। इनके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। अस्तु; राष्ट्र-भाषा में भारतीय मूर्त्तिविज्ञान पर लिखी गई यह पुस्तक विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए लाभदायक होगी, इस विश्वास के साथ मैं मुख्य विषय की ओर मुड़ता हूँ।

अनन्तचतुर्दशी — **--नीलकण्ठ**

७. ९. १९७६

चित्रों की तालिका

शिव

शक्ति-प्रतिमाएँ

८२. मिट्टी की चकिया पर मातृदेवी (म० सं० सं० 32.2259), ल० ई० पू० ३री शती
८३. मिट्टी की मातृदेवी (म० सं० सं० S. N. 3), ,, ,,
८४. ,, ,, ,, (म० सं० सं० 32.2222) ,, ,,
८५. गजलक्ष्मी, उड़ीसा, ल० २री शती ई० पू०
८६. कमलधारिणी लक्ष्मी (ल० सं० सं० 0.210), ल० १-२री शती
८७. लक्ष्मी तथा अन्य माताएँ (ल० सं० सं० 0.241), ल० १-२री शती
८८. लक्ष्मी, मथुरा (वर्त्तमान स्थान अज्ञात), ल० १-२री शती
८९. गजलक्ष्मी (ल० सं० सं० 0.236), ल० ३री शती
९०. सोने के पत्तल की बनी यक्ष के साथ लक्ष्मी (ल० संग्रहालय), ल० ५वीं शती
९१. वसुधारा, मथुरा (ल० सं० सं० A. 114), ल० २-३री शती
९२. व्याघ्रमुखी माता तथा कार्त्तिकेय, मथुरा (ल० सं० सं० 0.250), ल० २-३री शती
९३. महिषमर्दिनी दुर्गा, मथुरा (म० सं० सं० 65.1), ल० २-३री शती
९४. ,, ,, (मृद्फलक) ,, (म० सं० सं० 36.2715), ल० १-२री शती
९५. महिषमर्दिनी, भूमरा (इ० सं० सं० 152), ल० ५-६ठी शती
९६. षड्भुजदुर्गा, ग्वालियर संग्रहालय, ल० ६ठी शती
९७. महिषमर्दिनी, मथुरा (म० सं० सं० 0·600), ल० ५वीं शती
९८. पार्वती, मस्तक, मृण्मूर्त्ति, अहिच्छत्रा (रा० सं०, दि०), ल० ५वीं शती
९९. षण्मुखी या षष्ठी, मथुरा (म० सं० सं० 57.3763), ल० ३-४थी शती
१००. षष्ठी और कार्त्तिकेय (ल० सं० सं० J. 84), ल० २-३री शती
१०१ सिंहवाहिनी, मृण्मूर्त्ति, श्रावस्ती, लखनऊ संग्रहालय, ५वीं शती

कार्त्तिकेय

१०२. अभिलिखित कार्त्तिकेय (म० सं० सं० 40.2949), सन् 89
१०३. वही, पृष्ठभाग
१०४. मोर पर स्कन्द, गान्धार-कला (ल० सं० सं० 49.45), ल० ४थी शती
१०५. शक्तिधर कार्त्तिकेय (ल० सं० सं० 57.450), ल० ५वीं शती
१०६. मोर पर कार्त्तिकेय (इ० सं० सं० 946 ?), ल० ५-६ठी शती

सूर्य

१०७. चरण-चौकी पर ईरानी अग्निवेदी के साथ आसनस्थ सूर्य (म० सं० सं० 12.269), ल० १-२री शती
१०८. कमलधारी सूर्य (ल० सं० सं० J. 668), ल० २री शती
१०९. कमलधारी खड़े सूर्य (ल० सं० सं० 57.401), ल० ६ठी शती
११०. प्रभामण्डल के अन्दर रथारूढ़ सूर्य, गढ़वा (ल० सं० सं० B.223 एक छोर), ल० ५वीं शती

गणेश

१११. मृद्फलक पर गणेश मोदक-पात्र बचाते हुए, भीतरगाँव (ल० सं० सं०), ५-६ठी शती
११२. ऊर्ध्वमेढ्र महाविनायक, काबुल, ल० ५वीं शती

शक्ति-प्रतिमाएँ

८२. मिट्टी की चकिया पर मातृदेवी (म० सं० सं० 32.2259), ल० ई० पू० ३री शती
८३. मिट्टी की मातृदेवी (म० सं० सं० S. N. 3), ,, ,,
८४. ,, ,, ,, (म० सं० सं० 32.2222) ,, ,,
८५. गजलक्ष्मी, उड़ीसा, ल० २री शती ई० पू०
८६. कमलधारिणी लक्ष्मी (ल० सं० सं० 0.210), ल० १-२री शती
८७. लक्ष्मी तथा अन्य माताएँ (ल० सं० सं० 0.241), ल० १-२री शती
८८. लक्ष्मी, मथुरा (वर्त्तमान स्थान अज्ञात), ल० १-२री शती
८९. गजलक्ष्मी (ल० सं० सं० 0.236), ल० ३री शती
९०. सोने के पत्तल की बनी यक्ष के साथ लक्ष्मी (ल० संग्रहालय), ल० ५वीं शती
९१. वसुधारा, मथुरा (ल० सं० सं० A. 114), ल० २-३री शती
९२. व्याघ्रमुखी माता तथा कार्त्तिकेय, मथुरा (ल० सं० सं० 0.250), ल० २-३री शती
९३. महिषमर्दिनी दुर्गा, मथुरा (म० सं० सं० 65.1), ल० २-३री शती
९४. ,, ,, (मृद्फलक) ,, (म० सं० सं० 36.2715), ल० १-२री शती
९५. महिषमर्दिनी, भूमरा (इ० सं० सं० 152), ल० ५-६ठी शती
९६. षड्भुजदुर्गा, ग्वालियर संग्रहालय, ल० ६ठी शती
९७. महिषमर्दिनी, मथुरा (म० सं० सं० 0·600), ल० ५वीं शती
९८. पार्वती, मस्तक, मृण्मूर्त्ति, अहिच्छत्रा (रा० सं०, दि०), ल० ५वीं शती
९९. षण्मुखी या षष्ठी, मथुरा (म० सं० सं० 57.3763), ल० ३-४थी शती
१००. षष्ठी और कार्त्तिकेय (ल० सं० सं० J. 84), ल० २-३री शती
१०१ सिंहवाहिनी, मृण्मूर्त्ति, श्रावस्ती, लखनऊ संग्रहालय, ५वीं शती

कार्त्तिकेय

१०२. अभिलिखित कार्त्तिकेय (म० सं० सं० 40.2949), सन् 89
१०३. वही, पृष्ठभाग
१०४. मोर पर स्कन्द, गान्धार-कला (ल० सं० सं० 49.45), ल० ४थी शती
१०५. शक्तिधर कार्त्तिकेय (ल० सं० सं० 57.450), ल० ५वीं शती
१०६. मोर पर कार्त्तिकेय (इ० सं० सं० 946 ?), ल० ५-६ठी शती

सूर्य

१०७. चरण-चौकी पर ईरानी अग्निवेदी के साथ आसनस्थ सूर्य (म० सं० सं० 12.269), ल० १-२री शती
१०८. कमलधारी सूर्य (ल० सं० सं० J. 668), ल० २री शती
१०९. कमलधारी खड़े सूर्य (ल० सं० सं० 57.401), ल० ६ठी शती
११०. प्रभामण्डल के अन्दर रथारूढ़ सूर्य, गढ़वा (ल० सं० सं० B.223 एक छोर), ल० ५वीं शती

गणेश

१११. मृद्फलक पर गणेश मोदक-पात्र बचाते हुए, भीतरगाँव (ल० सं० सं०), ५-६ठी शती
११२. ऊर्ध्वमेढ्र महाविनायक, काबुल, ल० ५वीं शती

रेखाचित्रों की तालिका

शिव

३०. ताण्डव करते हुए शिव
३१. रावणानुग्रह-मूर्त्ति, मथुरा (म० सं० सं० 35.2577)
३२. लिङ्गोद्भव-त्रिमूर्त्ति, वाराणसी (गोयनका पुस्तकालय-भवन के सामने एक दीवाल में लगी मूर्त्ति)
३३. शिव-पार्वती, मथुरा (म० सं० सं० G.52)
३४. अर्धनारीश्वर, कुषाण-काल, मथुरा (म० सं० सं० 15.772)
३५. ,, ,, ,, गुप्तकाल, मथुरा (म० सं० सं० 15.874)
३६. पर्वत पर शिव या वामन (?), कुटारी से चौमुखी मूर्त्ति (इ० संग्रहालय)
३७. अज, एकपाद–मृद्फलक, राजस्थान
३८. गदाधारी शिव-पार्वती
३९. शिव द्वारा गंगा का अभिनन्दन, चण्डीमऊ, बिहार (क० सं० सं० A. 25112)
४०. लिंगोद्भव-मूर्त्ति पर कौस्तुभाङ्कित विष्णु (भा० क० भ०, वाराणसी)
४१. मस्तक पर शिवलिंग को वहन करनेवाला पुरुष, भारशिव (भा० क० भ० सं० 223)

विष्णु

४२–४३. उभयवर्त्ती विष्णु, द्विभुज (?), विदिशा, ग्वालियर संग्रहालय
४४. चतुर्भुज विष्णु, पवाया, ग्वालियर संग्रहालय
४५. विष्णु की पटिया पर उकेरी मूर्त्ति (म० सं० सं० 20.2007)
४६. त्रिविक्रम, पदमपवाया, ग्वालियर संग्रहालय
४७. गदा को पकड़ने के तीन प्रकार, कुषाण-काल (म० सं० सं० 34.2487, U. 5, U.77)
४८. शंख पकड़ने के तेरह प्रकार, कुषाण तथा कुषाण-गुप्तकाल (ल० सं० सं० J. 610; म० सं० सं० 50.3550, 34·2487, U. 5, 15.956, U. 67, 39.2858, 20.2007 56.4200, 49.3502, 57.4767, इ० सं० सं० 857, 952; चक्र की पकड़ (म० सं० सं 56.4200); फल (इ० सं० सं० 952)
४९. विष्णु, ऊँचाडीह (इ० सं० सं० 857)
५०. ,, झूँसी (इ० सं० सं० 952)
५१. आसनस्थ नरसिंह, देवगढ़
५२. कोण्डामोतु का पंचवीरपट्ट, बीच में नरसिंह
५३. एककुण्डली बलराम, मथुरा (म० सं० सं० C. 15)
५४. बलराम की विशेष 'त्रिशिख' पगड़ी, कुषाण (म० सं० सं० 14.406)
५५. गदा तथा 'सिंहमुख' हल धारण करनेवाले बलराम, मथुरा (म० सं० सं० 59.78
५६. विष्णु के मुकुट, मुक्तामाला, पत्रावलि आदि अलंकरण, मथुरा
५७. करण्डक मुकुट, देवगढ़
५८. सिंहमुख से शोभित मुकुट, मथुरा
५९. माला-शोभित मुकुट, मथुरा
६०. करण्डक मुकुट, दूसरा प्रकार, मथुरा
६१. भालाधर सिंह, कुषाणकालीन मुकुट का एक अलंकरण, मथुरा

९८–१०२. कार्त्तिकेय की केश-रचना (म० सं० सं० 58.4722, 32.2332, ल० सं० सं० 57.450, इ०सं० सं०······ल० सं० सं० 0.237)

१०३. स्कन्द--मोर पर आरूढ (ल० सं० सं० 49.45)

१०४. ,, ,, ,, ,, (म० सं० सं० 15.629)

१०५. मोर के गले में घण्टी, भूमरा (इ० सं० सं० 150)

१०६. स्कन्द--मोर को खिलाते हुए (इ० सं० सं० 946)

१०७. ,, ,, ,, ,, (म० संग्रहालय)

विषयानुक्रम*

* विशेष जानकारी के लिए 'शब्दानुक्रमणिका' देखिए ।

संक्षेप-चिह्न

A. M. M.,	–	Archaeological Museum, Mathura
म० सं० सं०	–	मथुरा-संग्रहालय-संख्या
ल० सं० सं०	–	लखनऊ (राज्य)-संग्रहालय-संख्या
इ० सं० सं०	–	इलाहाबाद-संग्रहालय-संख्या
क० सं० सं० या I. M. C.	–	कलकत्ता-संग्रहालय-संख्या (Indian Museum)
L M.	–	Lucknow (State) Museum
p.	–	Page
भा० क० भ० सं०	–	भारत-कला-भवन (वाराणसी)-संख्या
रा० सं० सं०	–	राष्ट्रीय संग्रहालय (नई दिल्ली)-संख्या
S. P.	–	J. E. Van Lohuizen–de–Leeuw, **The Scythian Period**, Leiden, 1949
DAK.	–	Rosenfield J. M. : **The Dynastic Art of the Kushanas**, California, 1967
A. I.	–	Takata Qsamu and Ueno Teruo, **The Art of India**, Vol. I & II, Nihon Keizai Shimbun, Tokyo, 1966
JUPHS.	–	**Journal of the U. P. Historical Society**, Lucknow
GAP.	–	Ingholt Herald : **Gandharan Art in Pakistan**, New York, 1957
HIIA.	–	Coomaraswamy, A. K. : **History of Indian and Indonesian Art** 1927.
MS.	–	Joshi, N. P., **Mathura Sculptures**, Mathura, 1965.
CAMG.	–	Thakore, S. R. : **Catalogue of Sculptures in the Archaeological Museum**, Gwalior, Lashkar.
HI.	–	Banerjee, Jitendra Nath : **The Development of Hindu Iconography**.
V.	–	Shukla, D. N. : **प्रतिमा-विज्ञान, लखनऊ**, 1956.

HDS.	—	Kane, P. V. : **History of Dharma Shastra**, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 5 Volumes.
EHI.	—	T. A. Gopinath Rao : **Elements of Hindu Iconography**, Madras, 1916.
Cat.	—	Agrawala, V. S. : **A Catalogue of Sculptures** in the Archaeological Museum, Mathura, Published in the **JUPHS.**, Vols. XXI–XXV.
ASIAR. या **Archl. S.I.A.R.**	—	Archaeological Survey of India, Annual Reports.
महा० } महाभारत }	—	महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित
BMA.	—	Bulletin of Museums and Archaeology in U. P., Published by the State Museum, Lucknow.

टिप्पणी : अधिकतर पुराण-ग्रन्थों की, मनसुख मोर, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित प्रतियाँ ही काम में लाई गई हैं।

उत्तर-भारत के प्राचीन इतिहास का कालक्रम :

सिन्धु-सभ्यता की कला	...	लगभग	सन् २५००––१५०० ई० पू०
वैदिक सभ्यता	...	,,	सन् २०००—१००० ई० पू०
महाजनपद-युग	...	,,	सन् १२००––६०० ई० पू०
बुद्ध	...	,,	सन् ६२३––५४३ ई० पू०
महावीर	...	,,	सन् ५९९––५२७ ई० पू०
मौर्यकाल	...	,,	सन् ३२५––१८४ ई० पू०
शुंग-काण्वकाल	...	,,	सन् १८४––२७ ई० पू०
कुषाण-काल	...	,,	सन् ००१—२०० ई० स[illegible]
गान्धार-कला का काल	...	,,	सन् ००१—३५० ई० स[illegible]
गुप्तकाल	...	,,	सन् ३१९—६०० ई० स[illegible]
प्रारम्भिक एवं उत्तर मध्यकाल		,,	सन् ६००—१२०० ई० [illegible]

अध्याय १

मूर्त्तिविज्ञान-शास्त्र

मूर्त्तिविज्ञान का क्षेत्र और उपादेयता :

विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से मूर्त्ति या प्रतिमा शब्द की अपेक्षा प्रस्तुत विषय के क्षेत्र का बोध संस्कृत के 'अर्चा', 'बेर' और 'विग्रह' शब्द अधिक स्पष्ट रूप से कराते हैं; क्योंकि इनमें उपासना तथा पूजन का भाव अवश्य निहित रहता है। 'कला कला के लिए' विकसित हो सकती है, और केवल सुन्दर कलाकृति की निर्मिति कलाकार का चरम लक्ष्य बन सकती है। कला के क्षेत्र में मनोहर कलाकृति साध्य बनेगी, भले ही वह कलाकार का कोई सन्देश जनता तक पहुँचाती रहे, परन्तु मूर्त्तिविज्ञान के क्षेत्र में बनी हुई प्रतिमा या अर्चा केवल साधन होगी उपासना का तथा उसके माध्यम से इष्ट देवता से सम्बन्ध स्थापित करने का साधन होगी। कला की पूर्णता के लिए धार्मिक भावना आवश्यक नहीं है, परन्तु 'अर्चा' या प्रतिमा को तभी पूर्ण माना जा सकता है, जब वह विशिष्ट सम्प्रदाय के द्वारा निर्धारित विशिष्ट मानदण्डों के अनुसार ही बनाई गई हो। इस प्रकार, साधारण कलाकार की अपेक्षा अर्चाकार की स्वतन्त्रता पर्याप्त सीमित हो जाती है। अर्चाकार सच्चे अर्थ में केवल आत्मसन्तोष के लिए ही नहीं, अपितु 'बहुजनहिताय' तथा 'बहुजनसुखाय' कार्य करता है।

अर्चाकार के लिए निर्धारित ये नियमावलियाँ कभी तो उसके व्यक्तिगत जीवन को भी बाँध देती हैं। उसे 'अर्चा' के लिए शास्त्रानुमोदित ढंग से माध्यम का चुनाव करना पड़ता है, जिसमें देश, काल और वस्तु तीनों का विचार किया जाता है। इसके साथ-साथ प्रत्यक्ष अर्चा का निर्माण प्रारम्भ करने के पूर्व तथा बाद में उसक पूर्ण होने तक कहीं-कहीं पर उसे स्वयं तपःपूत जीवन व्यतीत करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, तिब्बती परम्परा के अनुसार लामा चित्रकार को 'थंका' चित्र को बनाने के लिए विशेष प्रकार की उपासनाएँ करनी पड़ती हैं, जिससे उसके मानस-चक्षुओं के सामने उपास्य देवता का स्पष्ट रूप झलकता रहे।

इस प्रकार, साधारण कलाकार की अपेक्षा 'अर्चाकार' विषय का चुनाव, अंकन-पद्धति, ताल-मान, मुहूर्त्त-विचार, वर्णविचार, परम्परा, व्यक्तिगत साधना तथा तपस्वी जीवन ... कई बन्धनों से बँधा होता है। इसी सीमित परिधि के अन्दर उसे अपनी कला का ...त्र दिखलाना पड़ता है। अमूर्त्त को मूर्त्त रूप देना होता है, भक्त के हृदय को ...ना होता है तथा सन्तप्त को चिरशान्ति का दृढ साधन प्रदान करना होता है। मथुरा ... सारनाथ की कुषाण और गुप्तकालीन बुद्ध-प्रतिमाएँ, गान्धार तथा नालन्दा की गच

(स्टको) की मूर्त्तियाँ, अहिच्छत्रा से प्राप्त गंगा-यमुना एवं शिव-पार्वती के मृद्विग्रह, अजन्ता का करुणाशील बोधिसत्त्व पद्मपाणि इत्यादि, 'उत्कृष्ट अर्चाकार की कला के कुछ उदाहरण हैं ।

भारतीय विचारधारा के अनुसार उपासना का चरम लक्ष्य निर्गुण से उपासक का एकात्मक सम्बन्ध स्थापित करना है । परन्तु, निर्गुणोपासना तक पहुँचने के लिए सगुणोपासना का मूल आधार है अर्चा । यही कारण है कि जैन, बौद्ध आदि नास्तिक मतों में भी मूर्त्तियों की प्रचुरता हो ही गई । यद्यपि प्रतीकों से मूर्त्तियों तक पहुँचने में कुछ काल अवश्य लगा, पर बाद में तो केवल बुद्ध की ही नहीं, अपितु बोधिसत्त्व, यक्ष तथा देवी-देवताओं की प्रतिमाओं की बाढ़-सी आ गई । यही स्थिति ब्राह्मणों तथा जैनधर्मावलम्बियों की हुई । फलतः, मूर्त्तिविज्ञान भारत के आध्यात्मिक जन-जीवन का अक्षुण्ण अंग बन गया ।

मूर्त्तिविज्ञान का अध्ययन :

भारतीय संस्कृति, इतिहास तथा कला का अध्ययन तबतक पूर्ण नहीं हो सकता, जबतक यहाँ के मूर्त्तिविज्ञान से पूरा परिचय प्राप्त न किया जाय । इसके विपरीत, भारत की प्राचीन भाषाओं एवं इतिहास तथा विविध दार्शनिक धाराओं एवं सम्प्रदायों की पार्श्वभूमि मूर्त्तिविज्ञान के ज्ञान के लिए आवश्यक है । इस प्रकार, इन दोनों विषयों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है ।

भारतीय मूर्त्तिविज्ञान में कई प्रकार के विरोधाभास दिखलाई पड़ते हैं, जो देश, काल तथा सम्प्रदायों से प्रभावित हैं । कुछ उदाहरणों से इसे समझने का प्रयत्न करें । उत्तर भारत की सूर्य-प्रतिमाएँ ईरानी वेश में मिलती हैं तथा पैरों में ऊँचे जूते भी पहने रहती हैं, जबकि पूजनादि में जूतों का उपयोग वैध नहीं माना गया है । उत्तर भारत के प्राचीन साहित्य में भी सूर्य के पैरों का दर्शन एवं पूजन अवैध बतलाया गया है । इसके विपरीत, दक्षिण भारत की सूर्य-प्रतिमाओं में पैरों को ढकने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

दूसरा उदाहरण शिव-मूर्त्तियों का लें । उत्तर भारत के त्रिशूलधारी शिव दक्षिण भारत में 'परशु-मृग-वरांकित' हो जाते हैं । अर्द्धनारीश्वर प्रतिमाओं की ऊर्ध्वलिंग-स्थिति हमें दक्षिण में नहीं दिखलाई पड़ती, इसके विपरीत शिवताण्डव का जितना प्रचार दक्षिण में है, उतना उत्तर में नहीं । सोमा-स्कन्द, मार्कण्डेयानुग्रह आदि प्रकार की शिव-मूर्त्तियाँ उत्तर में क्वचित् ही दिखलाई पड़ती हैं ।

कुछ देवता, जैसे कार्त्तिकेय उत्तर से दक्षिण की ओर जाकर वहीं स्थायी हो गये, मोहिनी-पुत्र 'ऐयप्पन' जैसे कुछ देव वहीं पनपे और वहीं रह गये, उत्तर में कोई उनका नाम भी नहीं जानता ।

देश की भाँति काल ने भी मूर्त्तिविज्ञान को खूब प्रभावित किया है । विष्णु के चार प्रमुख आयुधों में कमल का अस्तित्व गुप्तकाल तक नहीं था, वहाँ थी अभयमुद्रा । उसके बाद कुछ समय के लिए आया फल और फल के बाद कमल । मध्यकाल में कमल ने ऐसी गहरी जड़ पकड़ी कि उसके साथ शंख, चक्र एवं गदा को आधार मानकर केशवादि चौबीस रूपों की कल्पना की गई और विशेषतया बंगाल में 'विष्णु-पट्टों' को लोकप्रियता मिली ।

विष्णु की अवतार-कल्पना भी इसी प्रकार काल से प्रभावित है। आठ से चौबीस तक अवतारों की गिनती करनेवाली विभिन्न सूचियाँ साहित्य में विद्यमान हैं। बाद में जब दस अवतारों की तालिका को अधिक मान्यता मिली, तब भी कुछ मतभेद बने रहे और उसी के अनुसार मूर्त्तियों का अंकन होता रहा। कभी-कभी आठवें अवतार का स्थान कृष्ण को न मिलकर बलराम या संकर्षण को मिलता रहा। बुद्ध के अंकन में और भी विचित्रताएँ दिखलाई पड़ती हैं। बिहार एवं बंगाल की मध्यकालीन कला में हम विष्णु-मूर्त्तियों पर अंकित दशावतार-पट्टिका में बुद्ध को चीवर और संघाटी धारण किये हुए शाक्यमुनि गौतम के रूप में पाते हैं, पर महाराष्ट्र की ओर दशावतारों में नवम अवतार के स्थान पर पाण्डुरंग तथा जगन्नाथ दिखलाई पड़ते हैं।

कालभेद से देवताओं की लोकप्रियता भी घटती-बढ़ती रही है। कभी ब्रह्मा का पूजन प्रचलित था, अब उसे अपूज्य माना जाने लगा। कामदेव के मन्दिरों और उत्सवों के उल्लेख प्राचीन साहित्य में मिलते हैं तथा उसकी मूर्त्तियाँ भी शुंगकला में उपलब्ध थीं, परन्तु बाद में यह सब अधिकतर लुप्त हो जाता है। गुप्तकाल में कार्त्तिकेय तथा वराह की उपासना पर्याप्त लोकप्रिय थी, पर वह शनैः-शनैः लुप्त होती गई और अब उत्तर भारत में तो इन मूर्त्तियों का स्वतन्त्र रूप से बनना लगभग बन्द ही हो गया। इसके विपरीत स्थिति है गणेश की। गुप्तकाल के प्रारम्भ तक इनका अस्तित्व नहीं के बराबर था, किन्तु मध्यकाल तक पहुँचते-पहुँचते इनकी लोकप्रियता यहाँतक बढ़ी कि इनके पूजन के बिना किसी भी शुभ कार्य का प्रारम्भ असम्भव हो गया। फलतः, गुप्तकाल की अपेक्षा मध्यकाल की गणेश-मूर्त्तियों की संख्या कहीं अधिक है।

देश और काल के समान सम्प्रदायों के परस्पर प्रभाव की ओर भी मूर्त्तिविज्ञान के विद्यार्थी को समुचित ध्यान देना होगा। अपने सम्प्रदाय की लोकप्रियता बढ़ाने के लिए तथा उसे सर्वोच्च सिद्ध करने के लिए दूसरे सम्प्रदाय के, विशेष कर विरोधी मत के देवी-देवताओं को अपने में मिलाना या गौण रूप से स्थान देना एक साधारण बात थी। गोमुख यक्ष, अम्बिका, वासुदेव, बलभद्र आदि जैन-शासनदेव और देवताएँ, जो तीर्थंकरों के सेवक के रूप में अंकित रहते हैं; ब्राह्मण-धर्म के देवताओं से मेल खाते हैं। ब्राह्मण-धर्म का गणेश तिब्बत के महायानी देवता 'विघ्नान्तक' द्वारा पदलुण्ठित होता हुआ दिखलाई पड़ता है, तो भारतीय शिव-शक्ति उनके यहाँ 'चक्रसंवर' का रूप धारण कर लेते हैं। यहाँ की रौद्ररूप-धारिणी बीभत्स-कर्मा शक्ति वहाँ 'खचोमा' के रूप में देखी जा सकती है। बौद्ध कथाओं में यक्ष, नाग, शिखी, महाब्रह्मा, शक्र, मार या कामदेव आदि लोक एवं ब्राह्मण-धर्म के देवताओं को बुद्ध का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए ललचाया हुआ दिखलाया जाता है, और मूर्त्तियों में भी उनका वैसे ही अंकन किया गया है। इसके विपरीत ब्राह्मण-धर्म ने बुद्ध और ऋषभदेव को विष्णु के प्रमुख अवतारों में गिनाया है, परन्तु उनका पूजन अवैध बतलाया है।

एक ही धर्म के विविध सम्प्रदायों का भी एक दूसरे पर खूब प्रभाव पड़ा है। चिताभस्म एवं व्याघ्राम्बर धारण करनेवाले वैराग्य-मूर्त्ति शिव को मध्यकाल में वैष्णवों की

देखा-देखी विविध प्रकार के अलंकारों से मण्डित किया गया।[१] शैवों की नकल करने के लिए वैष्णवों ने अपने यहाँ विष्णु की आलिंगन-मूर्त्ति[२] तथा कल्याणसुन्दर[३] मूर्त्तियों को जन्म दिया। विष्णु और शिव के समान कुछ गणेश-भक्तों ने गणेश की भी आलिंगन-मुद्रा में मूर्त्तियाँ बनाईं, तो विष्णुधर्मोत्तरपुराण द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर सपत्नीक इन्द्र तथा सपत्नीक वरुण भी बने। अब भला शैव ही कैसे शान्त रहते ? उन्होंने शिव के वाहन वृष को भी शिवपुराण के आधार पर पत्नी के साथ अंकित कर दिया।

मूर्त्तिविज्ञान में जिस प्रकार एक दूसरे को हीन दिखलाने का प्रयास हुआ, उसी प्रकार परस्पर विरोधी सम्प्रदायों में सामंजस्य स्थापना के भी श्लाघनीय प्रयत्न हुए। शैवों और वैष्णवों में शिव और विष्णु की एकरूपता दिखलाकर मैत्री-भावना का उदय करने के लिए हरि-हर मूर्त्ति का निर्माण हुआ। विष्णु का श्रीवत्स-चिह्न तथा शिव का नीला कण्ठ क्रमशः महाभारत की एक कथा के अनुसार[४] दोनों देवताओं के परस्पर विरोधोत्तर मैत्री के सूचक माने गये हैं, जब मध्यकाल में पहुँचते-पहुँचते ब्राह्मण-धर्म में प्रमुख रूप से शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर और गाणपत्य सम्प्रदायों का उद्भव हुआ, तब सामंजस्य के प्रेमी स्मार्त्तों ने पंचदेवों की उपासना पर बल दिया और इस प्रकार के शिवलिंग बने जिनके चारों ओर सूर्य, विष्णु, ब्रह्मा और शिव अंकित रहते थे।[५] इसी प्रकार, कई सर्वतोभद्र प्रतिमाओं में सूर्य, कार्त्तिकेय, विष्णु, वराह, हरिहर, शिव-पार्वती आदि के एकत्र दर्शन होते हैं।[६]

सामंजस्य स्थापित करनेवाली दूसरी प्रतिमाएँ वे हैं, जो हरि-हर-सूर्य, हरि-हर-सूर्य-पितामह, हरि-हर-सूर्य-बुद्ध,[७] सूर्य-लोकेश्वर,[८] विष्णु-लोकेश्वर[९] आदि नामों से पहचानी जाती हैं।

सम्प्रदायों का विचार करते समय तन्त्र की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। भारतीय संस्कृति में तन्त्र और वाममार्ग का एक उल्लेखनीय स्थान है और उन्होंने यहाँ की दार्शनिक विचारधाराओं को प्रभावित किया है। इन मार्गों की एक विशेषता उनकी गोपनीयता है। पंचमकारों में विश्वास करनेवाले शाक्तों, कौलों और कापालिकों के द्वारा समाज में खुलकर अपनी बातों के प्रसार का प्रयास नहीं किया गया; क्योंकि उनकी कई प्रक्रियाएँ तथा साधनाएँ सदभिरुचि एवं शिष्ट परिपाटी के विरुद्ध रहती है। बहुधा उनकी आराध्य प्रतिमाएँ सर्वसुलभ नहीं रहतीं, केवल 'चक्र' या 'मण्डल' में ही उनका पूजन अथवा दर्शन होता है। स्वभावतया अबतक तन्त्र-साहित्य बहुत थोड़ी मात्रा में प्रकाशित हुआ है। मूर्त्तिकला के क्षेत्र में योन्यधिष्ठित शिवलिंग, उच्छिष्ट गणपति, छिन्नमस्ता, यब्-युम् या 'मातापिता'-स्थिति में बनी हुई 'गुह्यसमाज', 'चक्रसंवर' जैसी तिब्बती प्रतिमाएँ तबतक स्पष्ट रूप में नहीं समझी जा सकतीं, जबतक उनकी निर्मिति की तान्त्रिक पार्श्वभूमि भली भाँति विदित न हों।

अबतक यह दिखलाने का प्रयास किया गया कि भारतीय मूर्त्तिविज्ञान के विद्यार्थियों के लिए भारत के इतिहास, साहित्य, दर्शन तथा समाज के विविध अंगों का ज्ञान किस प्रकार आवश्यक है। परन्तु, उसकी आवश्यकताओं की यहीं परिसमाप्ति नहीं होती। सहस्राब्दियों के अपने लम्बे इतिहास में भारतीय परम्पराओं ने कई विदेशी परम्पराओं को प्रभावित किया और अनेक बार वे स्वयं भी उनसे प्रभावित हुईं। इस परस्पर प्रभाव का

एक दूसरा भी रूप बना। भारत की विचारधाराएँ अपनी सीमा लाँघकर तिब्वत, चीन, कोरिया, जापान, मध्य एशिया, अफगानिस्तान, लंका, थाइलैण्ड तथा इण्डोनेशिया तक चतुर्दिक् फैली थीं। दूसरे देशों में पहुँचकर वे स्थानीय संस्कृतियों से घुलमिल गईं; पर वे विलीन नहीं हुईं, अपितु उन्होंने बहुधा अपना अस्तित्व बनाये रखा। अतः, यहाँ से मिलनेवाली मूर्त्तियों पर स्थानीय प्रभाव के साथ-साथ भारतीयता के भी दर्शन होते हैं। कभी-कभी भारत के कुछ मुनि दूसरे स्थान पर सम्माननीय देवता बन गये हैं; जैसे दक्षिणी वृहत्तर भारत में अगस्ति।[१०] कभी उनके स्वरूप बदल जाते हैं, जैसे हमारे गणेश चीनी, तुर्किस्तान, कोरिया और जापान पहुँचकर हमारी दृष्टि से विचित्र रूप धारण करते हैं,[११] कम्बोडिया के हरिहर मूलतः भारतीय होते हुए भी विदेशी-से लगते हैं,[१२] तथा चम्पा के वीन्ह-डीन्ह एवं कुंग-नाम से पहचाने जानेवाले बुद्ध[१३] और शिव[१४] को ठीक से समझने में विलम्ब लगता है।

इस बात का संकेत किया जा चुका है कि जैसे हम बाहर जाकर वहाँ बस गये, उसी प्रकार बाहर से भी कुछ देवगण यहाँ आये। कुछ ने अपना नाम और रूप बदल दिया; जैसे कुषाणों के समय देवी आरडोक्शो तथा फॅरो गन्धार-कला में हारीति और कुबेर बने,[१५] समकालीन मथुरा-कला में हारीति ने 'मातृका-वर्ग' में स्थान पा लिया तथा पंचिक कुबेर बन गये। 'माओ' नाम धारण कर पुरुष-रूप में चन्द्र प्रविष्ट हुए,[१६] यद्यपि भारतीय ज्यौतिष में उन्हें 'स्त्रीग्रह' माना गया है। इसी काल में 'हेलिओस' नामधारी सूर्य ने भी भारत की सीमा में प्रवेश किया, परन्तु वे यहाँ अपने रूप के साथ अपना 'हेली' नाम भी भारतीय कोषों में सुरक्षित रख सके।[१७] इसी तरह शिव, विष्णु, बुद्ध, मैत्रेय, बोधिसत्त्व आदि की मूँछें, कतिपय देवी-प्रतिमाओं में दिखलाई पड़नेवाला शृंग या कॉर्नुकोपिया (Cornucopia), शिव के खट्वांग और विष्णु की गदा के कुछ रूप जो यूनानी हरक्यूलिस के क्लब से मिलते हैं, मूलतः भारत के बाहर से आये हुए हैं। इनमें से कालान्तर में कुछ ने अपना स्वरूप परिवर्त्तित कर लिया और कुछ एकदम गुप्त हो गये।

मूर्त्तिविज्ञान की उपादेयता :

अभी चर्चा किये गये भारतीय पुराविद्या से सम्बद्ध विविध विषयों की सहायता से यदि भारतीय मूर्त्तिविज्ञान का अध्ययन किया जाय, तो अनेक दृष्टियों से वह बहुत ही उपयोगी सिद्ध होता है। भारतीय इतिहास के सभी युगों में धर्म की प्रधानता रही। मुसलमानों को छोड़कर अति प्राचीन काल से जिन विदेशी शक्तियों के सामने रणांगण में भारत को झुकना पड़ा, उन्हीं को धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में उसने जीत भी लिया। यूनानी, शक, कुषाण एवं हूणों ने एक ओर भारत की भूमि पैरों तले रौंद डाली, पर दूसरी ओर यहाँ के विष्णु, शिव, बुद्ध आदि देवताओं को सिर माथे चढ़ाया। मूर्त्तिविज्ञान इतिहास की इन बीती घटनाओं का प्रत्यक्ष चित्र उपस्थित करता है। विष्णु से वरदान प्राप्त करता हुआ विदेशी शासक,[१८] शिवलिंग का पूजन करते हुए भद्रवर्गीय कुषाण पुरुष[१९] आदि इस तथ्य के कतिपय उदाहरण हैं। भारतीय संस्कृति ने अपनी सीमाएँ लाँघकर बाहर के देशों को किस प्रकार प्रभावित किया था, इसका प्रमाण भी मूर्त्तिविज्ञान ही दे

सकता है। मध्य-एशिया से मिली हुई पोथियों पर विदेशी वेश-भूषा में शिवादि देवताओं के चित्र,[२०] कम्बोडिया के हरिहर[२१] आदि विविध अर्चाएँ इस दृष्टि से विशेष उपयोगी हैं।

विदेशी प्रभाव से मुक्त भारतीय देव-प्रतिमाएँ विभिन्न युगों में प्रचलित वेश-भूषाओं का प्रत्यक्ष दर्शन कराती हैं। साथ-ही-साथ, लोक-मानस के कुछ विचित्र पहलुओं पर भी ये प्रकाश डालती हैं। जैसे अश्लीलता से दूर भागनेवाले ब्राह्मण-समाज ने काल के प्रभाव में आकर संसार के उत्पादन के प्रतीक योनिपीठ पर प्रतिष्ठित शिवलिंग को इस प्रकार मान्यता प्रदान की कि वह शिव-पूजन का एकमात्र प्रतीक बन गया। ईरानी सूर्य की प्रतिमाओं ने भारतीय समाज को इतना प्रभावित किया कि पूजनादि पवित्र कार्यों में जूतों को दूर रखनेवाले सनातनी लोगों ने भी कम-से-कम उत्तर भारत में सूर्य और यत्र-तत्र सूर्य के अनुसार दण्ड, पिंगलादि की ऊँचे जूते पहनी हुई प्रतिमाएँ वैध मान लीं। यही नहीं, अपितु इस प्रकार की मूर्त्तियों को शास्त्रीय रूप देने के लिए ग्रन्थों में यहाँतक बात कह डाली कि सूर्य के पैरों का दर्शन एवं पूजन अवैध है।[२२] इसके कारण का विश्लेषण करने पर यह तथ्य सामने आता है कि विशेष रूप से प्रभावशाली व्यक्तियों के द्वारा प्रतिपादित कुछ बातें जनमानस को इतना अधिक प्रभावित करती हैं कि युगों तक वह उचित कारण-परम्परा को समझते हुए भी उनसे मुक्त नहीं होना चाहता, अपितु शास्त्र-शुद्ध रूप देकर उन्हें और अधिक दृढ बनाना चाहता है। कुषाण-कालीन ईरानी सूर्य का शनैः-शनैः भारतीयीकरण तो हुआ, किन्तु उसके पैरों के अपूज्य होनेवाली बात की आड़ में सूर्य के जूतों को नहीं हटाया गया, हाँ इस बात को अवश्य भुला दिया गया कि वे मूलतः ईरानी सूर्य के जूते हैं।[२३]

लोकधर्म और उसके प्रभाव के अध्ययन का मूर्त्ति-विज्ञान एक बहुत बड़ा साधन है। अविकसित या अर्ध-विकसित सभ्यताएँ जब पूर्ण विकसित संस्कृतियों के संसर्ग में आती हैं, तब वे धीरे-धीरे अपना आकार खो देती हैं, परन्तु कालान्तर तक कुछ रूपों में उनकी छाप अवश्य बनी रहती है। उदाहरणार्थ शबर-सभ्यता को लें। खस, पुलिन्द, भिल्ल, शबर, कोल आदि लोग आदिवासी के नाम से पहचाने जाते हैं। इनमें से शबरों को आज की बोली में 'साबरा' कहते हैं। ओडिसा, मध्यप्रदेश, बिहार और मद्रास के राज्यों में अब निवास करनेवालों साबराओं के कितुंग, उमुंगसुम आदि देवताओं के साथ राम, जगन्नाथ, चन्द्र आदि पौराणिक देवताओं को भी स्थान मिला। परन्तु, लोककथा तथा लोकधर्म के रूप में मूल देवता अवश्य बने रहे।

इसके विपरीत मूर्त्तिविज्ञान हमें यह भी बतलाता है कि नवविकसित ऊँची सभ्यताएँ अपना विस्तार करने के लिए, अर्धविकसित सभ्यताओं की लोक-देवताओं को अपने यहां किस प्रकार समाविष्ट करती हैं। ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैनधर्म का युगों-युगों के में विकसित होनेवाला देव-परिवार ही इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। यक्ष, नाग, राक्षस, भूत, वीर, जो मूलतः लोक-देवता के रूप में विद्यमान थे, तीन धर्मों में अनुचर-देवता के रूप में समाविष्ट हो गये। कार्त्तिकेय के समान 'तस्कर देव' पौराणिक काल में देव-सेनापति बन गये तथा राक्षसराज कुबेर को लोकपालों में स्थान मिला। इस प्रकार,

सभ्यताओं के परस्पर प्रभाव का मूर्त्तिविज्ञान की सहायता से अच्छा अध्ययन किया जा सकता है ।

भारतीय उपासना-पद्धति का एक मूल मन्त्र था—'यथा देहे तथा देवे', अर्थात् जिस प्रकार देह को अनेक उपचार समर्पित किये जाते हैं, उसी प्रकार आराध्य को भी अनेक उपचार—पंचोपचार, षोडशोपचार आदि अर्पित करने चाहिए। इस विचारधारा का फल यह हुआ कि प्रत्येक युग में प्रचलित पद्धतियों के अनुसार देव-प्रतिमाओं को वेश पहनाया गया, आयुध दिये गये तथा अलंकारों से मण्डित किया गया। इस प्रकार, ये देव-मूर्त्तियाँ अपने युग की भौतिक सभ्यता का प्रत्यक्ष दर्शन कराने लगीं और आधुनिक काल में उसके अध्ययन का अपरिहार्य साधन बन गईं। कई प्राचीन वस्तुओं का सत्य स्वरूप इन प्रतिमाओं में होता है। पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में अनेक वस्तुओं के नाम मिलते हैं, परन्तु बहुधा उनका ठीक-ठीक बोध वहाँ नहीं होता। उन विशिष्ट नामों को भली भाँति समझने में मूर्त्तियाँ हमारी बड़ी सहायता करती हैं। उदाहरणार्थ : देव-दुन्दुभि, कीर्त्तिमुख, पादमध्याधरा, गन्धर्व-मिथुन-'सिंह-व्याघ्र', 'विद्याधर-समन्वित तोरण' आदि प्रतिमा-लक्षणों में व्यवहृत शब्दावलि मध्यकालीन विष्णु-मूर्त्तियों की सहायता से ही स्पष्ट रूप से समझी जा सकती है।

कभी-कभी मूर्त्तियाँ लेखांकित एवं तिथियों से युक्त होती हैं। यद्यपि ऐसी प्रतिमाओं की संख्या थोड़ी है, तथापि इनपर दिखलाई पड़नेवाली शैलीगत विविधताओं का यदि ध्यान से अध्ययन किया जाय, तो प्रत्येक काल की शैली का बहुत कुछ शास्त्र-शुद्ध चित्र निखर आता है तथा उस काल का प्रातिनिध्य करनेवाले निश्चित मानदण्ड स्थिर किये जा सकते हैं। तिथ्यंकित मूर्त्तियों की सहायता से इस प्रकार स्थिर किये हुए मानदण्ड अन्य विना लेखोंवाली मूर्त्तियों का काल-निर्णय करने में सहायक होते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में इस प्रकार की कालगत विशेषताओं की चर्चा स्थान-स्थान पर मिलेगी।

मूर्त्तियों की शैली एवं विशेषताओं का अध्ययन एक अन्य दिशा में भी हमारी बहुत बड़ी सहायता करता है। आज कई उपयोगी ग्रन्थों का काल-निर्णय घोर विवाद का विषय बना हुआ है। यथा : पुराणों के निर्माण-काल पर बड़ा भारी शास्त्रार्थ है। इन अंशों को प्रत्यक्ष मूर्त्तियों से मिलाकर उन अंशों का काल स्थिर किया जा सकता है। एक उदाहरण लें। गुप्तकाल के बीच तक की विष्णु-मूर्त्तियों में कहीं भी कमल नहीं दिखलाई पड़ता, विष्णु के तीन हाथों में शंख, चक्र तथा गदा रहती है तथा साधारण दाहिना अभय-मुद्रा में या फल लिये हुए रहता है। स्पष्ट है कि कमल का उल्लेख करनेवाले साहित्यिक अंशों का प्रणयन इस काल के बाद ही हुआ होगा। उसी प्रकार, नासाग्र में पड़ी हुई मुक्ता या बुलाक,[२४] विष्णु के पैरों के नूपुर[२५] आदि वस्तुएँ मध्यकाल के पूर्व, प्रतिमाओं में नहीं आईं, अर्थात् इनका वर्णन करनेवाले पद्मपुराणादि के वे अंश निश्चय ही बहुत प्राचीन नहीं हो सकते, अपितु उनका प्रत्यक्ष दर्शन करानेवाली मूर्त्तियों के लगभग सम-कालीन या बाद के ही हो सकते हैं। इस प्रकार का कालनिर्णय स्पष्टतः केवल विशिष्ट अंशों या अधिक-से-अधिक अध्यायों का ही किया जा सकता है; खण्ड, पर्व या सम्पूर्ण

ग्रन्थ का नहीं। परन्तु, जहाँतक लेखक को ज्ञात है मूर्त्तिविज्ञान से इस प्रकार की सहायता विस्तृत रूप से अबतक नहीं ली गई है।

विभिन्न दृष्टियों से अबतक किये गये विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि मूर्त्तिविज्ञान का क्षेत्र कितना व्यापक है और शास्त्रीय ढंग से किया गया उसका अध्ययन कई गुत्थियों को सुलझाने में कैसे सहायक हो सकता है तथा पुराशास्त्र के अन्धकार में डूबे हुए कुछ कोने किस प्रकार आलोकित हो सकते हैं।

मूर्त्तिपूजन की प्राचीनता :

भारत की प्राचीनतम ज्ञात सभ्यता है सिन्धुघाटी की सभ्यता और सर्वप्राचीन साहित्य है वैदिक साहित्य। सिन्धु-सभ्यता का ज्ञान हमें उन वस्तुओं से होता है, जो उस क्षेत्र से उत्खनन में मिली हैं। तत्कालीन मूर्त्तिविज्ञान पर प्रकाश डालनेवाली निम्नांकित वस्तुएँ उल्लेखनीय हैं :

१. पर्याप्त मात्रा में मिले हुए लिंगाकार पाषाण, जिनका सम्बन्ध लिंगपूजा से बैठाया गया है। चपटे छिद्रयुक्त वर्त्तुलाकार जो पत्थर मिले हैं, उनसे योनिपीठ की कल्पना की जा सकती है।[२६]

२. एक मुहर पर बनी हुई त्रिशिर मानव की आसनस्थ मूर्त्ति, जिसके मस्तक पर सींगदार मुकुट बना है। योगासन--श्रीबनर्जी के मतानुसार कूर्मासन[२७]--में बैठे हुए इस मानव को भैंसा, गेंडा, हाथी, बाघ एवं एक मनुष्य घेरे हुए हैं।[२८] **मार्शल** ने इसे शिव-पशुपति का प्रारम्भिक रूप माना है।

३. एक दूसरी मुहर पर आसनस्थ मानव के अगल-बगल घुटने टेके हुए उपासक दिखलाई पड़ते हैं और मस्तक पर फन फैलाये साँप दिखलाई पड़ता है।[२९]

४. अन्य तीन मुहरों पर जैन तीर्थंकरों के समान कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े विवस्त्र वृक्ष-देवता दिखलाई पड़ते हैं,[३०] प्रत्येक के पास आधा झुका उपासक है, जिसके मस्तक पर फन फैलाये साँप हैं।

५. मिट्टी की असंख्य मुहरें, जिनपर मानव-आकृतियाँ बनी हैं और जिन्हें **मैंके** ने अनुमानतः गृह-देवताओं का रूप कहा है।[३१]

सिन्धु-सभ्यता के विषय में कोई निश्चित विधान करना तबतक सम्भव नहीं है, जबतक हमें उनकी चित्रलिपि का ज्ञान न हो जाय।

भारतीय इतिहास के आरम्भिक युग में किसी प्रकार की मूर्त्तिपूजा की ओर संकेत करनेवाली ताँबे की उन मानवाकार वस्तुओं का उल्लेख भी आवश्यक है, जो निखाद-निधियों (कॉपर हॉर्डस्) के रूप में लखनऊ, गुरुकुल-विश्वविद्यालय, हरिद्वार, पटना, कलकत्ता के भारतीय संग्रहालय आदि स्थानों पर सुरक्षित हैं।[३२] विद्वानों ने इन्हें साम्प्रदायिक प्रतीक या विशिष्ट सम्प्रदायों के उपासना-चिह्न माना है, परन्तु इस विषय में निश्चित मत-प्रदर्शन कठिन है।

अब प्राचीन साहित्य की ओर मुड़ें। प्रथम 'मूर्त्ति' शब्द को लें। इस शब्द में विशेष व्यक्ति या देवता के मूर्त्त रूप के साथ-साथ अनुकृति और सादृश्य की कल्पना भी निहित रहती है। प्रतिकृति, प्रतिमा, बिम्ब आदि शब्द भी इसी बात को सूचित करते हैं। वाल्मीकिरामायण में वर्णित अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर संस्थापित सीता की सुवर्णमयी प्रतिमा[३३] महाभारत में धृतराष्ट्र द्वारा भीम की आयसी प्रतिमा को आलिंगन देने की बात[३४] और शुक्रनीतिसार में मानव-बिम्बों का वर्णन[३५] प्रतिमा के साथ निहित सादृश्य की कल्पना को बल देते हैं। जीवित अथवा मृत व्यक्तियों की प्रतिमाएँ बनाना तथा देवकुलादि विशिष्ट स्थानों में उन्हें स्थापित करने की बात अन्यान्य प्रमाणों द्वारा भी सिद्ध की जा सकती है, परन्तु उससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि ये मूर्त्तियाँ देव-विग्रहों के समान सभी लोगों के द्वारा पूजी तथा समादृत की जाती थीं। इस प्रकार के व्यवहृत प्रतिमा, प्रतिकृति, बिम्ब, मूर्त्ति इन शब्दों का भाव स्मृति-चिह्न भर होगा, जो हमारे प्रस्तुत विषय से सम्बद्ध नहीं है।

आजकल उपर्युक्त शब्दों के ही पर्याय-रूप में अर्चा, बेर आदि शब्दों का प्रयोग होता है, परन्तु वस्तुतः उनकी शक्ति में भेद है। विशेषतया अर्चा शब्द में नित्यो-पासना का भाव प्रस्फुटित होता है। इसलिए, प्राचीन साहित्य का विचार करते समय यह देखना होगा कि नित्य पूजन के लिए प्रयोग में लाई जानेवाली प्रतिमाओं के उल्लेख हमें कबसे मिलने लगते हैं, केवल प्रतिमा या मूर्त्ति शब्द के मिल जाने से हमारा काम नहीं चलेगा।

भारत का प्राचीनतर साहित्य वैदिक साहित्य है, जिसके अन्तर्गत ऋग्वेदादि वैदिक संहिताएँ, आरण्यक, ब्राह्मण और उपनिषद्-ग्रन्थों का समावेश होता है। यह सारा साहित्य एक ही समय की सृष्टि नहीं है। परन्तु, उसमें प्राचीनतम होने का सम्मान ऋग्वेदसंहिता को मिलता है।

वैदिक युग में मूर्त्तिपूजा के अस्तित्व के विषय में एक मत नहीं है।[३६] **मैक्स-मूलर, एच्० एच्० विलसन, मैकडोनेल** आदि पाश्चिमात्य तथा **जितेन्द्रनाथ बनर्जी, डॉ० काणे** आदि के समान कई भारतीय विद्वान् यह मानते हैं कि ऋग्वेद में मूर्त्तिपूजा के उल्लेख नहीं हैं। **बोलेनसन, वेंकटेश्वर** आदि लोगों का मत इसके विपरीत है।

मूर्त्तिपूजा का संस्थापन करनेवाली विचारधारा के मुख्य आधार अधोलिखित हैं :

१. इन्द्र को बेचने और मोल लेने का उल्लेख यथा : "दस गाँवों से कौन मेरे इन्द्र को मोल लेगा और वृत्रों को वध के बाद पुनः लौटावेगा ?"[३७] दूसरा उल्लेख[३८] है, जहाँ इन्द्र को सौ हजार या दस हजार पर भी न बेचने की बात कही गई है। इससे इन्द्र-प्रतिमा को बेचने और खरीदने का संकेत मिलता है।
२. रुद्र की रंगीन मूर्त्ति का वर्णन।[३९]
३. सुनहला कोट पहने वरुण का वर्णन।[३९क]
४. इन्द्र और अग्नि को अलंकृत करने की बात।[४०]

५. इन्द्र को सुशिप्र (सुन्दर गाल एवं जबड़ोंवाला), रुद्र को कपर्दिन् (जटा-जूटवाला) तथा वायु को दर्शत् या सुन्दर कहना।[४१]

६. देव के सात हाथ, चार सींग, तीन पैर आदि का वर्णन।[४२] वेंकटेश्वर के मतानुसार यह अग्नि का वर्णन है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की मूर्त्तियाँ मध्यकाल या उसके बाद की मिलती हैं, और उन्हें अग्नि के नाम से पहचाना गया है।[४३]

७. इन्द्र को तुविग्रीव, वपोदर, सुबाहू (ऋ०८।१७।८), हरिकेश, हरिश्मश्रु (१०।१०५।७) आदि नामों द्वारा पुकारना।

८. वाजसनेयी संहिता (१६।७) में रुद्र को नीले गले तथा लाल मुख एवं चमड़े (कृत्ति) को धारण करनेवाला (१६।५१) कहा गया है।

९. तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।६।१७ : 'तिस्रो देवीः हिरण्मयीः भारतीर्बृहति महीः') में भारती, इडा और सरस्वती की सुवर्ण-प्रतिमाओं का उल्लेख मिलता है।

जैसा कि हम कह चुके हैं, सभी विद्वान् इन आधारों को मूर्त्तिपूजा के सबल प्रमाण नहीं मानते,[४४] साथ ही यह भी माना जाता है कि वैदिक संहिताओं में मुख्यतया जिस सभ्यता की झाँकी मिलती है, वह भारत के उस समय के जनसाधारण की सर्वमान्य संस्कृति न होकर मुख्यतया उच्चवर्गीय आर्यों की संस्कृति थी। इसमें मूर्त्तिपूजा का प्रचलन नहीं था। इनके अतिरिक्त एक वर्ग आर्येतर लोगों का था, जिन्हें कभी-कभी भारत के मूलनिवासी भी कहा जाता है। इस आर्येतर वर्ग को ऋग्वेद में शिश्नदेव,[४५] राक्षस, यात्व, अनृतदेव, मूरदेव[४६] आदि नामों से पुकारा गया है। 'शिश्न एव देवः येषां ते शिश्नदेवाः' इस प्रकार की व्युत्पत्ति लगाकर कुछ विद्वान् यह बतलाने का प्रयास करते हैं कि ये लोग लिंगपूजक थे,[४७] यद्यपि सायण इस प्रकार अर्थ करता है : 'शिश्नेन दिव्यन्ति क्रीडन्तीति शिश्नदेवाः, अब्रह्मचर्याः इत्यर्थः।' ऋग्वेद के एक दूसरे स्थान (१०।२७।१९) पर, जहाँ शिश्न शब्द का प्रयोग है, सायण भी राक्षसों से ही सम्बन्ध बैठाता है। लिंगपूजावाली बात सिन्धु-सभ्यता से इस सम्बन्ध में मिले प्रमाणों से भी मेल खाती है।

दूसरा शब्द है मूरदेव। इनका नाश करने के लिए इन्द्र से प्रार्थना की गई है, तथा अन्य स्थानों पर राक्षसों (यातुधानों) का विनाश करनेवाले अग्नि से यही बात कही गई है।[४८] मूरदेव पद का अर्थ 'मारणक्रीडाः राक्षसाः' तथा 'मूढदेवाः' ऐसा किया गया है। आधुनिक विद्वानों में **विलसन** ने 'व्यर्थ देवताओं में विश्वास करनेवाले' तथा **अविनाशचन्द्र दास** ने 'अचेतन वस्तुओं, जैसे पत्थर या वृक्ष के तनों का पूजन करनेवाले' अर्थ किया है। **दास** का तात्पर्य एक प्रकार की मूर्त्तिपूजा से है।

उपर्युक्त विवेचन का संक्षिप्त रूप यह है कि वैदिक काल के प्रारम्भिक युग में उच्च विचारवाले आर्यवर्गों में मूर्त्तिपूजा का प्रचार नहीं था, परन्तु उसमें विश्वास रखनेवाले कुछ लोग—कदाचित् आर्येतर मूलनिवासी—उस समय भी विद्यमान थे। परन्तु, यह स्थिति लम्बी अवधि तक नहीं रही। वैदिक साहित्य के पिछले भाग में, अर्थात् ब्राह्मणों तथा आरण्यकों के 'खिल' अंशों एवं गृह्यसूत्रों में हमें देव-प्रतिमाओं एवं मन्दिरों

के स्पष्ट उल्लेख मिलने लगते हैं। 'पंचविंश' या 'ताण्ड्यब्राह्मण' के पिछले अंश 'षड्विंश-ब्राह्मण' में 'अद्भुतब्राह्मण' के नाम से दिव्य एवं शकुनापशकुनों का एक प्रकरण है। इसमें देव-मूर्त्तियों के नाचने, रोने, हँसने, थूकने आदि क्रियाओं को घोर अपशकुनों के अन्तर्गत गिनाया गया है।[४९] गृह्यसूत्रों में इससे भी स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। 'पारस्करगृह्यसूत्र'[५०] हमें बतलाता है कि रथ में बैठा हुआ स्नातक यदि देव-प्रतिमा की ओर जा रहा हो, तो वहाँ पहुँचने के पूर्व ही उसे रथ से उतर जाना चाहिए, उसी प्रकार यदि वह ब्राह्मण, गौएँ तथा पितरों की ओर जा रहा हो, तो क्रमशः पहुँचने के ठीक पहले, पहुँचकर उनके बीच में या पहुँचते ही उसे रथ का त्याग करना चाहिए।

इस प्रकार, यह स्पष्ट हो जाता है कि 'पारस्करगृह्यसूत्र' के समय तक देव-प्रतिमाओं को ब्राह्मण, गाय और पितरों की अपेक्षा श्रेष्ठ स्थान मिल चुका था। 'आपस्तम्बगृह्यसूत्र' (७।२०) में भी ईशान, मीढुषी तथा जयन्त की मूर्त्तियों के उल्लेख मिलते हैं।[५०क]

मूर्त्तिपूजा का उद्भव :

मूर्त्तिपूजा के उद्भव के विषय में मुख्यतया तीन मत प्रचलित हैं :[५१]

१. मूर्त्तिपूजा उन द्रविड एवं शूद्र जातियों की देन है, जो ब्राह्मण-समाज में घुल-मिल गईं। इस मत के पुरस्कर्त्ता **डॉ० फरकुहर और डॉ० कारपेण्टियर** हैं।

२. ब्राह्मण-धर्म की मूर्त्तिपूजा बौद्धों का अनुकरण है।

३. मूर्त्तिपूजन-पद्धति स्वाभाविक और स्वयं उद्भूत उपासना-शैली है।

इनमें प्रथम दो मतों को अब अस्वीकार किया जा चुका है।[५२] **काणे** महोदय का मत है कि उपनिषदों के तत्त्वज्ञान के कारण तथा अहिंसा के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के कारण जब धीरे-धीरे वैदिक यज्ञों की लोकप्रियता घटने लगी, तभी प्रतिमा-पूजन का उद्भव हुआ। मूलतः, इसका विस्तार तथा कार्य-पद्धति साधारण थी, पर मध्यकाल तक पहुँचते-पहुँचते मूर्त्तिपूजा का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हुआ।[५३]

प्रतिमा-पूजन सगुणोपासना का मूल आधार है। यद्यपि सगुणोपासना की पूर्णता निर्गुणोपासना में ही है और शनैः-शनैः मूर्त्ति आदि भौतिक प्रतीकों के त्याग की बात कही गई है, तथापि सुलभता की दृष्टि से जन-साधारण में सगुणोपासना का ही प्रचार हुआ, यहाँतक कि कुछ विचारधाराओं के अनुसार ब्रह्म या मूल तत्त्व के साथ जीव के एकत्व की प्राप्ति मूल लक्ष्य नहीं, अपितु उपास्य की निष्काम सेवा में निरन्तर प्रीति ही मुख्य लक्ष्य बन गया। सगुणोपासना के प्रचार का मूल आधार था वह विश्वास, जिसके अनुसार उपासक अपने उपास्य के पूजन, अर्चन, विविध उपचारों के समर्पण, जप, ध्यान, स्मरण आदि के द्वारा उसकी प्रीति एवं सान्निध्य को प्राप्त कर लेता है, तथा उपास्य की 'कृपा' से अपने को सब प्रकार की आपत्तियों, बाधाओं तथा पापों से सुरक्षित समझने लगता है। उपास्य या भगवान् अपने उपासक की देखभाल केवल इस जीवन में नहीं, अपितु मृत्यु के बाद भी करते हैं; परन्तु उपासक के लिए आवश्यक है कि वह सब कुछ छोड़कर केवल अपने उपास्य या इष्ट देवता का ही आश्रय ले, अपने को उसके ऊपर छोड़ दे तथा

स्वमत के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित पद्धतियों से उपासना या साधना करते हुए जीवन बिताये। दूसरे शब्दों में इस विचारधारा का ही नाम है 'भक्ति'।

भक्ति का मूल वैदिक साहित्य से ही मिलने लगता है। ऋग्वेद में एकेश्वरवाद, का विषय[५४], सज्जनों की चिन्ता करनेवाले तथा मानवों के कामों पर निगरानी रखनेवाले वरुण से अपराधों की क्षमा-प्रार्थना करना[५५], दैवी वाक् का यज्ञ करनेवालों को धन, शक्ति प्रभृति देने की बात कहना[५६] आदि अपरोक्ष रूप से भक्तिवाद के पोषक तत्त्व हैं। उपनिषदों में निर्गुणोपासना पर बल दिया गया, पर उससे भक्तिवाद के बीज नष्ट नहीं हुए। एक स्थान[५७] पर यह कहा गया है कि ईश की महिमा जानने के लिए धाता का 'प्रसाद' आवश्यक है।

'भक्ति' शब्द का प्रथम प्रयोग हमें श्वेताश्वतरोपनिषद् के अन्तिम भाग में मिलता है।[५८] इसके बाद के साहित्य में भक्ति शब्द का खुलकर प्रयोग हुआ है। यह भी उल्लेखनीय है कि उपनिषदों में ब्रह्म या आत्मा की एकरूपता वरुण, इन्द्र, अग्नि आदि प्रमुख वैदिक देवताओं से नहीं की गई, अपितु उसे बहुधा ईश, ईशान, ईश्वर, परमेश्वर, एकदेव, महान् देव, महेश्वर, मायी तथा शिव कहा गया है। वस्तुतः, भक्ति-सम्प्रदाय इन्द्रादि वैदिक देवताओं से कभी सम्बद्ध नहीं हुआ, अपितु पौराणिक काल तक पहुँचते-पहुंचते इन्हें केवल 'लोकपतियों' के स्थान पाकर तृप्ति करनी पड़ी। विष्णु, इन्द्र, सूर्य आदि कम महत्त्व के कुछ वैदिक देवता भक्ति के क्षेत्र में अपने अलग सम्प्रदाय बनाने में समर्थ हुए, जो बाद में एकेश्वरवाद में समाविष्ट हो गये। कुछ विद्वानों[५९] का यह भी मत है कि भक्ति के क्षेत्र में पनपे हुए सम्प्रदायों के आदिदेव मूलतः विशिष्ट प्रतिभावाले मानव ही रहे, जिनकी बाद में ईश्वर से समानता और सरूपता स्थापित हो गई। उदाहरणार्थ : छान्दोग्य उपनिषद्[६०] के देवकी-पुत्र कृष्ण, पांचरात्रों एवं वैष्णवों के वासुदेव बने। शाक्यमुनि गौतम, महावीर तथा पौराणिक यक्ष पूर्णभद्र, मणिभद्र आदि ऐसे ही उदाहरण हैं। इस प्रकार, भक्तिवाद की संस्थापना के साथ प्रतिमा तथा प्रतिमा-पूजन की भी संस्थापना हुई तथा विभिन्न सम्प्रदायों के देवता-संघ के विकास के साथ-साथ प्रतिमाओं के ध्यान एवं प्रकार भी बढ़ते गये।

महाविलयन-पद्धति एवं देवता-संघ का विकास :

भारतीय विचारधारा की एक विशेषता यह है कि वह किसी नवीन सिद्धान्त की संस्थापना करते समय पुरानी बात को काट-पीटकर भूलुण्ठित नहीं करती, अपितु उसे आत्मसात् करते हुए नवीन की प्रतिष्ठा करती है। यही बात हम देवता-संघ के विषय में भी पाते हैं। जैसे-जैसे समय बीतता गया तथा नवीन विचारधाराओं का उदय होने लगा, उसी के साथ भारत के देवता-संघ में भी वृद्धि होती गई। इस प्रक्रिया के निम्नांकित सोपान थे :

१. प्राचीन का नवीन में विलयन।
२. बाह्य विचारधाराओं का सम्पर्क।
३. शनैः-शनैः प्राचीन तत्त्वों का लुप्त होकर नवीन बातों की स्थापना।

इस सम्बन्ध म यह कहना ग्रावश्यक है कि भारत में प्राचीन का विलयन तथा नवीन का उद्भव तलवार एवं पाशविक शक्ति के बल पर नहीं, ग्रपितु परम्पराग्रों के ग्राधार पर धीरे-धीरे हुग्रा। ये परम्पराएँ, शास्त्रार्थ, विचार-स्वातन्त्र्य, रूढि एवं मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाग्रों के कारण बनती चली गई। इस दीर्घकालीन पद्धति का फल यह हुग्रा कि एक समय के शत्रु परस्पर मित्र हो गये। यज्ञ-प्रक्रिया को विनष्ट करनेवाले बुद्ध, विष्णु के एक ग्रवतार बने, नैऋत एवं कुबेर के समान राक्षस देवताग्रों के लोकपाल बने तथा ऋषभ के समान नास्तिक मतवादी को चौबीस ग्रवतारों में एक स्थान मिला।

प्राचीन ग्रौर नवीन के इस 'महाविलयन' की झलकें हमें पौराणिक साहित्य में देखने को मिलती हैं। कुछ उदाहरण लें। लिंगपुराण[६१] में कथा ग्राती है कि प्रजापति ने रुद्र को सृष्टि करने का ग्रादेश दिया। रुद्र ने ग्रपनी पत्नी सती की सहायता से ग्रपने समान लोगों का सर्जन प्रारम्भ किया; किन्तु प्रजापति को यह 'रौद्री सृष्टि' पसन्द नहीं ग्राई। ग्रतः, उसने रुद्र से कहा कि वह कार्य को बन्द करे। रुद्र ने एक शर्त्त पर प्रजापति की बात मान ली। शर्त्त यह थी कि उसके द्वारा सृजित लोगों को 'रुद्रों' के नाम से पहचाना जाय तथा उस समय तक के ग्रौर भविष्य में होनेवाले सभी 'देवताग्रों' के समकक्ष उन्हें स्थान दिया जाय, साथ ही पूजन एवं यज्ञीय भागों की प्राप्ति में भी उनका समान ग्रधिकार रहे। स्पष्ट है कि यह कथा उस घटना की ग्रोर संकेत करती है, जब किसी कारण से रुद्र एवं उनके ग्रनुचरों को 'देव-वर्ग' में स्थान मिला तथा इस कार्य को करने-वाले नेता थे प्रजापति।

इसी प्रकार, मत्स्यपुराण[६२] की एक कथा दिति के पुत्रों का देव-संघ में स्थान पाने की बात बतलाती है। मर्हाष कश्यप की पत्नी दिति के पुत्र दैत्य कहलाते थे। उनका इन्द्र ने पराभव किया। ग्रतः, दिति ने ऐसा पुत्र पाने के लिए तपस्या की, जो इन्द्र को नष्ट कर सके। उसे इच्छित वरदान मिला ग्रौर वह गर्भवती हुई। इन्द्र ग्रपनी सुरक्षा के लिए सावधान था। उसने दिति के तपःपुनीत ग्राचरण में एक दोष पाया ग्रौर वह उसके गर्भ में प्रविष्ट हो गया। वहाँ जाकर उसने गर्भ क ४६ टुकड़े किये, पर गर्भ का नाश न हो सका। ग्रन्ततोगत्वा दिति के इन ४६ पुत्रों को मरुद्गणों के नाम से मान्यता दी गई ग्रौर उन्हें देवता-संघ में स्थान मिला। यह कथा किसी ग्रति प्राचीन घटना की ग्रोर संकेत करती है; क्योंकि मरुद्गण—जो वस्तुतः दिति-पुत्र होने के कारण दैत्य थे—वैदिक काल में ही देवता-संघ में समाविष्ट हो चुके थे।

इसी प्रकार, महाभारत[६३] से हमें पता चलता है कि धन के देवता कुबेर मूलतः राक्षस थे, इन्हें इस नाम से सम्बोधित भी किया गया है। ये समय के प्रभाव से केवल धनाधिप ही नहीं, ग्रपितु लोकपाल ग्रौर शंकर के परमसखा भी कहलाये। इसी प्रकार, नैऋत्य दिशा के ग्रधिपति राक्षसराज नैऋत की ग्रोर हम पहले संकेत कर चुके हैं। यक्षों को भी ऐसे ही देवता-संघ में स्थान मिला था।

'महाविलयन' का यह क्रम ऐतिहासिक युगों में भी बराबर चलता रहा। इसका स्पष्ट संकेत हमें ग्रशोक के शिलालेखों में मिलता है, जहाँ वह यह बतलाता है कि

जम्बूद्वीप के अमिश्र देवताओं को उसने 'मिश्रीभूत' किया।[६४] इसका तात्पर्य यह है कि इधर-उधर बिखरे हुए लोक-देवताओं को एक विशाल देवता-संघ में समाविष्ट कर लिया गया। छठीं शताब्दि तक इनकी प्रतिष्ठा सर्वमान्य हो गई थी, तभी गुप्तकाल के कोशकार अमरसिंह ने विद्याधर, यक्ष, पिशाच, गुह्यक आदि को 'देवयोनि' के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया था।[६५]

संक्षेप में, इस 'महाविलयन'-परम्परा को बल देनेवाली निम्नांकित बातें थीं :

१. वैदिक एवं पौराणिक देवताओं का एकीकरण तथा शनैः-शनैः पौराणिक देवताओं का प्राधान्य।

२. विश्व की सभी प्राचीन सभ्यताओं में प्रसृत 'मातृपूजा' या 'शक्ति-सम्प्रदाय' का प्रभाव।

३. वृक्ष, नाग, शिवलिंग आदि अवैदिक पूजा-प्रतीकों का समावेश और उच्च-वर्गीयों द्वारा उन्हें मान्यता-प्राप्ति।

४. जन्म, मृत्यु तथा रोगों से सम्बद्ध विभिन्न लोक-देवताओं की मान्यता, यथा : महामारी, बड़ी माता, छठी आदि। इस वर्ग में शिशुओं को संरक्षण प्रदान करनेवाली मातृकाएँ, धन और संरक्षण देनेवाले तथा पूजा न करने पर कष्ट प्रदान करनेवाले यक्ष, भूत, प्रेत, पिशाच आदि की गणना होती है।

५. लोक-देवताओं की परवर्त्ती सूची में ब्रह्म, वीर, जिन्न, पीर आदि का समावेश होना, जिन्हें अबतक मान्यता मिलती चली आ रही है।

६. विदेशी शासन-काल में, विशेषतया कुषाणों के समय से बाहरी देवताओं का प्रवेश तथा उनका भारतीयीकरण; यथा फॅरो का पंचिक या कुबेर बनना, आरडोक्शो का लक्ष्मी बनना, नना का सिंहवाहिनी में परिवर्त्तन, मागी लोगों द्वारा सूर्य की मूर्त्तिपूजा का प्रचलन आदि।

मूर्त्तिपूजा के प्राचीन उल्लेख :

पिछले एक अनुच्छेद में हम मूर्त्ति-पूजन की स्थिति का सूत्रकाल तक विचार कर चुके हैं। हमने अभी यह भी देखा कि हिन्दू-देवता-संघ का किस प्रकार द्रुत गति से विकास हो रहा था। अतः, यह स्वाभाविक है कि उत्तर सूत्रकाल से प्रतिमा-पूजन के उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलने लगें। विषय को आगे बढ़ाने के लिए इनमें से महत्त्वपूर्ण उल्लेखों का संक्षिप्त निर्देश आवश्यक है।

१. पाणिनि के उल्लेख :

पाणिनि का समय बिम्बिसार और कौटिल्य के बीच में, अर्थात् मोटे रूप से ईसवी पूर्व पाँचवीं शती के मध्य भाग में माना गया है।[६६] पाणिनि के समय की देवताओं की स्थिति को इस प्रकार समझा जा सकता है।[६७]

(क) वैदिक काल में अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देवताओं के साथ जुड़वाँ देवता, यथा द्यावा-पृथिवी, सोम-रुद्र भी अस्तित्व में थे। सूत्रकाल से ही

लोक-देवताओं के नये जोड़े; यथा ब्रह्म-प्रजापती, शिव-वैश्रवण, संकर्षण-वासुदेव, स्कन्द-विशाख आदि अस्तित्व में आ गये थे। इनके अतिरिक्त मास, अर्धमास, संवत्सर, ऋतु, नक्षत्र आदि को भी देवताओं का पद प्राप्त हो गया था।

(ख) अवतक भक्ति-धर्म का उदय हो चुका था, जिसके फलस्वरूप लोक-धर्म के सैकड़ों छोटे-मोटे देवताओं की प्रतिष्ठा बढ़ गई।

(ग) इसी के साथ देवता के लिए देव-प्रतिमा को गन्ध, फूल, नैवेद्य आदि अनेक उपचार-समर्पण की पद्धति भी अस्तित्व में आ गई थी और भक्ति-धर्म का आवश्यक अंग बन गई थी।

(घ) पुरुष-विशेष देवताओं के रूप में पूजित होने लगे। जैसे : बुद्ध, महावीर, वासुदेव, कृष्ण, अर्जुन आदि। वायुपुराण में इन्हें 'प्राकृतिक देव' कहा गया है।[६८] इन देवताओं के अपने सम्प्रदाय भी पनपने लगे थे, जो 'वासुदेवक' आदि नामों से जाने जाते थे।

(ङ) पाणिनि ने मूर्त्तियों को, जिनमें देव-मूर्त्तियाँ भी सम्मिलित हैं, 'प्रतिकृति' कहा है। इसी अर्थ में 'अर्चा' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। पाणिनि के एक सूत्र (५।३।९९) से यह बात भी प्रकट होती है कि कुछ देव-मूर्त्तियाँ जीविका के लिए तो बनती थीं, पर बिक्री के लिए नहीं होती थीं। दूसरी मूर्त्तियाँ वे थीं, जो कदाचित् पूजार्थ नहीं थीं, पर विक्रेय अवश्य थीं।

२. मौर्यकालीन उल्लेख :

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है[६९] कि देवताध्यक्ष को चाहिए कि वह देव-मूर्त्तियों के द्वारा सुवर्ण-संचय करें तथा कोश की वृद्धि करें। पाणिनि के सूत्र (५।३।९९) पर टीका लिखते समय पतंजलि उपर्युक्त मौर्यकालीन पद्धति का उल्लेख करते हैं।[७०]

अर्थशास्त्र में दुर्गसन्निवेश के अन्तर्गत शिव, वैश्रवण, आश्विन तथा देवी मदिरा के गृह (मन्दिर ?)-निर्माण की बात कही गई है।[७१]

एक दूसरे स्थान पर कौटिल्य ने निशान्त-प्रणिधि-प्रकरण में राजा के लिए भूमि के अन्दर या ऊपर बने निवास-स्थान के द्वार पर उत्कीर्ण देवताओं का उल्लेख किया है। इसी प्रकार, अपसर्प-प्रणिधि में देवध्वज तथा देव-प्रतिमाओं के बहाने गुप्तचरों द्वारा शस्त्रों के पहुँचाने की बात कही गई है।[७२]

यूनानी लेखक **क्वीण्टस कर्टियस** ने लिखा है कि सिकन्दर के साथ युद्ध करते समय पुरु की सेना के आगे हरक्यूलिस की प्रतिमा चलती थी।[७३] विद्वानों ने हरक्यूलिस की समानता शिव[७४] अथवा यक्ष एवं कृष्ण[७५] से की है।

अबतक हमने उस काल के उल्लेखों का विचार किया, जिसके समय की प्रत्यक्ष देव-मूर्त्तियाँ आज हमें उपलब्ध नहीं हैं। ई० पू० दूसरी शताब्दि से हमें प्रत्यक्ष मूर्त्तियों के दर्शन होने लगते हैं और साहित्य एवं शिलालेखों में भी ऐसे उल्लेखों की कमी नहीं है।

इस काल की तथा इसके बाद की देव-प्रतिमाएँ स्वतन्त्र रूप से तो मिलती हैं, पर साथ ही विभिन्न स्थानों से मिली हुई मिट्टी की मुहरों तथा ताँबे, चाँदी एवं सोने की मुद्राओं पर हमें उनके दर्शन होते हैं। ये सभी साधन एक दूसरे के पूरक हैं, जिनका हम आगे यथास्थान उपयोग करेंगे।

मूर्त्ति-निर्माण :

इस प्रक्रिया में मूर्त्ति का माध्यम सर्वप्रथम विचारणीय है। यह तो स्पष्ट ही है कि भारतीय विचारकों ने माध्यम को कभी आराध्य नहीं माना। आराध्य की प्राप्ति साध्य थी, माध्यम उसका साधन। सगुणोपासना का सबसे ऊँचा स्तर था अन्तश्चक्षुओं द्वारा मानसिक रूप से इष्ट का दशन, पूजन आदि। इसे 'मानसपूजा' कहते थे। इससे निकृष्ट कोटि का सोपान था बाह्य जगत् में इष्ट की स्थापना करना; यथा पंच महाभूतों में इष्ट को देखना, इसके बाद किसी प्रतिमा में ही देवत्व की कल्पना करना। प्रतिमा-पूजन में भी अनेक प्रकार के तरतम भाव की कल्पना की गई है।[७६] संक्षेप में :

प्रथम स्थिति—हृदय में ही ध्यान करना (आत्मस्थिति)।

द्वितीय स्थिति—जल, सूर्यमण्डल, अग्नि, स्थण्डिल या वेदिका में इष्ट की कल्पना।

तृतीय स्थिति—बाह्य द्रव्य की प्रतिमा में इष्ट की स्थापना; यथा रत्न, सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, पत्थर, काष्ठ, मिट्टी तथा बालू की एवं लिखी और पुती हुई (कागज आदि पर लिखित तथा दीवारों पर अंकित—संख्या एवं लिप्या) मूर्त्तियाँ। इनमें भी कुछ प्राचीन विद्वानों के मतानुसार रत्नप्रतिमा को सर्वोत्तम तथा मिट्टी की मूर्त्ति को अधमाधम माना गया है।[७७]

इन सबके अतिरिक्त नर्मदा नदी से मिलनेवाले बाणलिंग, गणेश के प्रतीक लाल पत्थर तथा गण्डकी की शालिग्राम-शिलाएँ भी पूजनार्थ व्यवहृत होती हैं।

उपर्युक्त सभी प्रकार की मूर्त्तियों में शिला और धातु की मूर्त्तियाँ सबसे अधिक टिकाऊ होती थीं। प्रतिमा-निर्माणार्थ शिलाओं के चुनाव तथा मुहूर्त्त आदि के सम्बन्ध में स्थान-स्थान पर बड़ा विचार किया गया है। इसी सन्दर्भ में मूर्त्ति का आकार भी विचारणीय है। मत्स्यपुराण[७८] के अनुसार घर में पूजन के लिए प्रयुक्त प्रतिमा अधिकाधिक बारह अंगुल ऊँचाई की हो, मन्दिरों में पधराई जानेवाली मूर्त्ति के लिए दूसरा नियम है। मन्दिर के दरवाजे की ऊँचाई को आठ भागों में बाँटा जाता था। उनमें से सात भागों तक की ऊँचाई को तीन भागों में विभाजित कर मूर्त्ति की चरणचौकी की ऊँचाई १।३ तथा मूर्त्ति की ऊँचाई २।३ स्थिर की जाती थी। मूर्त्ति का आकार 'ताल-मान' कहलाता था।

ताल-मान को आँकने में जो इकाइयाँ प्रयुक्त होती थीं, उनका विवरण अन्य ग्रन्थों के समान कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मिलता है (२।२०।२–६)। संक्षेप में, यह क्रम निम्नांकित है :

८ परमाणु = १ रथरेणु

८ रथरेणु = १ लिक्षा
८ लिक्षा = १ यूकामध्य
८ यूकामध्य = १ यवमध्य
८ यवमध्य = १ अँगुल

साधारणतया मध्य कद के पुरुष की मध्य अँगुली के बीच भाग की मोटाई एक अंगुल का मान है।[७१] फिर भी, अंगुल के ठीक मान के विषय में मतभेद विद्यमान है। बड़ी मूर्त्तियों की ऊँचाई ताल में आँकी जाती थी। एक ताल बारह अंगुल का मानते थे। उसी आधार पर एक से सोलह ताल या इससे भी अधिक ताल तक ऊँची देव-मूर्त्तियाँ बनती थीं और मन्दिरों में पधराई जाती थीं।

सन्दर्भ-संकेत :

१. प्रयाग सं०, सं० ३६२, जसों से प्राप्त उमामहेश्वर, २६१—हरगौरी, खजुराहो।
२. कालेकर ना० द०, काशी की प्राचीन देव-मूर्त्तियाँ—विष्णु, **'आज'**, वाराणसी, २४ अगस्त, १९५८, रे० चि० ५।
३. प्रयाग सं०, सं० ६५२, माणिकपुर से प्राप्त, यहीं से शिव की कल्याणसुन्दर मूर्त्ति (प्रयाग सं०, सं० २६४) भी प्राप्त हुई है।
४. **महाभारत**, शान्ति०, ३४२.१३४, पृ० ४३७७।
५. **CAMG.**, p. 14, No. 1; p. 19, no. 22; Indian Museum, Calcutta, no. A. 25168।
६. Allahabad Museum, no. 292.
७. **DHI.**, Pl. XLVIII, no. 1.
८. ,, Pl. XLVIII, no. 3.
९. ,, Pl. XLVIII, no. 4.
१०. **HIIA.** Fig. 333.
११. Getty Alice, **Ganesha**, Oxford, 1936, **Pls.** 35—39.
१२. **HIIA.**, Fig. 333.
१३. **HIIA.**, Fig. 343.
१४. **HIIA.**, Fig 344.
१५. **DAK.**, p. 74, जोशी नी० पु०, 'समृद्धि के देवता कुबेर और लक्ष्मी', **'आज'**, वाराणसी, १० नवम्बर, १९६९।
१६. **DAK.**, p. 80.
१७. भविष्यपुराण में 'हेली' और 'हेली-लोक' का उल्लेख है; **DAK.**, p. 77; यादवप्रकाश, वैजयन्तीकोश, London, 1893, p. 219—हेलिरालिङ्गने रवौ।
१८. **DHI.**, Pl. XI, no. 2.
१९. AMM., 36.2661.
२०. Getty Alice, **Ganesha**, Pl. 35.

२१. **HIJA.**, Fig. 333.

२२. **मार्कण्डेयपुराण** (मोर-प्रति), अध्याय ७७, पृ० २७६–८२।

२३. सनातनी पण्डितों के इस विवाद के लिए देखिए, लेखक और पण्डित जानकीनाथ शर्मा का विवाद, 'सूर्य देवता का जूता-बूट', **'आज'**, वाराणसी, १० जुलाई, १९६० ई० और उसके बाद के अंक।

२४. **पद्मपुराण** (मोर) पातालखण्ड, ८१.३६, पृ० ३४२।

२५. **पद्मपुराण** (मोर) भूमिखण्ड, ८९.६८, पृ० ३२४।

२६. Marshall, **Mohenjodaro and Indus Civilization**, Vol. I, p. 59.

२७. **DHI.**, p. 159.

२८. Marshall, ऊपर उद्धृत, Vol. 1, p. 52, Pl. 12, Figs. 17, 22.

२९. **DHI.**, 1941, p. 176 द्वारा उद्धृत उपर्युक्त ग्रन्थ, III, CXVI,29 and CXVIII, 11.

३०. Marshall, Vol. 1, Pl. XII, Figs 13, 14, 19.

३१. Mackay E., **Further Excavations at Mohenjodaro**, Vol I, p. 258-259.

३२. इनमें से कुछ प्रकाशित हैं, कुछ अप्रकाशित। उदाहरणार्थ, देखिए **भारत कला-भवन : एक परिचय**, १९५३ ई०, फलक १।

३३. **वाल्मीकीय रामायण**, उत्तरकाण्ड ९१.५२५ : 'काञ्चनीं मम पत्नीं च दीक्षायज्ञाश्च कर्मणि।'

३४. **महा०**, स्त्रीपर्व १२.२३, पृ० ४३९३ : 'आयसी प्रतिमा ह्येषा त्वया निष्पातिता विभो।'

३५. **शुक्रनीतिसार**, चतुर्थ ४.३६ : 'अपि श्रेयस्करं नृणां देवविम्बमलक्षणम्। सलक्षणं मर्त्यविम्बं नहि श्रेयस्करं सदा॥'

३६. मूर्त्ति-पूजा के प्रारम्भिक ऐतिहासिक विवेचन के लिए देखिए : **HDS.**, **II**, 2 p. 705–713; यहीं पर कई विशिष्ट उद्धरण भी मूल रूप में दिये गये हैं।

३७. **ऋग्वेद**, चतुर्थ २४।१० :
'क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः। यदा वृत्राणि, जङ्घनदथैनं मे पुनर्ददत।'

३८. **ऋग्वेद**, अष्टम १।५।

३९. **ऋग्वेद**, द्वितीय ३३।९ :
'स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः।'

३९क. **ऋग्वेद**, प्रथम २५।१३ : 'विभ्रद्रापिं हिरण्यं वरुणो वस्त निर्णिजं परिस्पशो निषेदिरे।'

४०. **ऋग्वेद**, प्रथम २१।२ : 'इन्द्राग्नी शुभतां नरः।'

४१. **DHI.**, p. 45.

४२. **ऋग्वेद**, चतुर्थ ५८।३ : 'चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्ता सो अस्य।'

४३. **DHI.**, p. 45 fn. काशी में इस प्रकार की प्रतिमा हंसतीर्थ में मिली है; पर वह भी बहुत बाद की है।

४४. विशेष विवरण के लिए देखिए, **DHI.**, 47—61, **HDS.**, II. 2, p. 705–7.

४५. **ऋग्वेद**, सात २१।५; दस ९९।३; निरुक्त, चतुर्थ, १९।
४६. **ऋग्वेद,** सात १०४, २४; दस ८७।२; दस ८७-१४।
४७. **Vedic Index,** II, p. 382.
४८. **ऋग्वेद,** ७.१०४.२४।
४९. **षडविंशब्राह्मण** १०।५ : 'देवायतनं कम्पते देवप्रतिमा हसन्ति, रुदन्ति, नृत्यन्ति, स्फुटन्ति, स्विद्यन्ति, उन्मिलन्ति।' **DHI.**, p. 69 fn. में उद्धृत।
५०. **पारस्करगृह्यसूत्र**, पृ० ६६, पादटिप्पणी।
५०क. **आपस्तम्बगृह्यसूत्र**, २०।१।३ ईशान, उनकी पत्नी और पुत्र जयन्त (स्कन्द) की पूजा (हरदत्त द्वारा उद्धृत **HDS., II**, p. 708-9) **मानवगृह्यसूत्र,** द्वितीय १५।६, प्रतिमाओं के नष्ट होने, गिरने, टूटने, हँसने या हिलने पर आहुतियों द्वारा दुचिह्न-शान्ति।

बौधायनगृह्यसूत्र (द्वितीय २।१३), **लौगाक्षि गृ० सू०** (१८।३) इत्यादि। विस्तार के लिए देखिए **HDS.**, II 2, p. 709.

५१. **HDS.**, II 2, p. 711.
५२. वही।
५३. वही।
५४. **ऋग्वेद,** प्रथम, १६४।४६ : 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।' सन्दर्भों के लिए **DHI.**, pp. 73–75.
५५. **ऋग्वेद,** प्रथम २५।१।२, इ०।
५६. **ऋग्वेद**, दस १२५।
५७. **काठक** (उपनिषद्), द्वितीय २० : 'धातु प्रसादान्महिमानमीशम्।'
५८. **श्वेताश्वतर,** षष्ठम, २३ : 'यस्य देवपरा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥'
५९. **DHI.**, p. 76-77.
६०. **छान्दोग्य,** तृतीय, १७।
६१. **लिंगपुराण** (मोर-प्रति), पूर्वार्द्ध, ७०.३०३-२२, पृ० २१३।
६२. **मत्स्यपुराण** (मोर-प्रति), ७.९-५७, पृ० १७-१८।
६३. **महाभारत,** वन०, २७९.१-३, २७४.१४-१७ पृ० १७२९, १७१६।
६४. अशोक का मास्की-अभिलेख : 'अमिसाँ देवा--मिसीभूता।'
६५. **अमरकोष,** १।२।
६६. अग्रवाल, वासुदेवशरण, **पाणिनिकालीन भारतवर्ष,** बनारस, सं० २०१२, पृ० ४७९-८०।
६७. वही, पृ० ३४९–३५१।
६८. **वायुपुराण,** ९७।१, अग्रवाल द्वारा उद्धृत, पृ० ३५२।
६९. 'आजीवेत् हिरण्योपहारेण कोशं कुर्यात्।' --**अर्थशास्त्र** टी०।
७०. भाष्य, ५।३।९९ : 'मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः।'
७१. **DHI.** द्वारा उद्धृत, p. 86., **अर्थशास्त्र,** २।४।२४।

७२. वही ।

७३. **DHI.**, p. 89.

७४. वही ।

७५. वही ।

७६. विस्तार के लिए **HDS.**, II 2, p. 715.

७७. 'अधमाधमाहि विज्ञेया मृण्मयी प्रतिमा च या । सर्वकामप्रदा चैव रत्नदा चोत्तमोत्तमा ।।' —**स्कन्दपुराण,** पूना-प्रकाशन, **HDS.**, II p. 715, fn. 1708.

७८. **मत्स्यपुराण** (मोर), २५७.२२, पृ० ७१७ ।

७९. इस विषय के विस्तार के लिए देखिए, **रूपमण्डन,** सम्पादक : डॉ० बलराम श्रीवास्तव, वाराणसी, २०२१, पृ० १९—३४ ।

शिव

पौराणिक काल का देवता-संघ यद्यपि एकेश्वरवाद का समर्थन करता है, तथापि प्राथमिक रूप में यह तीन आधारों पर टिका है। ये हैं—शिव, विष्णु और ब्रह्मा। आगे चलकर इसमें ब्रह्मा तो हट गये, पर शक्ति, सूर्य और गणपति ये तीन नये जुड़ गये और पंचदेवोपासना का स्वरूप खड़ा हुआ। हमें इन देवताओं पर स्वतन्त्र रूप से विचार करना है। प्रथम शिव को लें।

शिव को समन्वयवादी भारतीय प्रवृत्ति का एक महत्त्वपूर्ण योगदान कहें, तो अनुचित न होगा। अति प्राचीन सभ्यताओं में ऐसे कई सम्प्रदाय दिखलाई पड़ते हैं, जो अपने समष्टि-रूप में आज के कई शैव-सम्प्रदायों में प्रतिबिम्बित हैं। शिव के साथ शक्ति का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। वस्तुतः, शिव और शक्ति के संयोग से ही सृष्टि का निर्माण सम्भव होता है। यदि शक्ति शिव के द्वारा नियन्त्रित नहीं हुई, तो वह विनाश ढहा देती है, उसे शान्त करने की क्षमता शिव में ही है, यही बात रूपक बनकर शिवारूढ काली की प्रतिमा के रूप में सामने आती है। जनश्रुति है कि रणोन्माद से उन्मत्त चण्डी को ऊर्ध्वमेढ़ शिव ने स्वयं भूमिशायी होकर तथा उसके पैरों तले पड़कर विनियन्त्रित किया। अर्धनारीश्वर की प्रतिमा भी इसी भाव की द्योतिका है, और यही भाव निहित है योनि-पीठाधिष्ठित शिवलिंग में। शिव और शक्ति के प्रतीक लिंग और भग हैं। विविध सिद्धान्तों की दार्शनिकता और सर्वव्यापकता सिद्ध करने के लिए इसी चरम सत्य को साहित्यिक ढंग से प्रयुक्त किया गया है। महाभारत में उपमन्यु की माता के मुख से इस सिद्धान्त की स्थापना बड़े जोरदार शब्दों में कराई गई है[1] तथा इसकी प्राचीनता की ओर संकेत भी किया गया है।[2]

भारतवर्ष में लिंग-पूजन की प्राचीनता सिन्धु-सभ्यता तक जाती है, जिसकी विस्तृत चर्चा हमने प्रारम्भ में की है। **श्रीपरिपूर्णानन्द वर्मा** ने[3] कई विदेशी लेखकों को उद्धृत करके यह दिखलाने का प्रयास किया है कि 'संसार के हर कोने में वासना तथा प्रजनन की प्रेरणा से लिंग-उपासना चालू थी।' एक दूसरे लेखक **कटनर** के मतानुसार, यह पूजा सर्वप्रथम मिस्र देश में शुरू हुई और ईसवी-सन् की चौथी शती तक चलती रही। **श्रीवर्मा** ने इस पद्धति का विस्तृत विवरण देते हुए बतलाया है कि मिस्र में आइसिस ने लिंग-पूजन का प्रारम्भ किया था। आइसिस रोम में भी पूजी जाती थी। इसके मन्दिर में अग्नि को सदैव प्रज्वलित रखते थे तथा पुजारियों को आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत लेना पड़ता था। इस अग्नि का पूजन अक्षतयोनि कुमारिकाएँ ही करतीं थीं। इन तथ्यों की पार्श्वभूमि पर शिव का अग्नि-रूप, उनका 'शिखि' यह नाम, अग्निमय तृतीय नेत्र, उनकी ऊर्ध्वमेढ़-स्थिति तथा काम-दहन आदि बातें कम मनोवेधक नहीं लगतीं। महत्त्व की बात

तो यह है कि अध्यात्म के साँचे में ढले हुए भारत ने इस प्रतीक-कथा को एक सुन्दर रूपक के रूप में चित्रित किया। यहाँ शिव ज्ञान का स्वरूप हो गये और काम-दहन का अर्थ हुआ, अज्ञान का नाश ! इसी प्रकार शिवलिंग को अग्नि माना गया और योनि हुई यज्ञवेदी !!

वैदिक काल के आर्यों को लिंगपूजा की यह विदेशीय परम्परा रोचक नहीं प्रतीत हुई। उसके माननेवाले थे 'शिश्नदेव', जिन्हें वैदिक ऋषियों ने हेय दृष्टि से देखा; परन्तु उस समय के विश्व में मान्य उस परम्परा को भारतभूमि से हटाना कभी सम्भव नहीं हुआ। अतएव, यह आवश्यक हो गया कि उसे आत्मसात् ही कर लिया जाय। निश्चय ही इस कार्य में शताब्दियाँ लगी होंगी और घोर विवाद मचे होंगे। मूलतः, शिवलिंग मानव-लिंग का खरा रूप था, बाद में वह सुन्दर ढले या तराशे स्तम्भ के रूप में परिणत हुआ। लिंग और लिंगांग का विभाजन करनेवाली रेखा कभी पुष्पमाला से अलंकृत की गई और कभी उसे 'ब्रह्मसूत्र' की संज्ञा मिली। लिंग भी चौकोर तथा अठपहलू भागों में विभक्त हो गया, उसका आकार और ऊँचाई छोटे होने लगे और मध्यकाल के पहुँचते-पहुँचते उसके जो निखरे हुए रूप सामने आये, वे मानवलिंग से कहीं भिन्न हैं। मूर्त्तिकला के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इतना परिवर्त्तन होने के लिए लगभग नौ सौ वर्ष (ई० पू० दूसरी से ई० स० की ७ वीं शती) लगे। स्पष्ट है कि लिंग-पूजा को समाज में सम्माननीय स्थान पर आरूढ होने में इससे अधिक ही समय लगा होगा।

लिंग के अतिरिक्त शिव-पूजन का दूसरा प्रतीक उनकी प्रतिमा थी। भारत में यह पद्धति भी सिन्धु-सभ्यता से ही बँधी हुई दिखलाई पड़ती है। वहाँ से मिली 'पशुपति' की मुहर का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। सम्भव है कि वैदिक काल में शिवलिंग की अपेक्षा शिव के पुरुष-विग्रह को अधिक मान्यता मिली हो। ऐसा लगता है कि ऋग्वेद का रुद्र अथर्ववेद के समय तक बाहरी धाराओं के शिव से घुलने-मिलने लगा था। वैदिक काल का शिव सर्वव्यापी, परमबलशाली, शत्रुओं को रुलानेवाला (रुद्र), पर्वतों पर रहनेवाला (गिरिश), नीलकण्ठ (नीलग्रीव), लाल रंगवाला (विलोहित), धनुष एवं बाण धारण करनेवाला (निषङ्गिणे इषुधिमते), संरक्षक, आक्रमण करनेवाले को दण्ड देनेवाला (सहमानाय निव्याधिने आव्याधिनीनां पतये), उपवीत धारण करनेवाला (उपवीती), उच्चस्वर से घोष करनेवाला (उच्चैर्घोषायाक्रन्दयते), चोरों के अधिपति (स्तेनानां पतये), रात को घूमनेवाला (नक्तंचर), पशुओं में प्रविष्ट (शिपिविष्ट), शिरस्त्राण एवं कवच धारण करनेवाला (विल्मिने, कवचिने) आदि प्रकार का है। रुद्राध्याय में दिखलाई पड़नेवाले शिव के उपर्युक्त तथा अन्यान्य विशेषणों का अध्ययन करने पर शिव का जो चित्र हमारे सामने आता है, वह शत्रुओं को रुलानेवाले, संहार-रत प्रबल पराक्रमी योद्धा का है। अमंगल का विनाश कर मांगल्य की स्थापना करनेवाले रुद्र को इसलिए 'देवताओं का प्रथम वैद्य' (प्रथमो दैवो भिषक्) कहा गया है।

पौराणिक काल तक पहुँचते-पहुँचते वैदिक काल के रुद्र 'महादेव' नाम धारण कर तत्कालीन देवताओं में प्रमुख माने जाने लगे एवं ब्राह्मण-धर्म में उन्हें अविभाज्य स्थान मिला अथवा यों कह सकते हैं कि उन्होंने हठात् बल से वह स्थान प्राप्त किया। इस

महत्त्वपूर्ण घटना की अनेक कड़ियाँ प्राचीन साहित्य में बिखरी मिलेंगी। उन्हें बटोरना स्वतन्त्र शोध का विषय है, परन्तु इतना स्पष्ट है कि शिव के प्राचीनतम अवैदिक स्वरूप तथा उनके विषय में लोगों की हेय दृष्टि आदि की झलकें पौराणिक साहित्य में बराबर विद्यमान रहीं। उदाहरण के लिए, कुछ संकेत प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यथा :

१. वेदमान्य शैव-सम्प्रदायों के साथ-साथ कौल, पाशुपत आदि अवैदिक सम्प्रदायों का बना रहना।[४]

२. शिव को यज्ञभाग से वंचित रखने की प्रथा तथा दक्ष प्रजापति के यज्ञ-वाली घटना।

३. शिव का बल-प्रयोग से यज्ञभाग प्राप्त करना।[५]

४. शिव द्वारा ब्रह्मा के यज्ञ का विध्वंस तथा मृगरूप से यज्ञ का पलायन।[६] इसी कारण शिव का एक नाम 'मृगव्याध' भी हुआ।

५. रुद्र द्वारा इन्द्रपद पर आसीन पाँच व्यक्तियों का पराभव और उन्हें पर्वत-कारागृह में बन्दी बनाना।[७] इसी प्रकार दो अन्य वैदिक देवता 'पूषण'[८] और 'भग' शिव द्वारा दण्डित किये गये थे। शिव को इन्हीं कारणों से 'पूष्णोदन्तविनाश'[९] और 'भगघ्न'[१०] या 'भगनेत्रांकुश'[११] आदि नाम मिले।

६. शिव का 'ऊर्ध्वकेश', 'ऊर्ध्वमेढ्र', 'महालिंग', 'तीक्ष्णदंष्ट्र', 'विरूपाक्ष' आदि नामों से वर्णन तथा उनमें भीख माँगना, पत्नी के आगे नृत्य करना, विषादि का सेवन, श्मशान-वास, चमड़ों को पहनना, कंकालों का अलंकारों के रूप में प्रयोग आदि अनेक समाज-बाह्य प्रवृत्तियों का विद्यमान रहना।

७. राक्षसों एवं असुरों द्वारा उपास्य देवता के रूप में इनकी आराधना। इस सन्दर्भ में रावण और बाणासुर के नाम प्रमुख रूप से गिनाये जा सकते हैं।

८. यक्ष, प्रेत, पिशाच, भूत आदि का शिव-समाज के रूप में वर्णन।

९. भृगु द्वारा शिव को विभिन्न शाप यथा शिव का लिंगयोनि-स्वरूप होना, द्विजों के लिए अपूज्य बनाना, उन्हें अर्पित अन्न, जल, पुष्प आदि निर्माल्य, अर्थात् त्याज्य समझा जाना, शिव का चरणोदक अग्राह्य माना जाना आदि।[१२]

१०. शिव-प्रसाद का सेवन त्याज्य होने की बात विशेषतया दक्षिण भारत में इतनी दृढमूल हो गई है कि किसी भी अस्वीकार्य वस्तु को आलंकारिक रूप में 'शिवस्व' कहा जाता है। दक्षिण में शिव-पूजन करने तथा शिव-नैवेद्य भक्षण करने का अधिकार 'गुरव' नामक एक विशिष्ट जाति को ही प्राप्त है, जो ब्राह्मणों से कनिष्ठ समझे जाते हैं। ये अभी कुछ वर्ष पहले तक मृदंग या पखावज बजाने का व्यवसाय करते थे।

११. शिव द्वारा ब्राह्मणों का समय-समय पर विरोध और अन्त में शिव के श्रेष्ठत्व की स्थापना।[१३]

१२. कदाचित् शिव की रुद्रता के ही कारण जनसाधारण में यह धारणा बन गई कि यदि आवश्यक हुआ, तो विष्णु-व्रत का परित्याग किया जा सकता है, परन्तु किसी भी स्थिति में शिव-व्रत नहीं छोड़ा जा सकता।

यह बतलाना कठिन है कि शिव का पौराणिक धर्म में पूर्ण रूप से समावेश कब हुआ होगा, किन्तु नरनारायण और रुद्र के युद्ध का वर्णन करनेवाली कथा इस अध्ययन के लिए उपयोगी लगती है। इसके अनुसार दक्षयज्ञ का विध्वंस करने के उपरान्त रुद्र ने बदरिकाश्रम में बैठे नर-नारायण पर शूल चलाया। घोर युद्ध हुआ, किन्तु अन्त में ब्रह्मा के बीच-बचाव से दोनों में मेल हो गया। युद्ध के बीच में नारायण द्वारा रुद्र का गला दबाये जाने के कारण रुद्र 'शितिकण्ठ' कहलाये और रुद्र के शूल को 'श्रीवत्स' चिह्न के रूप में नारायण ने स्वीकार किया।[१४] मूर्त्ति-विज्ञान की दृष्टि से इस कथा की छानबीन करने पर दो बातें विशेष रूप से सामने आती हैं। श्रीवत्स प्रारम्भिक विष्णु-मूर्त्तियों में नहीं मिलता। कुषाण-काल की एक वराहमूर्त्ति पर ही हमें अबतक उसके दर्शन हुए हैं। गुप्तकाल से विष्णु-मूर्तियों में शनैः-शनैः यह चिह्न आने लगता है। दूसरे अबतक मिली हुई मूर्त्तियों के आधार पर 'हरि-हर-मूर्त्ति' का प्रारम्भ भी कुषाण-काल से माना जा सकता है।

शिव और विष्णु के बीच हुए उस घोर युद्ध का संकेत तथा उसके फलस्वरूप विष्णु के श्रेष्ठत्व की स्थापना का वर्णन वाल्मीकीय रामायण में भी मिलता है।*

इसमें सन्देह नहीं कि पौराणिक क्षेत्र में भी शैव-मत को मान्यता मिलना एक दिन की घटना नहीं हो सकती। इसमें अनेक वर्ष लगे होंगे तथा घोर वाद-विवाद मचा होगा। साथ-ही-साथ शैवों की भाँति शाक्त तथा सौर मतों की विशिष्ट धाराएँ भी बाहर से उमड़ती चली आ रही थीं। यह संक्रान्तिकाल ईसवी-सन् की प्रथम तीन शताब्दियों तक रहा होगा। गुप्तकाल में पहुँचकर ये सभी धाराएँ एकेश्वरदवाद का सिद्धान्त तथा 'महाविलयन' की प्रवृत्ति के कारण ब्राह्मण-धर्म के नवीन रूप में विलीन हो गईं।

ऊपर गिनाई गई बातों से यह स्पष्ट हो जायगा कि अवैदिक शिव ने अपने बल और पराक्रम से वेदोत्तर देवता-संघ में प्रमुख स्थान प्राप्त किया और इस प्रबल संघर्ष की गूँज बाद में बराबर सुनाई पड़ती रहीं। अब हम शिव-पूजन के माध्यम-प्रतीक, प्रतिमा और लिंग का मूर्त्ति-विज्ञान की दृष्टि से विवेचन करेंगे।

शिव-प्रतीक :

शिव के प्रतीकों में प्राचीनतम प्रतीक है वृष या बल। महाभारत में शिव को वृष[१५], वृषावर्त्त, वृषनाभ, वृषध्वज, वृषदर्प तथा वृषपति कहा गया है।[१६] यह तो निश्चय से कहना कठिन है कि सिन्धु-सभ्यता में मिलनेवाला ककुद्मान साँड़ तत्कालीन शिव-पूजन से सम्बद्ध रहा होगा, परन्तु ऐतिहासिक काल में वृष शिव का निकटतम प्रतीक बना।

*बाल०, ७६.१६, पृ० १७६।

आहत मुद्राओं पर मिलनेवाले बैल के शैव-सम्प्रदाय से सम्बद्ध होने में सन्देह हो सकता है, किन्तु भारतीय शक-शासकों की मुद्राओं पर मिलनेवाले बैल के विषय में कोई सन्देह नहीं है। इस प्रकार के एक सिक्के पर दिखलाई पड़नेवाला बैल और खरोष्ठी अक्षर 'उसभे' (वृषभ) एवं हूण-शासक मिहिरकुल के सिक्कों पर अंकित बैल के साथ 'जयतु वृषः' ये अक्षर इन राजाओं की शिवोपासना की ओर निश्चित संकेत करते हैं।[१७]

मुद्राओं पर दृष्टिगत होनेवाला दूसरा शिव-प्रतीक स्थल-वृक्ष तथा उसके सम्मुख स्थापित शिवलिंग है।[१८] औदुम्बरों के सिक्कों पर दिखलाई पड़नेवाला त्रिशूल-परशु भी शिव का ही प्रतीक है।[१९] वेम, वासुदेव आदि कुषाण-शासकों की मुद्राओं पर त्रिशूल-परशु के संयुक्त दर्शन होते हैं।[२०] यह आश्चर्य की बात है कि समकालीन पाषाण-मूर्त्तियों में त्रिशूल और परशु को संयुक्त रूप में नहीं देखा जाता। दक्षिण भारत की शिव-मूर्त्तियों में बहुधा केवल परशु के दर्शन होते हैं, वहाँ त्रिशूल बहुत कम मिलता है। कभी-कभी देवायतन भी शिव के प्रतीक का काम करता था; यथा औदुम्बरों की मुद्राओं पर मन्दिर देखे जा सकते हैं।[२१]

शैव प्रतीकों के दर्शन मिट्टी की मुहरों पर भी होते हैं।[२२] वृक्षों के बीच शिवलिंग (यथा पादपेश्वर, आम्रातकेश्वर आदि लेखों से अंकित मुहरें) एवं ककुद्मान वृष[२३] कुछ मुहरों पर अंकित हैं। आरामिकेश्वर नाम से अंकित एक गुप्तकालीन मुहर पर त्रिशूल-परशु, मंगलकलश, शक्ति और लिंग दिखलाई पड़ते हैं।[२४] भीटा से मिली हुई शैव मुहरों पर कुछ नवीन प्रतीक दिखलाई पड़ते हैं; यथा नन्दीपद चिह्न[२५], पर्वत पर रखे हुए गेंदों के आकार के शिवलिंग,[२६] अर्द्धचन्द्र से शोभित वृष, धनुष-बाण[२७] आदि। राजघाट (वाराणसी) से मिली मुहर पर त्रिशूल-परशु के साथ यूप मिलता है।[२८]

गुप्तोत्तर काल में भी इनमें से बहुत-से चिह्नों का सम्बन्ध शिव से बना रहा।

शिव-प्रतिमा :

प्रतीकों के अतिरिक्त शिव के पुरुषाकार विग्रह बनते थे और पूजे जाते थे। पतंजलि के आधार पर शिव-प्रतिमा की प्राचीनता मौर्यकाल तक सरलता से आँकी जा सकती है।[२९] महाभारत में अश्वत्थामा द्वारा शिव के 'श्वेत विग्रह' का निर्माण किये जाने तथा होम, उपहार आदि से उसका पूजन किये जाने का उल्लेख मिलता है।[३०] इसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि अश्वत्थामा ने पूर्वजन्मों में अर्चा का पूजन किया था एवं नर-नारायण ने लिंगपूजा द्वारा शिव का आराधन किया था, जो अर्चा-पूजन की तुलना में श्रेष्ठतर है।[३१] भीटा से मिले हुए उत्तर मौर्यकालीन लेखांकित शिवलिंग पर शिव की द्विभुज आनाभि प्रतिमा मिलती है।[३२] लेख से यह भी स्पष्ट है कि लिंग की प्रतिष्ठा पूजन-हेतु से ही हुई थी, केवल अलंकरण के लिए नहीं। उत्तर भारत की शिव-प्रतिमाओं में भीटा की यह आनाभि मूर्त्ति प्राचीनतम है। इसी सन्दर्भ में एक दूसरी प्रतिमा का उल्लेख आवश्यक है, जो शिव-प्रतिमा से बहुत कुछ साम्य रखती है।[३३] भीटा से ही मिली हुई यह मूर्त्ति 'सर्वतोभद्र' पद्धति की है। इसके एक ओर मुकुट एवं कलशधारी द्विभुज प्रतिमा है। अगल-बगल की ओर ऊपर के भाग में मानवमुख और

नीचे के भाग में क्रमशः वराह और सिंह बने हैं । मुकुटधारी प्रतिमा के ठीक पीछे जो मूर्त्ति है, उसी का वर्णन प्रस्तुत प्रसंग के लिए आवश्यक है (चित्र-सं० १) । यह द्विभुज विग्रह स्थूलकाय है तथा वलयों के अतिरिक्त यहाँ किसी अलंकारों के चिह्न नहीं हैं । केश पीछे की ओर सँवारे गये हैं तथा दाहिना हाथ अभयमुद्रा में उठा है, जो देवत्व का प्रतीक है । बाँयें हाथ में कोई वस्तु कदाचित् कलश थी, जो अब टूट चुकी है । कन्धों पर कोई वस्त्र नहीं है, पर पहनी हुई धोती के अवशेष स्पष्ट हैं । यह मूर्त्ति तथा इसके पीछेवाली प्रतिमा स्पष्टतया समकालीन यक्ष-प्रतिमाओं के ढर्रे पर बनाई गई है, किन्तु ये यक्ष-विग्रह नहीं हैं; क्योंकि—

एक : यक्षों की सर्वतोभद्र प्रतिमाएँ ज्ञात नहीं हैं। त्रिमुख यक्ष की भी केवल एक ही मूर्त्ति हम जानते हैं, जो काशी के भारतकला-भवन में हैं (सं० सं० २२५) ।

दूसरे : उक्त त्रिमुख मूर्त्ति में भी सभी यक्ष एक-से हैं, परन्तु भीटा-मूर्त्ति में सभी ओर अलग-अलग रूपों का अंकन है ।

तीसरे : वराह और सिंह से यक्षों की सम्बन्ध-स्थापना ज्ञात नहीं है । (चित्र-सं० ३,४) ।

अतएव, सम्भावना इस बात की हो सकती है कि यहाँ शिव और विष्णु तथा उनके वराह एवं सिंह से सम्बद्ध रूपों के प्रारम्भिक अंकन का प्रयास किया गया हो, परन्तु दूसरे निश्चित प्रमाणों के अभाव तथा वराह और सिंह के ऊपर दृश्यमान मानव-मुखों का अभिप्राय अज्ञात होने के कारण यह निरी सम्भावना ही है, स्थापना नहीं !!

दक्षिण भारत की प्राचीनतम शिव-प्रतिमा तमिलनाडु के रेणुगुण्ठा नामक स्थान के समीप गुड्डीमलम् के एक मन्दिर में विद्यमान है। वस्तुतः, यह परशुरामेश्वर के नाम से प्रसिद्ध पाँच फीट ऊँचा शिवलिंग है, जिसके सम्मुख भाग पर खड़े शिव की द्विभुज प्रतिमा बनी हुई है । दाहिने हाथ में पिछले पैरों से पकड़ा गया औंधे मुँह लटकता हुआ भेंड़ा है तथा बाँयें हाथ में कलश तथा कन्धे पर टिका परशु है। शिव के मस्तक पर उष्णीष है और वे अलंकार पहने हुए हैं । उनके पैरों के नीचे अपस्मार-पुरुष पड़ा हुआ है । **श्रीराव** इस प्रतिमा की तिथि ई० पू० दूसरी से पहली शताब्दि के आसपास रखते हैं।[३४]

ईसवी-सन् के प्रारम्भ से उत्तर भारत में कुषाणों का साम्राज्य उदित होता है । इस वंश के कुछ शासकों का झुकाव शैवधर्म की ओर रहा। इस काल में शैवधर्म से सम्बद्ध हलचल भारत की उत्तर पश्चिमी सीमाओं पर तो चल ही रही थी, साथ-ही-साथ मध्यदेश में मथुरा नगर भी उनका प्रमुख केन्द्र रहा। सौभाग्य से इस नगरी ने इस काल की हजारों कलाकृतियाँ हमें भेंट की हैं । वस्तुतः, इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि मथुरा की कुषाण-कलाकृतियों ने ही विशेषतया ब्राह्मण एवं जैन मूर्त्तिविज्ञान के प्रारम्भिक अध्याय लिखे हैं। कुषाण-काल के पहले से ही यहाँ शिव-पूजन का बोलबाला था । कुषाण-पूर्वकाल के एक माथुरी शिलापट्ट पर हम सपक्ष पशुओं के बीच वृक्ष के नीचे प्रतिष्ठित शिवलिंग को देखते हैं।[३५] हरिवंश एक स्थान पर हमें बतलाता है कि यादवों ने द्वारका के लिए मथुरा का परित्याग करते समय विशेषतया शिव का पूजन किया था।[३६] यादव शिवपूजक थे और स्वयं श्रीकृष्ण ने भी पुत्रप्राप्ति

के लिए शिवाराधन किया था।[३७] मथुरा की कुषाण-कला में मिट्टी और पत्थर की कई शिवमूर्त्तियाँ और लिंग मिले हैं। इन कलाकृतियों को देखने पर यह भी स्पष्ट होता है कि शिव, विष्णु, कार्त्तिकेय, लक्ष्मी आदि से सम्बद्ध जो विविध सम्प्रदाय इस काल में ब्रजभूमि में पनप रहे थे, उनमें सम्भवतः परस्पर मनोमालिन्य और विद्वेष नहीं था; क्योंकि हमें यहाँ से एक ऐसा शिलापट्ट मिला है, जिसपर क्रम से अर्द्धनारीश्वर, विष्णु या वासुदेव, गजलक्ष्मी तथा कार्त्तिकेय अंकित हैं (चित्र-सं० २०)।[३८] साथ ही, यह भी महत्त्वपूर्ण है कि इस काल में ऐसी मूर्त्तियाँ नहीं दिखलाई पड़तीं, जिसमें एक सम्प्रदाय द्वारा दूसरे को हठात् अपमानित करने का प्रयत्न किया गया हो।

कुषाण और गुप्तकाल की शिवमूर्त्तियों का विवेचन करने के पूर्व इस काल में या इससे पहले शिव के मानव-विग्रह के विषय में सिक्कों और मुहरों से जो सामग्री उपलब्ध होती है, उसका भी संक्षेप में पर्यालोचन कर लें।

मुद्राओं के क्षेत्र में सर्वप्रथम उज्जयिनी की मुद्राएँ शिव के सम्बन्ध में हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं, जिनका समय साधारणतः ई० पू० की प्रथम दो शताब्दियों के आसपास रखा गया है।[३९] इनपर शिव के निम्नांकित ध्यान मिलते हैं :

(क) दण्ड और कमण्डलु धारण किये एकाकी खड़े शिव।

(ख) इसी प्रकार साथ में शिव को देखनेवाला ('देववीक्षणतत्परः') बैल।

(ग) दण्ड-कमण्डलुधारी त्रिशिर शिव। मुख्य मस्तक के अगल-बगल एक-एक मस्तकवाले तथाकथित त्रिशिर शिव के दर्शन हमें उत्तर-पश्चिमी भारत की मूर्त्तियों तथा कुषाण-सिक्कों पर भी होते हैं। **बनर्जी** महोदय ने इस ओर संकेत किया है, किन्तु उसे साहित्य से मिलाने की चेष्टा नहीं की है। महाभारत में त्रिमुख शिव के उल्लेख बहुत ही कम हैं।[४०] उनके द्विमुख, चतुर्मुख एवं पंचमुख लिंग तो मिलते हैं, पर त्रिमुख नहीं। अतएव, मेरा अनुमान है कि जहाँ ब्रह्मा एवं विष्णु के साथ शिव को दिखलाने का लक्ष्य है, वहाँ तो त्रिमूर्त्ति के रूप में तीन मुख दिखलाई पड़ते हैं, अन्यथा ये मूर्त्तियाँ अधिकतर चतुर्मुख रही होंगी—तीन मुख तो दृश्य हैं और चौथा पीठ की ओर छिपा है। शिव के चार मुखों की बात महाभारत में आती है।[४१] वहाँ यह बतलाया गया है कि देव-मण्डली की प्रदक्षिणा करनेवाली अप्सरा तिलोत्तमा के सौन्दर्य को निहारने के लिए चारों दिशाओं में शिव के चार मुख प्रकट हुए। **श्रीरत्नचन्द्र अग्रवाल** ने प्रारम्भिक कुषाण-काल की एक माथुरी प्रतिमा को चतुर्मुख शिव के रूप में पहिचाना है।[४२] अन्तर केवल इतना है कि चौथा मुख पीछे की ओर न होकर कन्धों के ऊपरवाली मूर्त्ति के रूप में अंकित है। उसी लेख में उन्होंने बीकानेर के पास रंगमहल से प्राप्त एक मृत्फलक का उल्लेख किया है, जिसपर त्रिशिर शिव बने हैं। यह प्रारम्भिक गुप्तकाल का है।

इसी सन्दर्भ में यह भी ध्यान देने योग्य है कि उज्जयिनी प्राचीन काल से ही शैव सम्प्रदाय का केन्द्र रही । कालिदास के समय वहाँ चण्डीश्वर महाकाल का सुन्दर धाम विद्यमान था ।[४३]

उज्जयिनी के बाद हमें कुणिन्दों की मुद्राओं पर ध्यान देना होगा, जहाँ त्रिशूल-परशुधारी शिव के दर्शन होते हैं।[४४] यहाँ उन्हें 'छत्रेश्वर महात्मा' कहा गया है ।

विदेशी शासकों की मुद्राओं में गुदफर या गोण्डोफर की मुद्राओं पर **डॉ० बनर्जी** ने त्रिशूल एवं ताल-शाखाधारी शिव को पहचाना है।[४५] इसपर यूनानी देवता पोसेडान के ध्यान की स्पष्ट छाप है । गुदफर के इन सिक्कों पर दिखलाई पड़नेवाले उसके विरुद 'देवव्रत' से भी उसके स्पष्ट रूप से शैव होने की बात पुष्ट होती है। **ह्वेनत्सांग** ने भी एकाधिक बार 'देव' शब्द को शिव के अर्थ में व्यवहृत किया है ।

माउस दूसरा विदेशी राजा था, जिसकी मुद्राओं पर त्रिशूलधारी शिव बने हैं, कभी-कभी अपस्मार-पुरुष का मर्दन करते हुए भी दिखलाये गये हैं।[४६]

सन् १९१४-१५ ई० में सिरकप से 'शिवरक्षितस' वाले द्विलिपिक लेख से अंकित ईसवी-सन् की प्रथम शताब्दि या उसके कुछ पूर्व की एक ताँबे की मुहर मिली है, जिसपर त्रिशूल तथा गदा धारण करनेवाले शिव बने हैं । यहाँ गदा की बनावट यूनानी देवता हरक्यूलिस की गदा से मिलती-जुलती है ।[४७]

इन सबके अतिरिक्त शिव का भरा-पूरा अंकन कुषाण-राजाओं की मुद्राओं पर मिलता है । यहाँ मूर्त्तिविज्ञान की दृष्टि से बड़े काम की सामग्री उपलब्ध है ।

सर्वप्रथम कडफिश द्वितीय या वेम के सिक्कों को देखें । यहाँ शिव के दो रूप मिलते हैं । विवस्त्र शिव एकाकी खड़े हैं, दाहिने हाथ में त्रिशूल-परशु है और बायें में घट । बाँयें हाथ के ऊपर से किसी पशु का चमड़ा लटक रहा है (रे० चि० ३) **प्रो० रोज़ेनफील्ड** के मतानुसार यह सिंह है।[४८] उनके कथन का समर्थन महाभारत के 'सिंहचर्मोत्तरच्छिद:'[४९] इस शिव के लिए प्रयुक्त पद से भी होता है, परन्तु **रोज़ेनफील्ड** द्वारा दिये गये चित्रों को ध्यानपूर्वक देखने पर यह पशुमस्तक सिंह का नहीं, अपितु बैल जैसा लगता है।[५०] बैल के चर्म को कन्धों पर डालनेवाली परम्परा गुप्तकाल में भी विद्यमान थी, जैसा अहिच्छत्रा के भैरव-मृदुफलक से स्पष्ट होता है । वेम के सिक्कोंवाली इस प्रकार की शिव-प्रतिमा की दूसरी विशेषता उनके मस्तक पर दिखलाई पड़नेवाली अग्निज्वालाएँ हैं, जो इस बात का प्रमाण है कि इस काल तक पहुँचते-पहुँचते शिव की अग्नि से एकरूपता प्रतिष्ठापित हो चुकी थी । यज्ञोपवीत के समान शिव के बाँयें कन्धे से लटकनेवाली माला भी अवलोकनीय है, जिसमें कुछ पदक लगे हैं। यह अलंकार—जिसने गुप्तकाल में मुक्ता-यज्ञोपवीत को जन्म दिया होगा—समकालीन गान्धार और उससे प्रभावित मथुरा-कलाकृतियों में भी दिखलाई पड़ता है और शिव के 'उपवीती' नाम को सार्थक करता है ।

वेम की मुद्राओं पर शिव का जो दूसरा रूप दिखलाई पड़ता है, वह प्रथम से अधिक सुसभ्य है। न तो यहाँ वे नग्न हैं, न महालिंगी हैं और न वृषचर्म को धारण

किये हैं। अपने बैल के सहारे बाँयें हाथ में त्रिशूल, क्वचित् त्रिशूल-परशु लिये वे कुछ झुककर खड़े हैं। मस्तक पर की अग्निज्वालाएँ कुछ त्रिशूल-सा रूप लेती हैं। यहाँ यज्ञोपवीतवाला अलंकार तथा शिव का अधोवस्त्र भी दिखलाई पड़ता है (रे० चि० ४)।

यद्यपि वेम के सिक्कों पर स्पष्ट रूप से शिव का नाम नहीं लिखा है, तथापि राजा का अपने को 'माहेश्वर' कहने के अतिरिक्त शिव-मूर्त्ति को असन्दिग्ध रूप से पहचानने के अन्य साधन वहाँ उपलब्ध हैं।

कनिष्क की मुद्राओं पर चतुर्भुज शिव के दर्शन होते हैं।[५१] इनके हाथों में प्रदक्षिणा-क्रम से अधोमुख घट एवं अंकुश, वज्र, त्रिशूल और उछलता हुआ मृग है। सभी मुद्राओं पर अंकुश नहीं मिलता, उसी प्रकार मृग की स्थिति में भी अन्तर है। शिव धोती पहने हुए हैं, तथा गले में यज्ञोपवीत-सी माला भी पड़ी है। यहीं सर्वप्रथम हमें शिव के प्रभा-मण्डल के भी दर्शन होते हैं (रे०चि० ५)।[५२]

हुविष्क की मुद्राओं पर शिव के कुछ नये रूप दिखलाई पड़ते हैं।[५३] एक मुद्रा पर **प्रो० रोज़ेनफील्ड** ने शिव के मस्तक पर अर्द्धचन्द्र पहचानने का यत्न किया है, पर यह असन्दिग्ध नहीं है; क्योंकि अन्य मुद्राओं पर इसके स्पष्ट दर्शन नहीं होते। साथ-ही-साथ केवल एक उदाहरण (रे० चि० ७) को छोड़कर मूर्त्ति-क्षेत्र में भी इस काल में शिव के साथ चन्द्र अपवाद रूप में ही दिखलाई पड़ता है।

इस काल का दूसरा महत्त्वपूर्ण शिव-स्वरूप, त्रिमुख तथा चतुर्भुज शिव का है। यहाँ घट एवं अंकुश हटकर उसके स्थान पर चक्र के दर्शन होते हैं, साथ ही शिव की ऊर्ध्वलिंगावस्था भी स्पष्ट रूप से अंकित है (रे० चि० ६)।

हुविष्क-मुद्राओं के तीसरे प्रकार में त्रिमुख शिव के साथ--जहाँ उनका जटाभार दर्शनीय है (रे० चि० ८)--घट, प्रकीर्ण किरणोंवाला वज्र (?), त्रिशूल तथा गदा आयुध रूप में दिखलाई पड़ती है।

अन्तिम कुषाण-सम्राट् वासुदेव का भी झुकाव शैवधर्म की ओर रहा होगा। उसकी मुद्राओं पर शिव का प्रचुरता से दर्शन होता है। त्रिमुख मूर्त्ति में अग्निशिखाएँ तथा त्रिशूल और घट के साथ पाश और कमल भी बने हैं। पीछे बैल खड़ा है। दूसरे प्रकार में त्रिमुख, किन्तु केवल पाश और त्रिशूल लिये दो भुजाओंवाला शिव बना है। बैल बाईं ओर मुँह किये खड़ा है। पाश को छोड़ दें, तो यह प्रकार वेम की मुद्राओं से मिलता है, परन्तु बैल एवं त्रिशूल की स्थिति में अन्तर है।

तीसरा प्रकार सर्वसाधारण है, जिसमें एकमुख शिव पाश एवं त्रिशूल लिये बैल के सहारे खड़े हैं। यहाँ शिव का अंकन पहले जैसा न होकर उसमें एक प्रकार का भरापन तथा सौन्दर्यप्रियता के बीज विकसित होते दिखलाई पड़ते हैं। उत्तर कुषाण-कालीन मुद्रागत शिव-प्रतिमाओं पर पुनः वहीं भोंड़ापन आ जाता है, और गुप्तकाल तक वैसा ही बना रहता है। यहीं से शिव के मस्तक पर अर्द्धचन्द्र भी शुरू होता है।

एकमुख शिव का एक प्रकार और भी है, जिसमें शिव के साथ बैल नहीं, अपितु हाथी दिखलाई पड़ता है[५५] (चित्र-सं० २७)। शिव के साथ हाथी भी सिंह के समान ही

असामान्य है । कनिष्क की मुद्रा पर शिव के हाथ में अंकुश हम दख चुके हैं और यहाँ प्रत्यक्ष हाथी मिलता है। स्पष्ट है कि गान्धार की किसी परम्परा में शिव और हाथी का निकटतम सम्बन्ध रहा होगा ।

इसी स्थल पर हमें उन मुद्राओं की ओर भी संकेत करना आवश्यक प्रतीत होता है, जहाँ शिव क्रमशः देवी उमा और देवी नना के साथ बने हैं।[५६] इनका वर्णन हम आगे 'शक्ति-प्रसंग' में करेंगे ।

कुषाण-मुद्राओं पर बहुधा शिव को 'ओएशो' कहा गया है । इस शब्द को प्राकृत के 'हवेश' तथा संस्कृत के 'भवेश' से मिलाया जा सकता है । कुछ विद्वान् इसे संस्कृत के 'वृष' का भी रूप मानते हैं।[५७] महाभारत की शिव-नामावलि में वृष[५८], वृषभ, वृषावर्त्त[५९], वृषनाक, वृषपति[६०] आदि की गणना की गई है। इसके अतिरिक्त, उग्रेश[६१], ऊर्ध्वकेश[६२] आदि से भी 'ओएशो' का साम्य बैठाया जा सकता है ।

उपर्युक्त मुद्राओं के अतिरिक्त **डॉ० बनर्जी** ने कुछ अन्य मुद्राओं की ओर भी ध्यान दिलाया है । कलकत्ता-संग्रहालय की दो सुवर्ण-मुद्राओं की ओर चर्चा करते हुए उनपर ब्राह्मी-लिपि में अंकित (कुषाण-मुद्राओं पर ब्राह्मी-लिपि के ये अनुपम उदाहरण हैं) 'गणेश' नाम की सहायता से उन्होंने मनुष्यधारी शिव को पहचानने की चेष्टा की है।[६३] इसमें सन्देह नहीं कि शिव और उनका 'अजगव पिनाक' प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध थे।

उन्होंने हुविष्क की एक दूसरी मुद्रा पर हरि-हर की आकृति भी देखी है।[६४]

परवर्त्ती कुषाण-राजाओं की मुद्राओं में जौनपुर जिले से सद्यःप्राप्त एक सुवर्णमुद्रा,, जो राज्य-संग्रहालय, लखनऊ की सम्पत्ति होगी, विशेष रूप से उल्लेखनीय है । यहाँ शिव का अर्द्धनारीश्वर रूप स्पष्टतया अंकित है । शिव का यह स्वरूप इस काल की एक अन्य मुद्रा पर भी देखा गया है।[६५]

मिट्टी की मुहरों पर भी शिव-सम्बन्धी सामग्री मिली है । इस प्रसंग में सर्वप्रथम उल्लेखनीय लगभग सौ मुहरों का लखनऊ-संग्रहालय का संग्रह है, जो सन् १९२० ई० (१८।१।१९२०) में **डॉ० हीरानन्द शास्त्री** द्वारा संकिसा (प्राचीन संकाश्य) की खुदाई में मिला था। इसमें ४८ मुहरें शैव हैं, जिनमें बाईस पर तो 'भद्राक्षस्य' इन अक्षरों के साथ द्विभुज शिव बने हैं। उनके दाहिने हाथ में त्रिशूल है और बायाँ कट्यवलम्बित है। वस्त्र के चिह्न स्पष्ट हैं और मस्तक पर केश तीन गाँठों में बँधे हैं । दूसरी ओर बैठा हुआ बैल है और नीचे ब्राह्मी में 'भद्राक्षस्य' ये अक्षर हैं। शेष छब्बीस मुहरों पर एक ओर तो ठीक वैसे ही शिव और ब्राह्मी-लेख है, दूसरी ओर कुछ भी नहीं है । लिपि के आधार पर इन मुहरों को ईसवी-सन् की पहली शताब्दि के आसपास रखा जायगा।

प्रारम्भिक गुप्तकाल की शैव मुहरों पर ध्यान देते ही सर्वप्रथम बसाढ़ या वैशाली का उल्लेख आवश्यक है, जहाँ **ब्लॉक** को प्रचुर सामग्री मिली थी। उनमें से एक पर **डॉ० बनर्जी** के मतानुसार अर्द्धनारीश्वर-प्रतिमा बनी है।[६६] शिव-मूर्त्ति से अंकित दूसरी मिट्टी की मुहर **सर जॉन मार्शल** को भीटा (इलाहाबाद) से मिली थी।[६७] चौथी-पाँचवीं

शती की लिपि में अंकित 'भद्रेश्वर' नामवाली इस मुहर पर ललितासन में द्विभुज शिव हाथ में अनिश्चित वस्तु लिये बैठे हैं। उनके मस्तक तथा कन्धों पर दिखलाई पड़नेवाली वस्तु की पहचान ज्वालाओं अथवा वृक्ष के ऊपरी भाग से की गई है।[६८] राजघाट (वाराणसी) से प्राप्त एक गुप्तकालीन मुहर पर 'श्रीदेवस्वामी' के नाम से द्विभुज शिव एक वेदी पर खड़े हैं। उनके एक हाथ में घट तथा दूसरे में माला या पाश है। बाईं ओर साँप भी बना है।[६९]

सिक्कों और मुहरों पर अंकित शिव-प्रतिमाओं का विचार करने के उपरान्त लोक-कला की सामग्री की ओर ध्यान देना आवश्यक है। लोक-कला का सच्चा प्रातिनिध्य मृण्मूर्त्तियाँ करती हैं। शिव का अंकन करनेवाली किसी उल्लेखनीय कुषाणकालीन मृण्मूर्त्ति का हमें पता नहीं है, परन्तु उत्तर-कुषाणकाल तथा गुप्तकाल की ऐसी मूर्त्तियाँ हमें ज्ञात हैं। यथा :

१. रंगमहल से प्राप्त शिव-पार्वती-फलक[७०] (रे०चि० २६) :

मूर्त्ति-विज्ञान की दृष्टि से यह फलक बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस परम्परा के प्रथम दर्शन हमें मूसानगर की शिव-प्रतिमा में होते हैं, जिसका विस्तृत वर्णन हम आगे करेंगे। यहाँ चतुर्मुख द्विभुज महालिंगधारी शिव को बैल पर बैठा हुआ पाते हैं। मुख्य मुख के अगल-बगल एक-एक अन्य मुख है तथा गरदन से निकलती हुई सूर्य-चन्द्रधारी पुरुष की आवक्ष प्रतिमा है, जिसके मस्तक पर जटाजूट है। शिव के पास घाघरा पहने दर्पण-हस्ता पार्वती है और अगल-बगल में दो मानव-मूर्त्तियाँ। यह फलक चौथी शताब्दि का माना गया है।

२. अज-एकपाद फलक[७१] (रे० चि० ३७) :

रंगमहल से ही प्राप्त यह फलक प्रारम्भिक मूर्त्ति-विज्ञान के क्षेत्र में अनोखा है। अज-एकपाद का उल्लेख ग्यारह रुद्रों में आता है।[७२] महाभारत के अनुसार अहिर्बुध्न्य और कुबेर के साथ ये धन की रक्षा करते हैं।[७३] छागमुख होने के कारण इनकी अग्नि से भी समानता स्थापित की गई है।[७४] प्रस्तुत फलक में अज के स्थूल शरीर का सन्तुलन हाथी का एक भारी पैर दिखलाकर कलात्मक ढंग से साधा गया है।

३. नेवल (उन्नाव) के अर्द्धनारीश्वर[७५] (चित्र-सं० २२) :

किसी सुन्दर अर्द्धनारीश्वर मूर्त्ति का यह ऊपरी भाग है, जो इस समय दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में है। दाहिनी ओर के शिववाले भाग पर अर्द्धचन्द्र, नृमुण्ड, पुष्पमाला और विल्वपत्र सुशोभित है, पार्वतीवाले वाम भाग पर पुष्पमाला के अतिरिक्त सुन्दर केश-कलाप दर्शनीय है।

४. शिवलीला के फलक :

अहिच्छत्रा से ऐसे गुप्तकालीन फलक मिले हैं, जिनपर दक्ष-यज्ञ-विध्वंस का दृश्य[७६], मिष्टलोभी शिवगण[७७] आदि बने हैं। भीतरगाँव के इष्टिका-मन्दिर पर भी गणों के साथ सुखासीन शिव-पार्वती का दर्शन करानेवाले फलक विद्यमान हैं।[७८]

मथुरा[७९] और राजस्थान के मुण्डा[८०] नामक स्थान से ऐसे मृत्फलक मिल चुके हैं, जिनपर एकमुख जटाधारी महादेव अंकित हैं। दुर्दैव से ये दोनों फलक खण्डित हैं, अतः यहाँ त्रिनेत्र और जटाओं के अतिरिक्त किसी अन्य शैवचिह्नों के दर्शन नहीं होते।

५. अहिच्छत्रा के शिव-पार्वती[८१] :

यहाँ भी शिव-पार्वती की सर्वांगसुन्दर 'मुक्त' (फ्री) मूर्त्तियाँ थीं, जिनके अब केवल मस्तक-भर अवशिष्ट हैं, जो इस समय दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। उनका कलात्मक सौन्दर्य तो अवलोकनीय है ही, पर एक मूर्त्तिगत विशेषता भी ध्यान देने योग्य है। यहाँ शिव की तीसरी आँख नहीं है (चित्र-सं० १२) उनका भालपट्ट स्वच्छ है, किन्तु साथ ही पार्वती का त्रिनेत्र भी उतना ही स्पष्ट है। लगता है कि गुप्तकाल के कम-से-कम अहिच्छत्रा के कलाकारों में कुछ देवियों को त्रिनेत्र बनाने की बात प्रचलित थी। वहीं से प्राप्त यमुना की विशाल मूर्त्ति में भी हम यही बात पाते हैं। भारत-कला-भवन की इन्द्राणी (सं० सं० २०३६२) भी त्रिनेत्र से शोभित है।

अहिच्छत्रा से मिले हुए कुछ अन्य मृत्फलकों पर अंकित मूर्त्तियों को—जिनमें से दो अब राज्य-संग्रहालय, लखनऊ में सुरक्षित हैं—डॉ० अग्रवाल ने शिव माना है, किन्तु लेखक इसमें सशंक है; क्योंकि उनपर शिव होने के कोई स्पष्ट चिह्न विद्यमान नहीं हैं।

६. अहिच्छत्रा के महाभैरव[८३] (चित्र-सं० १६) :

यहीं से मिली हुई कन्धों पर वृष को लटकाये भ्रमण करनेवाले क्रूरवदन महाभैरव की चतुर्भुज मूर्त्ति—इतरत्र अपनी सानी नहीं रखती। उनके दाहिने हाथ में त्रिशूल है तथा बायें हाथ में लम्बे डण्डे पर पंखे जैसी एक वस्तु है, जिसे पहचाना नहीं गया है। बचे हुए दाहिने और बायें हाथों से पीठ पर लटके हुए बैल को पकड़ा गया है, अथवा बैल का चमड़ा ओढ़ा गया है। बैल के चमड़ेवाली विशेषता हम कुषाण-सिक्कों पर भी देख चुके हैं, यद्यपि इस परम्परा का साहित्यिक स्रोत ज्ञात नहीं है। महाभैरव के कन्धे पर नाग-यज्ञोपवीत पड़ा है।

७. अहिच्छत्रा के दक्षिणामूर्त्ति[८४] :

उपदेश देनेवाले शिव का एक ध्यान दक्षिणामूर्त्ति के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका विशेष वर्णन हम आगे करेंगे। अहिच्छत्रा के एक खण्डित मृत्फलक पर **डॉ० अग्रवाल** ने दक्षिणामूर्त्ति को पहचानने का प्रयत्न किया है। चतुर्भुज शिव शिष्यों के साथ बैठे हैं, उनके उठे हुए पिछले बायें हाथ में एक कटोरा है, जिसमें उगता वृक्ष दिखलाया गया है।

८. शैव मृद्-मस्तक :

अहिच्छत्रा तथा राजघाट (वाराणसी) से प्राप्त कुछ मृद्-मस्तकों को **डॉ० अग्रवाल** ने केश-विन्यास की भिन्नता के आधार पर अर्द्धनारीश्वर-प्रतिमाओं के मस्तक माना है।[८५]

इस प्रकार, कुषाण-पूर्व काल से गुप्तकाल तक के सिक्कों तथा मुहरों पर एवं लोक-कला में प्राप्त होनेवाली शिव-सामग्री पर संक्षिप्त विचार करने के बाद हम पत्थर की मूर्त्तियों की ओर मुड़ते हैं। इस क्षेत्र में, कुषाण और गुप्तकालीन कला में हमें शिव के

निम्नांकित स्वरूप दिखलाई पड़ते हैं। यहाँ हम केवल स्वतन्त्र मूर्त्तियों का विचार कर रहे हैं, लिंगमूर्त्तियों की मीमांसा इतरत्र होगी :

(क) एकाकी शिव
(ख) सिंह के साथ शिव
(ग) चतुर्मुख शिव
(घ) शिव-पार्वती
(ङ) अर्द्धनारीश्वर
(च) लकुलीश
(छ) दक्षिणामूर्त्ति
(ज) रावणानुग्रहमूर्त्ति
(झ) भिक्षाटनमूर्त्ति
(ञ) गजासुरवधमूर्त्ति
(ट) भैरवमूर्त्ति
(ठ) नृत्य-मूर्त्ति
(ड) हरिहर-प्रतिमा

(क) एकाकी शिव :

सिक्कों और मुहरों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि शिव की स्वतन्त्र मूर्त्तियाँ बनती रही होंगी। परन्तु, पाषाण की ऐसी मूर्त्तियाँ इनी-गिनी संख्या में ही हमें ज्ञात हैं।

यद्यपि लिंगगत मूर्त्ति का विचार हम आगे करेंगे, तथापि मथुरा से किसी समय प्राप्त एक शिवलिंग पर शिव की समूची मूर्त्ति बनी होने के कारण उसे हम यहाँ विचारार्थ ले रहे हैं। यह शिव की आपादमस्तक चतुर्भुज मूर्त्ति है।[८६] उनके किसी हाथ में न कोई आयुध है और न ऊर्ध्वलिंग ही दिखलाई पड़ता है। तीसरी आँख के विषय में चित्र के आधार पर कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु मूर्त्ति में अंकित जटाभार, चार भुजाएँ, अभय-मुद्रा तथा पीछेवाले शिवलिंग के आधार पर प्रतिमा को शिव कहना युक्तियुक्त है।[८७]

शिव की दूसरी स्वतन्त्र एवं सम्पूर्ण मूर्त्ति उत्तरप्रदेश के बलिया जिले से मिली है (चित्र-सं० ८) और इस समय राज्य-संग्रहालय, लखनऊ में सुरक्षित है (सं० सं० ५६·३३१)। ढंग से सँवारे हुए केशों को मस्तक के बीच से द्विभाजित कर पीछे की ओर लहराया गया है (रे० चि० २०)। शिव का दाहिना हाथ वरद-मुद्रा में तथा बाँया त्रिशूल धारण किये है। खड़ा त्रिनेत्र, प्रभामण्डल तथा सुन्दर मुखाकृति मूर्त्ति के निर्माण-काल, अर्थात् प्रारम्भिक गुप्तकाल के सूचक हैं। शिव की वरद-मुद्रा का कदाचित् यह सबसे प्राचीन उदाहरण है।

मथुरा-संग्रहालय में एक गुप्तकालीन खण्डित प्रतिमा है[८८] जिसमें पहना हुआ व्याघ्राम्बर स्पष्ट है। साहित्य में शिव के व्याघ्राजिन-सम्बन्धी कई उल्लेख मिलते हैं; यथा महाभारत में निर्दिष्ट शिव के नामों में एक नाम 'व्याघ्रचर्माम्बरधरः' भी है।[८९]

इन प्रतिमाओं के अतिरिक्त शिवमूर्त्तियों के कुछ मस्तक भी उल्लेखनीय हैं। पश्चिमी प्रभाव से युक्त एक सुन्दर उत्तर-कुषाणकालीन मस्तक राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में सुरक्षित है (सं० सं० एल् ६६८, चि० ९), जिसकी निम्नांकित विशेषताएँ अवलोकनीय हैं :

(अ) जटाओं के स्थान पर बालों के छोटे-छोटे घूंघर बने हैं। शिव के इस प्रकार के केशों को महाभारत में 'कृष्णकुंचितमूर्धज'[९०] या केवल 'कुंचितमूर्धज'[९१] कहा गया है।

(आ) यूनानी राजाओं के समान 'डायडेम' का उपयोग किया गया है, जिसकी पहचान शिल्परत्न के 'ललाटपट्ट' से हो सकती है।[९२]

(इ) बाईं ओर अर्द्धचन्द्र बना है। इस काल की मूर्त्तियों में अर्द्धचन्द्र के उपयोग का यह एकमात्र उदाहरण है। यह भी पश्चिमी धारा की ही विशेषता लगती है; क्योंकि उत्तर-कुषाणकालीन मुद्राओं पर अर्द्धचन्द्र के विद्यमान होने का उल्लेख हम कर चुके हैं।

(ई) तीसरा नेत्र आड़ा न होकर खड़ा है। नेत्र की यह रचना गुप्तकाल की साधारण परिपाटी बन गई थी, पर इस मस्तक के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इसका प्रारम्भ ढलते कुषाणकाल से हो गया था।

(उ) मुखाकृति पर भारतीयता कम है तथा भाव-सौन्दर्य का भी अभाव है।

गुप्तकालीन शिवमूर्त्तियों के मस्तकों में कम-से-कम दो का उल्लेख यहाँ आवश्यक है। एक, इस समय लन्दन में है (चित्र-सं० ११) जिसे **डॉ० स्टेला क्रेमरिश** ने प्रकाशित किया है[९३] और दूसरा, मथुरा में है, जो अन्यत्र प्रकाशित है।[९४] लन्दनवाले मस्तक में केशों को लम्बी घूँघरदार लटों की पंक्तियों में सँवारा गया है। इसमें विशेषता यह है कि शिव की नुकीली मूछें भी बनी हैं। वैसे मुखाकृति सौम्य है। मथुरावाले मस्तक में केश सुरुचिपूर्वक पीछे की ओर सँवारे गये हैं, पर उन्हें 'जटाभार' या 'जटामण्डल' का रूप नहीं दिया गया है।

इसी प्रसंग में हमें उन रुद्रमुखों पर भी ध्यान देना चाहिए, जिनका उपयोग गुप्तकाल से विश्वरूप विष्णु के प्रभामण्डल को बाँधने के लिए किया जाता था। इस प्रकार के दो अच्छे नमूने हमें प्राप्त हैं (ए० एम्० एम्०, ५४·३८२७, एस्० एम्० एल्०, जे० ६८३ सी)। इनमें से एक में केश-रचना भ्रमरक-पद्धति की है (रे० चि० २३) और कानों में चक्राकार कुण्डल पड़े हैं, किन्तु दूसरी मूर्त्ति में दोनों खड़े त्रिनेत्र से शोभित भैरव-मुख हैं। एक सिंहमुख से सुशोभित भी है (रे० चि० २५)।

(ख) सिंह के साथ शिव :

यह तो प्रसिद्ध है कि शिव का वाहन बैल है तथा उनकी अर्द्धांगिनी पार्वती सिंह पर बैठती हैं। परन्तु, प्रारम्भिक काल की कुछ प्रतिमाओं में शिव का भी सिंह के साथ स्पष्ट सम्बन्ध है। इस प्रकार की एक खण्डित मूर्त्ति पुरातत्त्व-संग्रहालय, मथुरा में है, जिसे **डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल** ने अनुमानतः शिव के रूप में पहचाना है।[९५] यह एक पुरुष-प्रतिमा का निचला भाग है, जिसका मस्तक और दाहिना हाथ खण्डित है। दाहिनी ओर पैर के पास एक ह्रस्वपाद स्थूलोदर गण बना है। मूर्त्ति के पृष्ठभाग पर नीचे की ओर एक बड़ा-सा सिंह बैठा हुआ दिखलाया गया है। यह प्रतिमा मथुरा जिले के माट नामक स्थान से मिली है, यहीं से हमें सिंहवाहिनी पार्वती की प्रतिमा भी प्राप्त हुई है (ए० एम्० एम्०, १२.२१४ ए)। इन मूर्त्तियों को कुषाणराजाओं के शिवोपासक होने की बात से मिलाकर **डॉ० अग्रवाल** ने माट के कुषाण-देवकुल में शिवमूर्त्ति के होने का अनुमान किया था।

कुछ ही दिन पूर्व कानपुर जिले के मूसानगर नामक स्थान से प्राप्त तथा वहीं के मुक्तादेवी-मन्दिर में संग्रहित एक वेदिका-स्तम्भ को देखने का मुझे सौभाग्य मिला, जिनपर अंकित शिव-प्रतिमाओं का अध्ययन करने पर मथुरावाली प्रतिमा की पहचान सरल हो गई। ये नवीन मूर्त्तियाँ प्रारम्भिक मूर्त्ति-विज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, अतएव यहाँ उनका सम्पूर्ण विवेचन अभीष्ट है।

कानपुर जिले का मूसानगर, यह स्थान पुरातत्त्वशास्त्रियों के लिए एक आवाहन है। मीलों फैले इस क्षेत्र में शुंग, कुषाण तथा मध्यकाल की मूर्तियाँ बिखरी पड़ी हैं। उनमें से अनेक को एकत्रित करके स्थानीय मुक्तादेवी के मन्दिर में सीमेण्ट से बुरी प्रकार चिन दिया गया है और उसे 'संग्रहालय' की संज्ञा दी गई है। कलापारखियों (?) के इस कलाप्रेम को देखकर आश्चर्य और खेद होता है। इसी संग्रह में प्रायः ई० स० की प्रथम शताब्दी का एक वेदिका-स्तम्भ है, जिसे 'कोण-स्तम्भ' कहना अधिक उपयुक्त होगा; क्योंकि इसके अगल-बगल पर ही कोराई की गई है।

दोनों पार्श्व तीन भागों में विभक्त हैं। दोनों ओर निचले दोनों खण्डों में प्रेमासक्त स्त्री-पुरुषों का एक-एक जोड़ा बना है तथा ऊपरवाले खण्डों में अगल-बगल शिव-प्रतिमाएँ अंकित हैं (रे० चि० १)। एक ओर द्विभुज शिव ऊर्ध्वमेढ़ स्थिति में खड़े हैं। दाहिना हाथ कन्धे तक अभयमुद्रा में उठा है और मुड़े हुए बाँये हाथ में घट है। बाल पीछे की ओर सँवारे गये हैं। शिव की दाहिनी ओर स्वामी की तरफ गरदन घुमाये सिंह खड़ा है तथा बाँये हाथ के नीचे मोटे पेट तथा छोटे पैरोंवाला एक गण दिखलाई पड़ता है। इनमें से अधिकतर बातों में यह पूर्ववर्णित मथुरावाली मूर्त्ति से मेल खाती है। ऊर्ध्वलिंग इसकी शिव के रूप में पहचान करने का सबल प्रमाण है।

दूसरी ओर की शिवमूर्त्ति इससे भी अधिक मनोवेधक है (रे० चि० २)। यहाँ द्विभुज शिव उष्णीष, कंकण आदि अलंकार पहने एक हत्थेदार ऊँचे आसन पर ललितासन में बैठे हैं, अर्थात् दाहिना पैर नीचे की ओर लटक रहा है और बाँये की पलथी लगी है। हाथों की स्थिति प्रथम प्रतिमा के समान ही है, ऊर्ध्वलिंग भी स्पष्ट रूप से विद्यमान है। आसन के नीचे सिंह दुबककर बैठा है। इस प्रकार, कई बातों में प्रथम मूर्त्ति से साम्य होते हुए भी यहाँ एक बहुत बड़ा अन्तर है। आसनस्थ शिव के दोनों कन्धों तथा गरदन के पीछे की ओर से तीन पुरुष प्रकट होते हुए दिखलाये गये हैं। तीनों द्विभुज हैं, अगल-बगलवाले तो मस्तक पर उष्णीष धारण किये हैं, परन्तु बीचवाला जटाजूट बाँधे हुए है, अवशिष्ट केश कन्धों पर छिटके हैं। दाहिनी ओरवाले पुरुष के हाथ ऊपर उठे हैं, परन्तु बाँईं ओरवाले का बाँया हाथ कन्धे को छू रहा है, दाहिना ऊपर उठा है। बीचवाले पुरुष के भी दोनों हाथ ऊपर हैं, जिनमें वह एक वर्त्तुलाकार तथा एक अर्धचन्द्राकार वस्तु धारण किये है। ये सूर्य-चन्द्र हैं, जो उस काल की एक वराह-मूर्त्ति के हाथ में भी पाये गये हैं।

ऊर्ध्वमेढ़[१६], भगप्रमथन[१७], महाशेफ[१८] आदि नाम धारण करनेवाले महादेव शिव की ही ये दोनों प्रतिमाएँ हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं; परन्तु उनके कन्धों से निकलनेवाली तीन प्रतिमाएँ तथा पासवाले सिंह की स्थिति अवश्य ही प्रश्नचिह्न बनकर सामने आती हैं।

प्रथम कन्धों से समुद्भूत होनेवाली मूर्त्तियों पर विचार करें। कुषाणकालीन मथुरा की कुछ अन्य मूर्त्तियों में भी यह परिपाटी अपनाई गई है; यथा चतुर्व्यूह विष्णु की मूर्त्ति (चित्र-सं० ए० एम्० एम्०, १४·३९२-९५), 'षड्व्यूहा' या षष्ठी देवी को विशाख और कार्त्तिकेय के साथ अंकित करनेवाली मूर्त्तियाँ (ए० एम्० एम्०, एफ्० ३, १५·७३९; ५४·३७६३; ६२·१९ आदि), षड्व्यूहा देवी की अकेली मूर्त्तियाँ (ए० एम्० एम्०, एफ्० २) इत्यादि। समकालीन गान्धार कलाकारों ने भी किंचित् परिवर्त्तन के साथ बुद्ध के रूप-वैविध्य को अंकित करने के लिए यह पद्धति अपनाई थी। कुषाण-कलाकार इस पद्धति का सहारा तब लेता था, जब उसे एक प्रमुख देवता को उसके अन्य स्वरूप या शरीर से उद्भूत होनेवाली अन्य शक्तियों या देवताओं के साथ, जिन्हें 'व्यूह' कहा जाता है, एक ही प्रतिमा के माध्यम से अंकित करना होता था।

अब प्रश्न यह उठता है कि मूसानगर के शिव की ये व्यूहमूर्त्तियाँ कौन हो सकती हैं? महाभारत में शिव के दक्षिण अंग से ब्रह्मा की उत्पत्ति, वामपार्श्व से विष्णु का प्राकट्य तथा युगान्त के समय रुद्र के सृजन होने की बात कही गई है।[९९] कूर्म-पुराण में शिव के 'चतुर्व्यूह' का उल्लेख है।[१००] वहाँ पर शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा तथा निवृत्ति को उनके व्यूह माना है।[१०१] परन्तु, कूर्मपुराणवाले उल्लेख पर अधिक जोर नहीं दिया जा सकता; क्योंकि एक तो यह पुराण उतना प्राचीन नहीं, दूसरे व्यूह बनानेवाली ये शैवी शक्तियाँ हैं, न कि पुरुष, जैसा कि प्रस्तुत मूर्त्ति में स्पष्ट है। महाभारतवाला उल्लेख प्राचीन है और मूसानगर की मूर्त्ति में बीचवाला पुरुष रुद्र रूप भी है, परन्तु अगल-बगलवाली पुरुष-मूर्त्तियों में ब्रह्मा और विष्णु के कोई स्पष्ट चिह्न लक्षित नहीं होते। दो अन्य सम्भावनाएँ भी प्रतीत होती हैं। एक तो यह कि कुषाणकाल में वासुदेव की चतुर्व्यूह मूर्त्ति ज्ञात थी,[१०२] हो सकता है कि उसकी देखादेखी शैवों का भी चतुर्व्यूह बन गया हो, जिसकी परिवर्त्तित प्रतिध्वनि कूर्मपुराण में गूँज रही है। दूसरी यह कि शिव के चारों मुखों को यहाँ मूर्त्त रूप में अंकित किया गया हो। शिव के चार मुखोंवाली बात निस्सन्देह कुषाणकाल तक कलाकारों के सम्प्रदाय में रूढ हो चुकी थी। यह समकालीन चतुर्मुख लिंगों से स्पष्ट है। इन लिंगों पर अंकित मुखों में एक मुख उष्णीष पहने तथा दूसरा जटाजूट पहने अवश्य रहता है (चित्र-सं० ३६—३९)।

अब सिंह की ओर मुड़ें। पुरातत्त्व-संग्रहालय, मथुरा की सिंह और गण से युक्त मूर्त्ति का उल्लेख हम कर चुके हैं, जिसे शिव माना गया है। वहीं पर एक दूसरी भी प्रतिमा है, जिसे शिव रूप में ही पहचानते हैं।[१०३] इसके सिर पर जटाजूट है, जिसकी ऊपरी गाँठ में जो माला बँधी है, उसके केन्द्र में सिंहमुख अलंकरण विद्यमान है। यह परम्परा गुप्तकाल में भी ज्ञात थी; क्योंकि ऐसा ही एक सिंहमुखयुक्त शिव-मस्तक इस काल के विश्वरूप विष्णु में भी दिखलाई पड़ता है (रे० चि० २५)। सिंह और शिव का सम्बन्ध बतलानेवाले अबतक के प्राप्त साहित्यिक उल्लेख निम्नांकित हैं:

(अ) महाभारत के अन्तर्गत शिव नामावली में शिव को 'सिंहग' और 'सिंह-वाहन' कहा गया है।[१०४]

(आ) वायुपुराण के अनुसार दक्ष का शिव को यज्ञ में निमन्त्रित न करना और यज्ञीय भाग के लिए उन्हें अनधिकारी उद्घोषित करना रुद्र के महान् क्रोध का कारण बना। ये क्रोध ही सिंह के रूप में प्रकट हुए। बाद में समस्त भूतों को विनष्ट होने से बचाने के लिए शिव ने उन्हें अपने ही प्रासाद में शृंखलाबद्ध कर रख छोड़ा।[१०५]

(इ) महाभारत में शिव-पार्वती के रथ में जुते हजार सिंहों का वर्णन है।[१०६]

यह सच है कि उपर्युक्त साहित्यिक उल्लेखों से सन्तोष नहीं होता, कदाचित् पौराणिक साहित्य में अधिक गहरे पैठने पर शिव और उनके सिंह पर अधिक प्रकाश पड़ेगा।[१०७]

(ग) चतुर्मुख शिव :

भीटा की वराह और सिंह से युक्त सर्वतोभद्र प्रतिमा की चर्चा हम कर चुके हैं तथा इस सम्भावना को भी व्यक्त कर चुके हैं कि उसमें अंकित स्थूलकाय मुक्तकेश द्विभुज प्रतिमा शिव की है। इस प्रतिमा से कई बातों में मेल खाती हुई, किन्तु लगभग डेढ़ सौ वर्ष बाद की एक अर्धाधिक घिसी-पिटी मूर्त्ति पुरातत्व-संग्रहालय, मथुरा में सुरक्षित है (सं० सं० ई० १२)। तीन फीट दस इंच ऊँची यह मूर्त्ति चारों ओर से उत्कीर्ण रही होगी। वर्त्तमान स्थिति में उसके सम्मुख भाग पर कलगीदार मुकुट पहने अभय-मुद्रा में स्थित एक पुरुष-प्रतिमा है। कदाचित् बायें हाथ में घट भी रहा होगा। अधोवस्त्र के चिह्न स्पष्ट हैं। इस मूर्त्ति की बाईं ओर एक पुरुष-मस्तक है, जिसपर कोई मुकुट नहीं है, अपितु सुरुचिपूर्ण ढंग से कंघी पर के बालों को पीछे की ओर मोड़ दिया गया है। उष्णीषधारी मूर्त्ति के ठीक पीछे एक छोटे पैरवाले स्थूलोदर पुरुष की मूर्त्ति बनी थी, जो अब सिर से उदरबन्ध तक पूर्ण नष्ट हो चुकी है। अतः यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि यहाँ मस्तक मुक्तकेश ही था। दाहिना हाथ मोड़कर छाती तक लाया गया है तथा बायें में कदाचित् कमण्डलु था। मुख्य मूर्त्ति के दाहिनी ओर भी एक मुख रहा होगा, जो अब नष्ट हो चुका है।

डॉ० अग्रवाल इस प्रतिमा को शिव मानते हैं और पाँचवें मुख के होने की सम्भावना बतलाते हैं।[१०८] मथुरा की यह मूर्त्ति भीटा की मूर्त्ति से निम्नांकित बातों में मेल खाती है :

(अ) दोनों प्रतिमाएँ सर्वतोभद्र हैं।

(आ) दोनों में द्विभुज उष्णीषिन्, और मुक्तकेश पुरुष-प्रतिमाएँ एक दूसरे के पीछे रही होंगी।

(इ) दोनों में उष्णीषिन् मूर्त्तियों के हाथों में कदाचित् कमण्डलु रहा होगा।

(ई) दोनों में अगल-बगल मुख बने थे।

महत्त्वपूर्ण अन्तर वराह और सिंह का है, जिसका समाधान अन्वेषणीय है। वैसे शिव को द्विमुख,[१०९] त्रिमुख,[११०] चतुर्मुख, पंचमुख,[१११] षड्मुख[११२] तथा अनेकमुख[११३] भी माना गया है।

(घ) शिव-पार्वती :

कुषाण-शासकों की मुद्राओं पर दिखलाई पड़नेवाली शिव-उमा की चर्चा हम कर चुके हैं। यह प्रकार समकालीन मूर्त्तिकला में भी बनता रहा। इस प्रकार की मूर्त्तियों में (म० सं० सं० ११·२१०६, ३४·२४६५)[११४] ऊर्ध्वलिंग शिव अपनी शक्ति के साथ आलिंगन-मुद्रा में खड़े हैं और पीछे है उनका वाहन बैल (रे० चि० ३३)।[११५] दोनों द्विभुज हैं तथा त्रिशूल, परशु आदि किसी आयुध-विशेष का चिह्न नहीं है।

गुप्तकाल में भी शिव-पार्वती का अंकन उतनी ही रुचि के साथ होता रहा। मथुरा-कला में इस काल की एक उभयमुखी खड़ी प्रतिमा मिल चुकी है (म० सं० सं० ३०·२०८४)।[११६] ऐसी कुमारगुप्त के काल की एक सुन्दर अभिलिखित मूर्त्ति कौशाम्बी से भी मिली है (चित्र-सं० १६)।[११७] अलंकरण आदि की दृष्टि से यह मूर्त्ति बड़ी सुन्दर है। प्रथम मूर्त्ति से इसमें महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि यहाँ शिव-पार्वती आलिंगन-मुद्रा में नहीं हैं। दाढ़ी-मूछोंवाले शिव के बाँये हाथ में कमण्डलु तथा पार्वती के बाँये हाथ में दर्पण है। शिव का दाहिना हाथ अक्षमाला के साथ अभय-मुद्रा में है। यज्ञोपवीत, ऊर्ध्वलिंग आदि कुषाणकालीन चिह्न यथास्थान बने हैं। शिव की कुषाणकालीन दाढ़ी आलंकारिक रूप में आ गई है, किन्तु तृतीय नेत्र अभी खड़ा नहीं, अपितु आड़ा ही बना है। लेखांकित होने के कारण स्पष्ट है कि कुमारगुप्त के समय तक आड़ा त्रिनेत्र भी चलता था।

(ङ) अर्धनारीश्वर :

एक ही मूर्त्ति में शिव-पार्वती का संयुक्त रूप से अंकन अर्धनारीश्वर के नाम से विख्यात है। जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं, यह प्रतिमा शिव-शक्ति, नर-नारी, ब्रह्म-माया आदि सृष्टि के द्वन्द्वात्मक मूल कारणों के संयोग का प्रतीक है। भारतीय विचारधारा के अनुसार, सृष्टि एक से दो तथा दो से अनेक रूपों में विकसित हुई है। विकसित होने का स्थान है योनि और विकसित करनेवाला है 'बीजी' और विकसित करने की शक्ति है 'बीज'। इसे ही क्रम से लिंगपुराण में विष्णु, शिव तथा ब्रह्मा कहा गया है।[११८] शिव का 'बीजी' यह नाम कूर्म में भी मिलता है।[११९] बीज चिरकाल तक दृश्य नहीं रहता; अतः महत्त्व बीजी और योनि का ही है। 'लिंगोद्भव प्रथम बीज', जिसे 'आदिसर्गिक बीज' कहा गया है, शिव का ही स्वरूप माना जाता है। कालपर्याय से इस बीज का योनि के साथ सम्पर्क होकर अण्ड की उत्पत्ति हुई, जहाँ से हिरण्यगर्भ के रूप में ब्रह्मा उत्पन्न हुए, जिन्होंने आगे चलकर सृष्टि बनाई।[१२०] आदिसर्गिक बीज और योनि का नैकट्य ही अर्धनारीश्वर का रूप है। हरिहर-प्रतिमा का भी यही रहस्य है, जिसकी विस्तृत चर्चा हम आगे करेंगे।

अर्धनारीश्वर रूपक का संकेत एक दूसरी कथा द्वारा भी मिलता है। ब्रह्मा की मानसिक सृष्टि की वृद्धि नहीं हो रही थी, अतः उन्होंने अपने पुत्रों के साथ घोर तप किया तथा 'भव' को सन्तुष्ट किया। 'भव' या 'शिव' ने ब्रह्मा के ललाट से स्वयं उनके पुत्र रूप में 'अर्धनारीश्वर' रूप में जन्म लिया और तब इसी अर्धनारी रूप से आगे की सृष्टि बनी।[१२१] मार्कण्डेयपुराण में सृष्टि के इन दो मूल तत्त्वों को 'क्षोभ्य' और 'क्षोभक'

के नाम से पुकारा गया है, जो वस्तुतः एक के ही दो तत्त्व हैं तथा संकोच और विकास से सृष्टि के कारण बनते हैं।[१२२]

मूर्त्तिविज्ञान के क्षेत्र में अर्धनारीश्वर का चित्रण हमें सर्वप्रथम कुषाणकाल की मथुरा-कला में मिलता है (रे० चि० ३५)।[१२३] पुरातत्व-संग्रहालय, मथुरा में सुरक्षित शिलापट्ट पर एक ही पंक्ति में अर्धनारीश्वर, विष्णु, गजलक्ष्मी तथा कार्त्तिकेय (?) अंकित हैं। अर्धनारीश्वर द्विभुज हैं तथा हाथों में कोई आयुध नहीं है। शरीर का दाहिना भाग पुरुष का एवं बाँया स्त्री का है, ऊर्ध्वलिंग और योनि का भी साथ-ही-साथ अंकन है। कभी-कभी इस प्रकार के साथ बैल भी दिखलाई पड़ता है। उत्तर-कुषाणकालीन सिक्कों पर अंकित अर्धनारीश्वर की चर्चा हम पहले कर चुके हैं।

गुप्तकाल में भी अर्धनारीश्वर का अंकन लोकप्रिय रहा। इस प्रकार की दो बहुत ही सुन्दर मूर्त्तियों के ऊर्ध्वभाग मथुरा-संग्रहालय में सुरक्षित हैं (रे० चि० ३४)।[१२४] मथुरा की ऊर्ध्वलिंगवाली परम्परा गुप्तकाल में वाराणसी तक पहुँची थी। सारनाथ-संग्रहालय में प्रदर्शित एक सर्वतोभद्र प्रतिमा में इस समय के चतुर्भुज अर्धनारीश्वर के दर्शन होते हैं।[१२५] अर्धनारीश्वर-प्रतिमाओं का राजस्थान में प्रचलन रहा। इस पद्धति की एक उत्कृष्ट मूर्त्ति झालवाड़ के संग्रहालय में है, जो ऊर्ध्वलिंग एवं योन्यंकित होते हुए चतुर्भुज है। पैरों के पास अगल-बगल पुरुष-रूप में वृष तथा मोर-युक्त कार्त्तिकेय बने हैं (चित्र-सं० २४)।[१२६] एक दूसरी आसनस्थ प्रतिमा मध्यप्रदेश में सागर से मिली है। बैठे हुए अर्धनारीश्वर का यह अनूठा उदाहरण है।[१२७]

विष्णुधर्मोत्तर, अंशुमद्भेदागम, उत्तरकामिकागम, सुप्रभेदागम, पूर्वकारणागम, शिल्परत्न आदि ग्रन्थों में अर्धनारीश्वर मूर्त्ति का विवरण मिलता है, जिनमें शिव का दाहिनी ओर होना तथा पार्वती का बाईं ओर होना सबको मान्य है। कुछ मूर्त्ति के द्विभुज होने तथा वहाँ बैल के बने रहने के पक्ष में है, परन्तु ऊर्ध्वलिंगवाली बात का उल्लेख केवल विष्णुधर्मोत्तर ही करता है। द्विभुज की अपेक्षा चतुर्भुज अर्धनारीश्वर के वर्णन अधिक हैं।

(च) लकुलीश :

ईसवी-सन् की पहली शताब्दी तक लकुलीश नामक आचार्य ने पश्चिमी भारत के कायावरोहण-तीर्थ में पाशुपत मत की स्थापना की थी।[१२८] इसकी मान्यता इतनी बढ़ी कि लकुलीश शिव का प्रतीक हो गया। लकुलीश प्रतिमा का मुख्य लक्षण ऊर्ध्वलिंग होना तथा डण्डा लिये रहना है। अबतक की ज्ञात प्रतिमाओं में राजस्थान के नादगाँव के शिवलिंग पर अंकित लकुलीश को प्राचीनतम मानना होगा।[१२९] यहाँ उष्णीषधारी शिव को आसन पर दोनों पैर रखे बैठा दिखलाया गया है।

लकुलीश की एक गुप्तकालीन मूर्त्ति मथुरा-संग्रहालय में है (चित्र-सं० १५, सं० सं० ४५·३२११)। यहाँ वे द्विभुज हैं, बाईं केहुनी पर दण्ड सँभाला गया है और दोनों हाथ व्याख्यान-मुद्रा में हैं। घुटनों पर योगपट्ट भी दिखलाई पड़ता है। इसी काल में खड़े लकुलीश के भी दर्शन होते हैं। मथुरा-संग्रहालय में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय का एक अभिलिखित स्तम्भ है (चित्र-सं० १३, सं० सं० २९·१९३१) जिसपर नग्न और मुक्तकेश

दण्डधारी लकुलीश दिखलाई पड़ते हैं। अहिच्छत्रा के मृत्फलकों में भी **डॉ० अग्रवाल** ने लकुलीश को पहचानने का यत्न किया है,[१३०] किन्तु वह सन्देहातीत नहीं है।

दण्ड और ऊर्ध्वलिंग लकुलीश के चिह्न माने जाते हैं, किन्तु प्रारम्भिक काल की जिन मूर्तियों का अभी हम उल्लेख कर आये हैं, उनमें समान रूप से ये दोनों चिह्न नहीं मिलते। 'लकुलीश' (या लगुडीश=लगुडेश) नाम से शिव के इस ध्यान में दण्ड का होना अपरिहार्य लगता है। नाँद-मूर्त्ति में दण्ड के विषय में कुछ नहीं कह सकते, गुप्तकालीन माथुरी मूर्त्तियों में दण्ड तो हैं, पर एक में (सं० सं० २६·१६३१) ऊर्ध्वलिंग नहीं है। लगता है कि ढलते गुप्तकाल में ये दोनों चिह्न एक साथ आ गये। यह भी सम्भव है कि लकुलीश का लगुड गान्धार शिव की गदा का परिवर्द्धित रूप हो।[१३१]

(छ) दक्षिणामूर्त्ति :

गुप्तकालीन लकुलीश मूर्त्ति से मिलती-जुलती प्रतिमा दक्षिणामूर्त्ति की है। योग-शास्त्र के आचार्य के रूप में शिव का यह ध्यान दक्षिण में विशेष रूप से प्रचलित है। **श्रीराव** ने इस रूप के योग, वीणा, ज्ञान और व्याख्यान नाम से चार भेद गिनाये हैं।[१३२] गुप्तकाल से पहले के किसी दक्षिणामूर्त्ति का हमें पता नहीं है। गुप्तकाल की तीन मूर्त्तियों को इस नाम से पहिचाना गया है : एक तो देवगढ़वाली प्रतिमा, जिसे अधिकतर नरनारायण नाम से पुकारते हैं,[१३३] दूसरे अहिच्छत्रा के मृत्फलक पर अंकित वृक्षपात्रधारी शिव[१३४] और तीसरी वाराणसी के तिलभाण्डेश्वर के मन्दिर में स्थित विशाल मूर्त्ति[१३५] (चित्र-सं० १७)। इनमें वाराणसीवाली मूर्त्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। विशाल वृक्ष के नीचे ऊर्ध्वलिंगी कुंचितकेशधारी शिव दण्ड के साथ व्याख्यान-मुद्रा में बैठे हैं, योगपट्ट बँधा हुआ है तथा अगल-बगल चार शिष्य भी विराजमान हैं। ये चार शिष्य कदाचित् चार शैव आचार्य कुशिक, गार्ग्य, मैत्रेय और करुष हों, जिनका उल्लेख पुराणों और शिलालेखों में आता है।[१३६] ये चारों आचार्य लकुलीश के शिष्य हैं और लकुलीश तथा व्याख्यान दक्षिणामूर्त्ति में बड़ा साम्य है। दक्षिणामूर्त्ति के ध्यान की बहुत-सी बातें, यथा व्याख्यान-मुद्रा, पैरों के पास दो हिरन, उनका चार शिष्यों से घिरा रहना, वृक्ष के नीचे आसन आदि स्पष्टतया बौद्ध प्रभाव सूचित करती हैं।

लकुलीश की मूर्त्तियाँ अधिकतर पूर्व में उड़ीसा और पश्चिम में गुजरात तथा काठियावाड़ के भू-भाग में मिलती हैं।[१३७] इसके विपरीत, **श्रीशिवराममूर्त्ति** के कथनानुसार, मध्यकाल से उत्तर भारत में दक्षिणामूर्त्ति शिव दुर्लभ हो जाते हैं तथा भिक्षाटन, कंकाल, सोमास्कन्द आदि शिवमूर्त्तियों की भाँति दक्षिण भारत तक ही सीमित रहते हैं।[१३८] यद्यपि वाराणसी में दक्षिणामूर्त्ति की कुछ मूर्त्तियाँ विद्यमान हैं, तथापि **श्रीशिवराममूर्त्ति** के कथन को इस रूप में मानना होगा कि योग, ज्ञान और व्याख्यान मुद्रावाले दक्षिणामूर्त्ति मुख्यतया दक्षिण भारत में अधिक मिलते हैं।

वीणा लिये हुए शिव को वीणादक्षिणामूर्त्ति के नाम से पहचाना जाता है। उत्तर भारत में इस ध्यान के तीन अन्य रूप मिलते हैं। एक में वीणापाणि शिव वृष और पार्वती के साथ खड़े दिखलाई पड़ते हैं,[१३९] दूसरे में नृत्य करते हुए वीणा लिये रहते हैं[१४०]

और तीसरे में वीणा लिये मातृकापट्ट पर स्थित दिखलाई पड़ते हैं ।[१४१] अन्तिम रूप में इन्हें वीरभद्र के नाम से भी पहचाना जाता है ।[१४२] इन सब रूपों में प्रथम प्रकार की मूर्त्ति प्राचीनतम, अर्थात् ढलते गुप्तकाल की लगती है, जो देहरादून के लाखामण्डल-क्षेत्र से मिली है । शेष रूप मध्यकाल के हैं ।

(ज) रावणानुग्रह-मूर्त्ति :

मध्यकाल में यह प्रकार बड़ा लोकप्रिय हुआ, परन्तु इसका प्रारम्भ गुप्तकाल से ही हो चुका था । गर्व से उन्मत्त रावण ने शिव-पार्वती से युक्त समूचे कैलास को उखाड़ डालने का निश्चय किया। पर्वत कम्पित हो उठा और उमा भयभीत हो गईं। इसपर शिव ने पैर के अँगूठे से कैलास को दबा दिया। साथ ही जब रावण भी दबने लगा, तब उसने क्षमा-याचना की ।[१४३] गुप्तकाल की मथुरा-कला में इस दृश्य का अंकन हुआ है, जिसे अबतक की ज्ञात मूर्त्तियों में प्राचीनतम मानना चाहिए (रे० चि० ३१।)[१४४] यहाँ रावण को केवल राक्षस-रूप में ही अंकित किया गया है। उसके बहुभुजी, बहुमुखी होने तथा गदहे के सिरवाली बातें कई शताब्दियों बाद कलाकारों द्वारा अपनाई गई ।

(झ) भिक्षाटन-मूर्त्ति :

शिव की इस प्रकार की मूर्त्ति का विशेष विवरण आगमों में मिलता है,[१४५] जो दक्षिण भारत की धारा से अधिक मेल खाता है। किन्तु, इसमें सन्देह नहीं कि भिक्षा माँगनेवाले शिव को उत्तर भारत के कलाकारों द्वारा भी अंकित किया जाता था । दोनों धाराओं में निम्नांकित बातें समान हैं :

(क) जटामण्डल ।

(ख) सभी आभरणों से शोभित विग्रह ।

(ग) नाभि तक उठे हुए बायें हाथ में कपाल अथवा भिक्षापात्र ('नाभिदघ्नं कपालहस्तपृष्ठम्') ।

(घ) तीन मुण्डों से शोभित मस्तक ।

इस प्रकार की एक सुन्दर मूर्त्ति लखनऊ के संग्रहालय में है (चित्र-सं० १८, सें० सं० एच् १०४), जो ढलते गुप्तकाल की है । इसमें उपर्युक्त सभी विशेषताएँ हैं, परन्तु इसके साथ-साथ इसमें जो एक और बहुत बड़ी विशेषता है, वह है आयुध-पुरुष के रूप में त्रिशूल का अंकन। महाभारत में शिव के 'विजय' नामक त्रिशूल का इस प्रकार से मानव-रूप में वर्णन मिलता है।[१४६] वैसे तो वहाँ त्रिशूल के साथ-साथ पिनाक, पाशुपत अस्त्र नामक बाण, परशु आदि अन्य शैव आयुधों को भी मानव-रूप में बतलाया गया है।[१४७] यह पद्धति गुप्तकाल की देन थी ।

शिव के भिक्षाटन की विशेष कथा पद्मपुराण में आती है।[१४८] तदनुसार, सहस्रों वर्ष चलनेवाले ब्रह्मा के यज्ञ में 'पंचमुण्डों' से अलंकृत 'बृहत्कपालधारी' शिव भिक्षा प्राप्त करने के लिए पहुँचे तथा उन्होंने अन्न की याचना की । ब्रह्मा के 'हाँ' कहने पर वे अपना कपाल वहीं रखकर स्नान करने के लिए पुष्कर तीर्थ पर गये। इसी बीच अपवित्र कपाल को यज्ञमण्डप से हटाने के लिए ब्रह्मा ने यत्न किया, किन्तु एक कपाल के उठाने पर वहीं

दूसरा कपाल प्रकट होने लगा। इस प्रकार, अनेक कपालों की सृष्टि हुई और अन्त में ब्रह्मा शिव को पुरोडाश का भाग देने पर राजी हो गये।

(ञ) गजासुरवध-मूर्त्ति :

पौराणिक कथा के अनुसार शिव ने गजासुर नामक राक्षस का वध किया था, तथा उसके चमड़े को स्वयं ओढ़ लिया था। इस कथा के अलग-अलग रूप मिलते हैं और घटनास्थल दक्षिण भारत के तंजौर जिले का वलुवुर गाँव माना जाता है।[१४९] स्पष्टतः, दक्षिण में इस रूप की कई मूर्त्तियाँ मिलती हैं।

शिवराममूर्त्तिजी का कहना है कि उत्तर भारत की इस सम्बन्ध में भिन्न परम्परा थी। यहाँ गजासुर-संहार और अन्धकासुर-संहार को एक साथ मिला देते थे, बंगाल में तो इसके साथ भैरव का भी सम्मिश्रण होता था।[१५०]

अंकुश लिये हुए शिव तथा हाथी पर बैठे हुए शिव को हम कुषाण-कला में देख चुके हैं। कुषाण-कला में ही शिव का वाहन बैल और शिव द्वारा उसके चमड़े का उपयोग करना हमने देखा है। गुप्तकाल में बैल को कन्धे पर ढोने की बात भी हम देख चुके हैं। गजासुरवध-मूर्त्ति में ठीक वही बात हाथी के बारे में भी देखी जाती है। उत्तर भारत में गुप्तकाल से ही गजासुर वध-मूर्त्ति चल पड़ी थी, इसमें कोई सन्देह नहीं; क्योंकि इसका प्रत्यक्ष उदाहरण भीतरगाँव के मृत्फलकों में विद्यमान है। किन्तु, दुर्दैव से यह मृत्फलक इतना अधिक खण्डित हो चुका है कि मूर्त्ति को पहचानने के अतिरिक्त आयुध, हाथ, आदि के विषय में कुछ भी नहीं बतलाया जा सकता।[१५१]

प्रारम्भिक मध्यकाल की एक विशाल गजासुर-वध-प्रतिमा ग्वालियर के किले में पर्वत की चट्टान पर उकेरी हुई है, किन्तु वह भी बहुत अधिक टूट-फूट चुकी है और विशेष ध्यान दिये बिना स्पष्ट नहीं होती।

(ट) भैरव-मूर्त्ति :

महाभारत में कहा गया है कि वेदज्ञ ब्राह्मणों ने शिव के दो शरीर माने हैं, एक 'शिव' या सौम्य तथा दूसरा 'घोर'।[१५२] इन्हीं दो तनुओं से उनके अनेक रूपों का प्राकट्य होता है। शिव के घोर रूप का दर्शन महाभैरव के रूप में अहिच्छत्रा के मृत्फलक पर होता है, जिसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं (चित्र-सं० १६)। इसके अतिरिक्त, कुषाण-पूर्वकाल से शिव के मुखलिंगों में हमें उनके 'अघोर' मुख के दर्शन बराबर होते हैं (रे० चि० २१)।

(ठ) नृत्य-मूर्त्ति :

शिव के अनेक रूपों में उनका नर्त्तक का रूप भी बड़ा प्रसिद्ध है। ताण्डव के साथ शिव का अटूट सम्बन्ध है। शिव के इस रूप का प्रचार दक्षिण भारत में खूब हुआ, यहाँतक कि अपस्मार-पुरुष की पीठ पर ताण्डव करनेवाले प्रलयंकर महानट शिव की कांस्य-प्रतिमा दक्षिण भारत का बहुमान्य प्रतीक बन गई। उत्तर भारत में शिव की नृत्य-मूर्त्तियाँ कम संख्या में मिलती हैं, किन्तु उनका प्रारम्भ गुप्तकाल से हो जाता है। नचना कुठारा से नृत्यरत चतुर्भुज शिव की गुप्तकालीन खण्डित प्रतिमा प्राप्त हुई है[१५३]

(रे० चि० ३०)। शिव के ऊपर उठे हुए दाहिने हाथ में कोई अस्पष्ट वस्तु है। **डॉ० अग्रवाल** के मतानुसार, यह प्रतिमा भारतीय कला में ताण्डव-अलंकरण का सबसे प्राचीन उदाहरण लगती है।

(ड) हरिहर-प्रतिमा :

शिव और विष्णु की संयुक्त प्रतिमा भी सृष्टि के उत्पादन की ओर ही संकेत करती है। यही बात अर्धनारीश्वर-मूर्त्ति के पीछे भी है, जिसकी चर्चा हम पहले कर आये हैं। यहाँ अन्तर केवल इतना ही है कि उमा का स्थान विष्णु ले लेते हैं और शिव के वामांग में स्थित दिखलाई पड़ते हैं। हरिहर का सुन्दर वर्णन वायुपुराण में मिलता है। वहाँ एक[१५४] स्थान पर विष्णु के मुख से कहलाया गया है कि सर्वप्रथम बीजरूप में आदिसर्गिक लिंग बना, बाद में विष्णु-रूप योनि के साथ समायुक्त होकर काल-पर्याय से हिरण्मय अण्ड बना, जिससे आगे ब्रह्मा और समस्त सृष्टि विनिर्मित हुई। उसी पुराण में दूसरी जगह[१५५] विष्णु के वाम भाग में रहने की बात बतलाते हुए शिव को 'पुरुष' 'ज्ञेय', 'सत्य', 'यज्ञफल' तथा विष्णु को 'प्रकृति', 'ज्ञान', 'अनृत', 'यज्ञ' आदि नामों से पुकारा गया है। पद्मपुराण में[१५६] शिव के लिंग को ब्रह्मा तथा भग को जनार्दन कहा गया है, जो सृष्टि के आदिकारण हैं। विष्णु का स्त्री-रूप धारण कर शिव के साथ घूमने का उल्लेख कूर्मपुराण में भी है।[१५७] इसी प्रसंग में मोहिनी-रूप में विष्णु के सौन्दर्य को देखकर उनपर शिव के आसक्त होने एवं 'प्रमुषितेन्द्रिय' अवस्था में उनके पीछे दौड़ने की भागवतपुराणवाली[१५८] कथा की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना अप्रासंगिक न होगा। दक्षिणी परम्परा के अनुसार शिव और मोहिनी के संयोग से जो पुत्र उत्पन्न हुआ, वह विशेषतया मल्यालियों में आर्य, अय्यनार, शास्ता, हरिहरपुत्र आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ। और मल्यालम्-भूभाग के संरक्षक के रूप में एक प्रमुख देवता बन गया। इसकी प्राचीनता एवं लोकप्रियता का वर्णन करते हुए **श्रीगोपीनाथ राव** ने बतलाया है कि जिस प्रकार उत्तर भारत के वैयाकरणों में पतंजलि के समय से ही उदाहरणों के लिए 'देवदत्त' नाम लोकप्रिय था, उसी प्रकार तमिल-वैयाकरणों में 'शास्तन्' या 'शास्ता' था।[१५९] लगता है कि मूलत: दक्षिण भारत की यह प्राचीन परम्परा श्रीमद्भागवत में आकर समाविष्ट हो गई।

शिव और विष्णु के संयोग की बात उत्तर भारत में भी किसी रूप में ज्ञात रही होगी; क्योंकि विदिशा से हमें लगभग चौथी शताब्दि की एक विशाल हरिहर-प्रतिमा मिली है (चित्र-सं० २६), जो स्पष्टतया ऊर्ध्वलिंगावस्था में है। ठीक यही बात कुषाण-कालीन अर्धनारीश्वर में दिखलाई पड़ती है। हरिहर की यह मूर्त्ति इस समय दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित है। इसके कुछ बाद की, किन्तु इससे कहीं अच्छी सुरक्षित मूर्त्ति कलकत्ता के बिरला-अकादमी-संग्रहालय में हैं। इसके केवल पैर ही खण्डित हैं। मूर्त्ति के चार हाथ हैं--ऊपरवाले हाथों में त्रिशूल और चक्र है और नीचे के हाथों में अक्षमाला और शंख। शिव का जटाभार, अर्धचन्द्र एवं व्याघ्राम्बर तथा विष्णु का सिंह-मुखांकित मुकुट तो दर्शनीय है ही, पर इससे अधिक महत्त्व की बात है हरिहर का ऊर्ध्वलिंग, जिसे कलाकार ने स्पष्टतया अंकित किया है।

इस विशाल मूर्ति के अतिरिक्त इस काल की किसी सम्पूर्ण मूर्त्ति का हमें ज्ञान नहीं है, किन्तु किसी दूसरी ऐसी ही बड़ी मूर्त्ति का सिर मथुरा-संग्रहालय में सुरक्षित है (चित्र-सं० २५ए, म० सं० सं० १७·१३३३)। वहाँ पर एक दूसरा छोटा मस्तक भी विद्यमान है।[१६०] कुछ बाद की एक तीसरी प्रतिमा का मस्तक, जो मथुरा की ही कृति है, वाराणसी के भारत-कला-भवन में संग्रहित है।

गुप्तकाल की हरिहर-मूर्त्ति का एक सुन्दर नमूना प्रयाग के संग्रहालय में एक चतुर्मुख प्रतिमा के रूप में विद्यमान है। वराह, शिव (?) और अनन्त के साथ चतुर्भुज हरिहर बने हैं (प्र० सं० सं० २९२)। दोनों के आयुध-पुरुषों के रूप में त्रिशूल-पुरुष और चक्रपुरुष भी विद्यमान हैं।[१६१] विष्णु के ऊपरी हाथ में शंख है, शिव के ऊपरी हाथ की वस्तु अस्पष्ट है। व्याघ्राम्बर एवं पीताम्बर तथा जटाएँ और मुकुट अवलोकनीय हैं। विदिशावाली मूर्त्ति कदाचित् द्विभुज रही हो, पर प्रयागवाली चतुर्भुज है।

चण्डिमऊ की शिवकथाएँ :

शिवकथाओं का क्रमबद्ध अंकन प्रारम्भिक भारतीय कलाओं में बहुत कम मिलता है। बिहार के चण्डिमऊ नामक स्थान से प्राप्त कुछ खम्भों पर[१९५] गंगावतरण, शिव द्वारा मानिनी पार्वती को मनाने का प्रयास, गणों का नृत्य, अर्जुन द्वारा पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिए तपस्या (चित्र-सं० १४), किरात के साथ युद्ध आदि कथाएँ अंकित हैं।

यहाँ शिव की निम्नांकित विशेषताएँ अवलोकनीय हैं :

१. जटाजूटधारी शिव के माथे पर अर्द्धचन्द्र तथा कन्धे पर एक फणवाला साँप है। शिव के साथ साँप कदाचित् अब से आगे दिखलाई पड़ने लगते हैं।
२. शिव ऊर्ध्वलिंग अब भी हैं।
३. साधारणतया शिव द्विभुज हैं, पर जब वे अर्जुन के आराध्य के रूप में प्रकट होते दिखलाये गये हैं, तब वे स्थूलकाय चतुर्भुज हैं।
४. कतिपय स्थानों पर शिव का यज्ञोपवीत भी है।
५. त्रिशूल, डमरू, वृष आदि का कहीं पता नहीं है।
६. सभी स्थानों पर खड़ा त्रिनेत्र है। शिव का साधारणतया रूप सौम्य है।

तथाकथित गंगावतरणवाले दृश्य (रे० चि० ३९) में गंगा के पीछे मालाधारी कपोत (?), पार्वती-अनुनयनवाले दृश्य में पर्वत पर शिव द्वारा पार्वती का हनग्रहण, पार्वती के पीछे बालक को गोद में लेकर चली जानेवाली स्त्री आदि कई बातें दृश्यों की पहचान के विषय में पुनर्विचार के लिए प्रेरित करती हैं।

संग्रहालय के अधिकारियों द्वारा ये गुप्तकाल की चीजें मानी गई हैं, जो वस्तुतः ढलते गुप्तकाल की प्रतीत होती हैं।

शिवमूर्त्ति की देशगत विशेषताएँ :

तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर शिवमूर्त्ति-विज्ञान की तीन धाराएँ दिखलाई पड़ती हैं। प्रथम धारा की विलास-भूमि मध्य एशिया से उत्तर-पश्चिमी भारत तक थी। इसे हम उत्तर पश्चिमी धारा कहेंगे। दूसरी वह, जो मथुरा के आसपास थी। इस

माथुरी धारा पर प्रथम धारा का कुछ प्रभाव है। इसका क्षेत्र राजस्थान तक फैला लगता है। तीसरी धारा दक्षिण भारत की धारा है। इसपर उत्तर का प्रभाव पड़ा अवश्य, किन्तु उसके होते हुए भी वह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व आजतक बनाये रखने में समर्थ हुई। अब नीचे की पंक्तियों में हम इन तीन धाराओं पर स्वतन्त्र रूप से विचार करेंगे।

उत्तर पश्चिमी धारा :

प्राचीन काल से ही इस बात के प्रमाण मिलने लगते हैं कि 'लोकधर्म' और 'शास्त्रीय धर्म' इन दोनों दृष्टियों से शिव की पूजा और मान्यता मध्य एशिया तक थी।[१६२] प्राचीन कापिशी और वर्त्तमान काफ़िस्तान में शिव-देवता का मन्दिर था। वंक्षु नदी के दक्षिण मूजवन्त-प्रदेश में, जिसे इस समय मूंजान कहते हैं, वैदिक काल में ही रुद्र की मान्यता थी।[१६३] अथर्ववेद में मूंजवान्-प्रदेश के साथ महावृष-प्रदेश का भी उल्लेख है (ओकोऽस्य मूजवन्तः ओकोऽस्य महावृषः)। महावृष देश में महान् वृष या बैल जिनका लांछन है, ऐसे शिव या महादेव की पूजा प्रचलित रही होगी।[१६४] महाभारत से हमें पता चलता है कि गान्धार में शिवोपासना बहुत पहले से प्रचलित थी। विवाह से पूर्व ही गान्धारी ने शिव से सौ पुत्र प्राप्त होने का वरदान पाया था।[१६५] इसी ग्रन्थ में अन्यत्र शिव की नामावलि में एक नाम 'गान्धार' भी दिया गया है।[१६६] शतपथब्राह्मण बतलाता है कि शिव प्राच्यदेश में 'शर्व' और वाहीक देश में 'भव' नाम से लोकप्रिय थे।[१६७] शिव का कैलास पर निवास, उनकी विचित्र प्रकार की वेशभूषा, गिरि-कन्या से परिणय, आदि अनेक बातें उनके पर्वत-प्रदेश से सम्बद्ध होने की ओर संकेत करती हैं।

पुरातत्त्व से भी यह प्रमाणित होता है कि अखण्ड भारत के उत्तर-पश्चिम में स्थित प्रदेशों में बौद्धधर्म के साथ-साथ शैवमत का भी प्रचार रहा। **प्रोफेसर रोजेनफील्ड** का कथन है कि 'साधारणतया हिन्दू-सम्प्रदाय कुषाण शहर के पश्चिमी भाग में क्रमशः दृढ़ हो रहे थे। ईसवी-सन् की तृतीय शताब्दि तक हिन्दुकुश के उत्तरी भाग में शिववाली मुद्राओं की प्रधानता रही। अफगानिस्तान के, काबुलवाली घाटी के भाग तथा गान्धार में चौथी एवं पाँचवीं शताब्दि तक की हिन्दू-धर्म की मूर्त्तियाँ अधिकता से मिली हैं।'[१६८] कुषाण और कुषाणों से पहले की मुद्राओं से मिलनेवाली सामग्री का हम पिछले पृष्ठों में विचार कर चुके हैं। यह स्पष्ट है कि ईसा की पहली चार शताब्दियों में इस भूभाग में बौद्ध और शैव दोनों मत विद्यमान थे, पर कदाचित् बौद्धों का प्रभाव अधिक था। हूणों के आक्रमण के बाद कम-से-कम स्वात में प्रायः छठी-सातवीं शताब्दि में बौद्ध, विशेषतया हीनयानी, प्रभावहीन हुए और शैव मतों ने पुनः जोर पकड़ा।[१६९] शाही राजाओं के काल (प्रायः सातवीं-नवीं शती) में बनी हुई कई शैव प्रतिमाएँ हमें ज्ञात हैं। इस प्रदेश से मिली हुई प्रारम्भिक शैव प्रतिमाओं की निम्नांकित तालिका[१७०] बन सकती है :

१. स्वात (प्राचीन उड्डियान) से मिली शिव की षड्भुज प्रतिमा।[१७१] यह प्रतिमा पर्याप्त खण्डित है, परन्तु शिव के द्वारा पहना हुआ कवच स्पष्ट है। शिव का वज्र के साथ सम्बन्ध कुषाण-मद्राओं पर भी देखा जा सकता है।

२. सग्रोझ्मा-कला से मिली त्रिमुख शिव की प्रतिमा।[१७२] इसमें कुछ विद्वानों के मतानुसार यूनानी देवता झियस (Zeus), पोसेडान (Poseidon) तथा हरक्यूलिस (Heracles) की प्रतिमाओं का सम्मिलित प्रभाव है। शिव और हरक्यूलिस का सम्बन्ध मुख्यतया गदा के आधार पर स्थापित करने का प्रयास इटालियन विद्वान् द्वारा किया जा चुका है।[१७३] सग्रोझ्मा-कलावाले शिव के हाथों में गदा (club=leontis), त्रिशूल तथा Hesperides के सेव (apple) स्पष्ट हैं। यह प्रतिमा इस समय मज़ार-ए-शरीफ़ के संग्रहालय में सुरक्षित है।

३. बटकरा (Butkara I) शिलापट्ट, जिसपर लिंग की पहचान की गई है।[१७४]

४. उत्तर कुषाणकालीन एक मुहर पर अंकित वृषारूढ चतुर्भुज शिव, जो हाथों में गदा, त्रिशूल तथा पाश लिये हैं। यहाँ पर कन्धों से विनिःसृत होनेवाली अग्निशिखाएँ भी अवलोकनीय हैं, जो रुद्र और अग्नि को एक रूप माननेवाली परम्परा की ओर संकेत करती हैं।[१७५]

५. तक्षशिला के धर्मराजिक स्तूप से प्राप्त खण्डित शिलापट्ट, जिसपर बैल के साथ शिव अंकित हैं। दुर्भाग्य से यहाँ कमर के ऊपर का भाग खण्डित है।[१७६]

६. सिरकप से प्राप्त एक गोल ताँबे की मुहर, जिसपर एक प्रतिमा अंकित है। इसे नृत्यरत शिव की मूर्त्ति माना गया है।[१७७] हाथों में कोई आयुध नहीं है।

७. वहीं से मिली हुई गोल कुषाणकालीन मुहर, जिसपर ब्राह्मी एवं खरोष्ठी अक्षरों में 'शिवरच्छितस' नाम के साथ शिव-प्रतिमा अंकित है।[१७८] शिव के दाहिने हाथ में गदा तथा बाँये हाथ में शूल (?) है।

कुषाणकाल के बाद प्रसृत शैवमत की ओर संकेत करनेवाली शिव-प्रतिमाएँ निम्नांकित हैं :

८. बुद्ध, अवलोकितेश्वर, वज्रपाणि आदि के साथ मिली एकाकी शिव की कुछ प्रतिमाएँ जो **डॉ० टॉडी** के कथनानुसार अभी अप्रकाशित हैं। इनका संग्रह **सर आरेल स्टेन** तथा पाकिस्तान में काम करनेवाले इटली के पुरातत्त्व-दल (Archaeological Mission) ने किया है और इस समय सैदूशरीफ़ के स्वात-संग्रहालय में रखी हुई हैं।

९. सुपल बाँदा से प्राप्त चट्टानी शिलापट्ट, जिसपर बोधिसत्त्व के साथ शिव अंकित हैं।[१८०]

१०. पेशावर-संग्रहालय की त्रिमूर्त्ति (रे० चि० २८) जो चारसद्दा (प्राचीन पुष्कलावती) से बारह मील उत्तर अख़ून ढेरी से प्राप्त हुई थी।[१८१] नीले सिल्हेटी पत्थर की इस मूर्त्ति में त्रिशूल, वज्र तथा घट स्पष्ट हैं।

कन्धे पर यज्ञोपवीत पड़ा है। चित्र में ऊर्ध्वलिंग स्थिति का भी भास होता है। **श्रीग्रय्यर** ने वायुपुराण का उद्धरण देते हुए इसे ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव की संयुक्त मूर्त्ति माना है,[१८२] जो सन्देहातीत नहीं है।

११. पेशावर-संग्रहालय में सुरक्षित नीले सिल्हेटी पत्थर का बना शिवलिंग।[१८३] इसमें लिंग-भाग पर भैरव, महादेव श्रौर उमा के मुख बने हैं।

लगभग सातवीं शताब्दि के बाद शाही राज्यकाल में शैवधर्म का जो पुनरुत्थान हुग्रा, उसके फलस्वरूप गान्धार ग्रौर स्वात-क्षेत्र से शिव की कई प्रतिमाएँ मिली हैं;[१८४] परन्तु हम यहाँ उनका विवेचन नहीं करेंगे; क्योंकि वे हमारी पूर्वनिर्धारित काल-सीमा से बाहर पड़ती हैं। एक बात ग्रवश्य ही ध्यान देने योग्य है। इनमें से ग्रधिकतर मूर्त्तियों में शिव का एक ग्रायुध गदा है। शिव की गदा ग्रौर ऊर्ध्वलिंग इस देश की कुषाणकालीन परम्परा प्रतीत होती है। यहाँ शिव की देखादेखी गुप्तकाल में गणेश को भी वैसा ही ग्रंकित किया गया है।[१८५]

उपर्युक्त मूर्त्तियों का ग्रध्ययन करने पर संक्षेप में शिवमूर्त्तियों की उत्तर-पश्चिमी धारा की निम्नांकित विशेषताएँ मानी जा सकती हैं :

(क) इन मूर्त्तियों पर यूनानी देवता हरक्यूलिस एवं पोसेडीन का प्रभाव है।

(ख) ग्रायुधों में गदा (**DAK.**, VIII.164), पाश (**DAK.**, IX-209, 229), वज्र (**DAK.**, VIII.159-60), चक्र (**DAK.**, VIII.163) ग्रादि का ग्रंकन तथा कभी-कभी ग्रंकुश, मृग एवं त्रिशूल-परशु दिखलाई पड़ते हैं।

(ग) ग्रर्धचन्द्र का प्रारम्भ यहीं से हो जाता है।

(घ) ऊर्ध्वलिंग का ग्रंकन सामान्य है।[१८६]

(ङ) हाथों की संख्या दो या चार दिखलाई पड़ती है। संयुक्त मूर्त्तियों से यह ग्रधिक है।

(च) इस भू-भाग में एकमुख शिव के साथ त्रिमुख शिव-विग्रह लोकप्रिय थे।

(छ) त्रिनेत्र के ग्रंकन के बारे में मुद्राग्रों की सामग्री से कोई निश्चयात्मक बात जानना सम्भव नहीं है, पर मूर्त्तियों में हम उसे पाते हैं।

(ज) बैल जब शिव के साथ रहता है, तब उनकी पीठ के पीछे खड़ा या कभी उनका ग्रासन बना दिखलाई पड़ता है। क्वचित् वाहन के रूप में हाथी का भी उपयोग किया गया है।

(झ) उत्तरीय के रूप में किसी पशु के कच्चे चमड़े का उपयोग लक्षित होता है। यद्यपि इसे कुछ विद्वानों ने सिंह-चर्म माना है, तथापि उसके वृषचर्म होने की सम्भावना भी कम नहीं है।

(ञ) शिव की पत्नी के रूप में उमा तथा मुद्राग्रों में नना भी ग्रंकित की गई है।

(ट) उत्तर कुषाणकाल में पार्वती दर्पणहस्ता दिखलाई पड़ती हैं।

(ठ) ग्रबतक इस प्रदेश से प्राप्त ग्रन्य शैव प्रतिमाग्रों में दुर्गा, गणेश एवं कार्त्तिकेय को गिनाया जा सकता है, किन्तु ये उत्तर काल की हैं।

माथुरी धारा :

ईसवी-सन् के प्रारम्भ के पहले से ही मथुरा नगर शैवधर्म का भी केन्द्र रहता आया है। हरिवंश हमें बतलाता है कि यादवों ने जिस समय मथुरा से द्वारका के लिए प्रस्थान किया, उस समय उन्होंने भगवान् 'पिनाकिन्' या शिव का पूजन किया था।[१८७] मथुरा के प्रमुख प्राचीन शिव-स्थानों में गोकर्णेश्वर, भूतेश्वर, रंगेश्वर एवं पिप्पलेश्वर हैं, जो क्रमशः नगर की उत्तरी, पश्चिमी एवं दक्षिणी सीमा के संरक्षक 'क्षेत्रपाल' माने जाते हैं। इनका विस्तृत विवरण पद्म, वराह आदि पुराणों में भी मिलता है।[१८८] पश्चिमी धारा के शैवमत से प्रभावित कुषाणों ने जब मथुरा को अपने राज्य के महत्त्वपूर्ण केन्द्र के रूप में चुना, तब निश्चय ही शैवों का यह प्राचीन केन्द्र समुन्नत हुआ होगा। इस विधान का सबसे बड़ा प्रमाण यहाँ से विपुल मात्रा में मिली हुई छोटी-बड़ी शैव कलाकृतियाँ हैं, जिनका हमने पिछले पृष्ठों पर प्रचुर उपयोग किया है।

यही स्थिति गुप्तकाल में भी बनी रही। यहाँ नये शैव मन्दिर बनते रहे तथा शिवलिंग तथा शिव-प्रतिमाओं की विविध रूपों में प्रतिष्ठापनाएँ होती रहीं। इसकी पुष्टि गुप्तकालीन कलाकृतियों तथा कतिपय शिलालेखों द्वारा होती है यथा रंगेश्वर के निकट से मिला चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय का लेख, जिसमें कपिलेश्वर और उपमितेश्वर की स्थापना का उल्लेख है[१८९]।

भरतपुर और नाँद से मिले मूर्त्तियुक्त शिवलिंग इस बात को स्पष्ट करते हैं कि माथुरी धारा का क्षेत्र राजस्थान तक फैला हुआ था। रंगमहल के मृत्फलक एवं अहिच्छत्रा की मृण्मूर्त्तियाँ और फलक, भीतरगाँव के इष्टिका-मन्दिर के फलक आदि इस धारा की गुप्तकालीन विशालता की ओर संकेत करते हैं। यहाँतक कि वाराणसी से मिले हुए इस समय सारनाथ के संग्रहालय में प्रदर्शित[१९०] गुप्तकाल की चौमुखी मूर्त्ति में, विशेषतया शिवलिंग और अर्धनारीश्वर-प्रतिमाओं में, समकालीन माथुरी गुप्तकला की विशेषताएँ, यथा पुष्पदाम और ऊर्ध्वलिंग, स्पष्टतया देखी जा सकती हैं।

माथुरी धारा की शिवमूर्त्तियों की निम्नांकित विशेषताएँ गिनाई जा सकती हैं :

(अ) कुषाणकालीन शिव बहुधा द्विभुज हैं तथा दाहिना हाथ अवश्यम्भावी रूप से अभयमुद्रा में उठा हुआ है।

(आ) साधारणतया मुख की संख्या एक है।

(इ) तीसरा नेत्र विद्यमान रहता है। कुषाणकाल में वह बहुधा आड़ा दिखलाया गया है, किन्तु गुप्तकाल से खड़ा मिलता है।

(ई) शिव साधारणतः जटाभार से शोभित हैं, परन्तु उनका उष्णीषिन् रूप भी अज्ञात नहीं है (रे० चि० १३,१६)।

(उ) शिव के वाहन के रूप में बैल बना है, किन्तु मूसानगर की दो मूर्त्तियों में तथा मथुरा की एक मूर्त्ति में उसका स्थान सिंह ने ले लिया है।

(ऊ) एक मुख और दो हाथों के साथ-साथ एक ही प्रतिमा में शिव को भी 'चतुर्व्यूह' रूप में अंकित करने की प्रथा कुषाणकाल से ही चल पड़ी थी

(मूसानगर चित्र-शिव)। यह गुप्तकाल में भी ज्ञात थी, जैसा रंगमहल के मृत्फलक से पता लगता है (रे० चि० २६)।

(ए) कुषाणकालीन माथुरी धारा में शिव के आयुधों का अंकन आश्चर्यजनक रूप से कम है। यहाँतक कि पाषाण-प्रतिमाओं में त्रिशूल भी नहीं दिखलाई पड़ता। अक्षमाला और घट अवश्य ही कई मूर्त्तियों में मिलते हैं। कदाचित् इसका कारण यह हो सकता है कि यहाँ की शिल्प-परम्परा में यह बात रूढ थी कि एक तो प्रत्येक देवमूर्त्ति का दाहिना हाथ अभय-मुद्रा में उठा रहेगा एवं बायाँ बहुधा कटि-संस्थित रहेगा। इस प्रकार, आयुधों के लिए दो में से एक ही हाथ, बायाँ हाथ, मिलता था, जिसमें घट दे देते थे। बहुभुजी शिव-प्रतिमाओं का प्रचार नहीं था।

(ऐ) गुप्तकाल में स्थिति बदल जाती है। अब रुचि के अनुसार दो या चार हाथ बनाये जाने लगे तथा विशेषकर राजस्थान के कलाकारों ने त्रिशूल, साँप, आदि बनाना शुरू किया।[१९१] इस काल में मस्तक पर शोभित नृमुण्ड, बालेन्दु तथा कमर में व्याघ्राम्बर भी पड़ा हुआ दिखलाई पड़ता है।[१९२] विष्णु के समान शिव का आयुध-पुरुष, त्रिशूल-पुरुष भी सामने आता है।

(ओ) उत्तर पश्चिमी धारा की अपेक्षा यहाँ शिव के विविध रूप भी अधिक मात्रा में मिलते हैं। अर्धनारीश्वर, लकुलीश, शिव-पार्वती, चतुर्व्यूह शिव, आदि तो कुषाण-काल की देन थी। गुप्तकाल में हरिहर, रावणानुग्रह, अज-एकपाद, दक्षिणामूर्त्ति, महानट आदि नये ध्यान सामने आते हैं।

(औ) ऊर्ध्वलिंग की परम्परा इस धारा में भी चलती रही।

(अं) आभरणों में यज्ञोपवीत का विकास दर्शनीय है। कुषाण-मुद्राओं पर उसे हम ताबीजों और मणियों के साथ पाते हैं, मूर्त्तियों में क्वचित् सूत्र यज्ञोपवीत के रूप में दिखलाई पड़ता है तथा गुप्त एवं ढलते गुप्तकाल में वह 'मुक्ता-यज्ञोपवीत' बन जाता है।[१९३]

(अः) गुप्तकाल से अन्य अलंकारों में भी वृद्धि होती है, यथा रत्नजटित भालपट्ट, एकावलि, अंगद और कंकण, कटिसूत्र आदि दिखलाई पड़ने लगते हैं।[१९४]

दक्षिण भारत की धारा :

इस तीसरी धारा का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ के क्षेत्र में नहीं आता, परन्तु एक-दो बातों का उल्लेख अत्यन्त आवश्यक है :

प्रथम : दक्षिणी शिव के आयुधों में परशु और मृग का स्थान महत्त्वपूर्ण है, त्रिशूल का गौण। उत्तर पश्चिमी धारा में हमने त्रिशूल-परशु को संयुक्त रूप में देखा था। माथुरी धारा में उसका वह रूप ढलते गुप्तकाल में मन्दसौर से मिली केवल एक प्रतिमा में मिलता है।[१९६] इसके विपरीत दक्षिण में अकेला परशु प्रारम्भ से ही—गुड्डीमलम्-प्रतिमा से ही—प्रकट होता है।[१९७]

मृग के विषय में तो इससे भी विचित्र स्थिति है। कुषाण मुद्राओं पर शिव के मृग के दर्शन होते हैं, परन्तु एक ही छलाँग में समूची माथुरी धारा को लाँघकर वह दक्षिण में जा पहुँचता है। परशु तथा मृग का वहाँ कई शताब्दियों तक शिव के साथ अविच्छिन्न-सा सम्बन्ध रहा है।

द्वितीय : शिव का ऊर्ध्वमेढ्र एवं उष्णीषिन् रूप उत्तर के समान दक्षिण में गुड्डीमलम् से ही दिखलाई पड़ने लगता है, किन्तु बाद के काल में लुप्त हो जाता है।

तृतीय : उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण में शिव के रूपों की विविधता बढ़ जाती है, और परवर्त्ती काल में तो चण्डेशानुग्रह, मार्कण्डेयानुग्रह, सोमास्कन्द, चन्द्रशेखर, गंगाधर, शरभ, त्रिपुरान्तक, कल्याणसुन्दर आदि अनेक प्रकार प्रकट होते हैं, जिनमें से कुछ उत्तर भारत तक नहीं पहुँचे।

शिवलिंग :

हम देख चुके हैं कि शिवलिंगों की प्राचीनता सिन्धु-सभ्यता से आँकी जा सकती है, और उसका पूजन आज भी अखण्ड रूप से प्रचलित है। शिव ही एक ऐसा देवता है, जिसके शरीर के दो भागों का अलग-अलग पूजन किया जाता है। प्राचीन काल में ऋषियों का एक ऐसा भी वर्ग था, जो लिंगपूजा को सर्वथा हेय समझता था। वेदों में आनेवाले 'शिश्नदेव' शब्द की ओर हम पहले संकेत कर चुके हैं। पुराणों में उस इतिहास की गूँज निम्नांकित कथाओं में सुनाई पड़ती है :

१. ब्रह्मा के यज्ञ में भिक्षाटन के लिए शिव का पहुँचना, ब्राह्मणों द्वारा उनकी निन्दा।[१९८]
२. उन्मत्त वेश में शिव का ब्राह्मणों के स्थान पर जाना तथा ब्राह्मणों द्वारा उनपर पत्थर, लाठी, लात, घूँसा आदि से आक्रमण करना।[१९९]
३. दारुवन में शिव को लिंगच्युति एवं पौरुषहीनत्व का शाप।[२००] यह कथा पर्याप्त लोकप्रिय रही होगी। पुराणों में तो कई स्थानों पर इसका वर्णन है ही,[२०१] पर साथ-ही-साथ मध्यकालीन कला में भी इसका अंकन हुआ है।[२०२]
४. भृगु का शिव को शाप।[२०३]

पूर्व-इतिहास का संकेत करनेवाली ये कथाएँ बहुधा अपने उत्तर भाग में लिंग-पूजा की प्रतिष्ठा का भी वर्णन करती हैं, जो स्पष्टतया उस 'महाविलयन' की साक्षी हैं, जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। उदाहरणार्थ, पद्मपुराणवाली कथा (ऊपर की सं० ३) में सावित्री के शाप में शिव का लिंग पतित होने की बात कही गई है, तो गायत्री का वर पतित लिंग के पूजन को प्रतिष्ठित करता है।[२०४] दारुवनवाली कथा कूर्मपुराण में विस्तार से दी गई है। वहाँ लिंगोत्पाटन की बात बतलाने के बाद ब्रह्मा द्वारा आग्रहपूर्वक लिंगपूजा की स्थापना की गई है और भगवान 'ईश' के लिंग की अनुकृति

का वैदिक मन्त्रों द्वारा पूजन करने की बात कही गई है।[२०५] इस प्रकार, साधारण रूप से शैवमत और लिंगपूजा का एक रूप शनैः-शनैः वैदिक सम्प्रदाय में मान्य हो गया, किन्तु शैवों की वे उपशाखाएँ, जिनके आचार-विचार आर्य-सभ्यता के सर्वथा प्रतिकूल थे, वेद-बाह्य ही रहीं और कभी-कभी स्वयं शिव के मुख से ही उन्हें 'असेव्य' कहला दिया गया।[२०६]

आर्यों के समाज में लिंग-पूजन की स्थापना के साथ लिंगोत्पत्ति से सम्बद्ध कथाओं का भी समावेश हुआ, जिनमें से कुछ निम्नांकित हैं :

(क) प्रलयार्णव में ब्रह्मा और विष्णु का झगड़ा तथा उन दोनों के बीच ज्वालाओं से युक्त विशाल लिंग का आविर्भाव, ब्रह्मा और विष्णु का उनके आदि और अन्त की खोज करने का प्रयास करना एवं पराभूत होना।[२०७] एतावता लिंग का श्रेष्ठत्व और लिंगार्चा का प्रारम्भ।

(ख) लिंग की परिभाषा—वह, जिसमें सबका 'लय' हो। लिंगवेदी का महादेवी और लिंग का महेश्वर-रूप में पूजन।[२०८]

(ग) शिव का सृष्टिकर्म से विरक्त होकर अपने लिंग को काटकर पृथ्वी पर प्रतिष्ठित कर देना और स्वयं मूंजवान् पर्वत की ओर निकल जाना[२०९]।

(घ) शिव-विग्रह और शिवलिंग के पूजन में लिंग का श्रेष्ठत्व तथा दोनों ही उपासनाओं को श्री देनेवाला माना जाना।[२१०]

इस प्रकार, शनैः-शनैः समाज में लिंगपूजा दृढमूल हो गई, यहाँतक कि भारत के प्रसिद्ध शैवतीर्थों में आज प्रतिमा का नहीं, लिंग का ही पूजन चलता है। इस प्रकार के बारह लिंग 'ज्योतिर्लिंग' नाम से पुकारे जाते हैं। अब तो शिव का प्रतिमा-पूजन बहुत कुछ उठ-सा गया है और लिंग-पूजन ही रूढ है। लिंगों के भी कई भेद, यथा बाणलिंग, पार्थिवलिंग, धारालिंग, मुखलिंग, लिंगोद्भव, लिंगारूढ, लिंगिन् आदि अनेक प्रकार सामने आ चुके हैं। स्पष्ट है कि यह परिवर्त्तन अपने पीछे शताब्दियों का इतिहास रखता है, जिसका साक्ष्य कला के क्षेत्र में विद्यमान है।

प्रतिमा-पूजा और लिंगपूजा के बीच का एक प्रकार ऐसा भी है, जहाँ दोनों का समावेश है, अर्थात् लिंग के साथ ही किसी रूप में शिव की प्रतिमा भी बनी है। इस प्रकार लिंगों के मुख्यतः दो वर्ग बन जाते हैं, एक तो 'मूर्त्तियुक्त लिंग' और दूसरे, सादा लिंग या 'स्थाणुलिंग'। मूर्त्तियुक्त लिंगों के भी दो रूप होंगे : विग्रहलिंग और मुखलिंग।

विग्रहलिंग :

भारत के ऐतिहासिक काल के सबसे प्राचीन समझे जानेवाले लिंग इसी कोटि में आते हैं। इस प्रकार के उदाहरणों में भीटा, गुड्डीमलम्, कौशाम्बी, नाँद, मथुरा, ग्वालियर आदि स्थानों से प्राप्त शिवलिंगों का समावेश होता है, जो प्रारम्भिक शुंगकाल से मध्यकाल तक बँटे हुए हैं। इनका संक्षिप्त परिचय निम्नांकित है :

(क) गुड्डीमलम् का लिंग :[२११]

दक्षिण भारत के रेणुगुण्ठा नामक स्थान के पास मन्दिर में प्रतिष्ठित इस विशाल लिंग के सम्मुख भाग पर द्विभुज प्रतिमा है, जिसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं।

(ख) भीटा का शिवलिंग[२१२] (चित्र-सं० २८–३१) :

यह शिवलिंग कभी इलाहाबाद जिले के भीटा नामक स्थान से मिला था और इस समय लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित है। इस लिंग पर ब्राह्मी लिपि में लेख भी खुदा है, जो उसके काल-निर्धारण के लिए सहायक है। इसे लगभग ई० पू० दूसरी शताब्दी के आसपास का माना गया है। उत्खनन से यह भी ज्ञात हो चुका है कि ई० पू० तीसरी शताब्दी से प्रायः ईसवी-सन् की छठीं शती के बीच भीटा शैवों का एक बड़ा गढ़ था और बुन्देलखण्ड के कालंजर-केन्द्र से सम्बद्ध था।

यहाँ शिव को हम 'पंचास्य' या पंचमुख रूप में पाते हैं। लिंग के ऊपर द्विभुज शिव की कमर तक की प्रतिमा बनी है (चित्र-सं० ३०) दाहिना हाथ अभय-मुद्रा में है और बाँये में घट है। मुख का कुछ भाग अब खण्डित हो गया है, पर कन्धों पर लहराने वाले केश, कानों के कुण्डल तथा गले का ग्रैवेयक अब भी सुरक्षित है। साथ ही, शिव का यज्ञोपवीत, हाथों में पड़े कंकण तथा ऊर्ध्वलिंग भी देखे जा सकते हैं। इस विशाल विग्रह के नीचे लिंग के चारों ओर चार मुख बने हैं, जिनमें से एक मुण्डित है तथा एक स्त्रीमुख है। शेष दो में, एक में 'भालपट्ट' और दूसरे में 'उष्णीष' बना है। मुण्डित और उष्णीषवाले मुख सौम्य हैं तथा भालपट्टवाला 'अघोर' मुख है, जिसमें दाढ़ी, मूछें तथा ओठों से बाहर निकलनेवाली दाढ़ें स्पष्ट हैं (रे० चि० २९)।

इस लिंग की यह विशेषता भी ध्यान देने योग्य है कि किसी भी मुख पर त्रिनेत्र के दर्शन नहीं होते हैं तथा चारों मुख चार मुख्य दिशाओं की ओर न होकर वायव्य, ईशान्य आदि मध्य-दिशाओं की ओर हैं। इन मुखों के क्रम एवं स्थान का हम आगे विचार करेंगे।

(ग) नाँद का शिवलिंग : [२१३]

राजस्थान के पुष्कर-क्षेत्र के निकट नाँद नामक गाँव में विद्यमान यह महत्त्वपूर्ण लिंग ईसवी-सन् की लगभग दूसरी शती का है। सारा लिंग देवमूर्त्तियों से सुशोभित है। लेखक को लिखे गये अपने दि० १४-८-६९, नई दिल्ली, के पत्र द्वारा **श्रीअग्रवाल** ने यह भी सूचित किया है नाँद-शिवलिंग के विष्णुवाले भाग के नीचे भी, जो अबतक भूमि में गड़ा था, आवक्ष मानव-प्रतिमाओं की पंक्ति अंकित है। इस प्रकार, इस कुषाणकालीन लिंग में बीस देवप्रतिमाएँ बनाई गई थीं। निचले भाग को, जिसे **श्रीअग्रवाल** नें विष्णु-भाग कहा है, विष्णु, एकानंशा, वासुदेव तथा बलदेव अंकित हैं। इसके ऊपरवाले भाग का उन्होंने 'ब्रह्मभाग' माना है, जिसपर चारों ओर अभय-मुद्रा में स्थित मुकुटधारी द्विभुज प्रतिमाएँ बनी हैं।

इसके ऊपरवाला भाग, अर्थात् तीसरा भाग, उनके अनुसार 'सौरभाग' है, जहाँ हमें पुनः द्विभुज मूर्त्तियों के दर्शन होते हैं, जिनमें एक तिकोनी टोपी पहने हाथ में कमल-नाल लिये हैं। सबसे ऊपरवाला भाग शिव-भाग है, जहाँ चौतरफा द्विभुज लकुलीश के दर्शन होते हैं।

अपने समय के प्रचलित कई देवताओं को एक साथ अंकित करनेवाला यह लिंग वस्तुतः महत्त्वपूर्ण है। **श्रीअग्रवाल** द्वारा लिंग के विविध भागों की जो कल्पना की गई है, वह भी विचारणीय है। उनकी इस कल्पना का आधार निस्सन्देह वहाँ पर अंकित देव-समूह है। प्राचीन ग्रन्थों में शिवलिंग को ब्रह्म, विष्णु और रुद्र भागों में बाँटा गया है,[२१४] तथा गुप्तकाल में इनका अन्तर आकार से स्पष्ट किया जाता था,[२१५] परन्तु वहाँ ब्रह्मभाग को नीचे माना गया है, उसके ऊपर विष्णु और सबसे ऊपर शिव। ब्रह्मभाग योनि या स्थण्डिल में गड़कर अदृश्य रहता था, कदाचित् ब्रह्मा के अपूज्य उद्घोषित होने के कारण भी ऐसा होता रहा हो। नाँद-लिंग में यह क्रम बदला हुआ है। विष्णु-भाग सबसे नीचे है तथा 'सौरभाग' नया जुड़ा है, जिसका ग्रन्थों में पता नहीं है। ब्रह्मभाग बीच में है। सम्भव है कि पुष्कर, जिस क्षेत्र से यह लिंग मिला है, ब्रह्मा का एकमेव तीर्थ-स्थान होने के कारण यह स्थान-परिवर्त्तन किया गया हो। दूसरे यह भी है कि सभी भागों पर देव-प्रतिमाएँ बनीं होने के कारण किसी के अपूज्य होने का प्रश्न नहीं उठता।

(घ) **कौशाम्बी का शिवलिंग** (चित्र-सं० ३६-३७) :

यह लिंग इस समय इलाहाबाद के संग्रहालय में है (सं० सं० ६३६)। इस चतुर्मुख लिंग का ऊपरी भाग अब बीच से ही कट गया है, परन्तु मूल रूप में इस भाग पर कई मूर्त्तियाँ बनी थीं, जिनमें से एक का बायाँ हाथ और बाईं पलथी अब भी सुरक्षित है। नीचे की ओर चार मुख बने हैं, जिनमें तीन क्रमशः अघोर, उष्णीषिन् और योगी के हैं और चौथा स्त्रीमुख है। इस समय अघोर और उष्णीषिन् तो अच्छी स्थिति में हैं, अन्य दो खण्डित हैं। ऊपर की अंशतः सुरक्षित मूर्त्ति की ओर ध्यान देने पर स्पष्ट होता है कि भीटा की भाँति यहाँ के चारों मुख भी आग्नेयादि दिशाओं की ओर ही बने थे।

(ङ) **मथुरा के मूर्त्तिलिंग** :

इस प्रकार का एक शिवलिंग **डॉ० कुमारस्वामी** ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में प्रकाशित किया है।[२१६] यहाँ लिंग के सम्मुख भाग पर चतुर्भुज शिव बने हैं, जिनका वर्णन हम पहले कर चुके हैं।

इसी ग्रन्थ में अन्यत्र प्रकाशित[२१७] दूसरी मूर्त्ति, जिसे विद्वान् लेखक ने 'स्तम्भ के सम्मुख बना हुआ बोधिसत्त्व' कहा है, वस्तुतः शिव से युक्त शिवलिंग है। इसका भी पहले उल्लेख किया जा चुका है।

गुप्तकाल में मूर्त्तिलिंगों की शैली ने कुछ नये रूप धारण किये। इसमें एक है 'लिंगोद्भव मूर्त्ति'। सृष्टि के आदि में विष्णु और ब्रह्मा के विवाद को शान्त करने के लिए उद्भूत ज्वालामय स्थाणुलिंग के प्राकट्य की कथा वायु, लिंग, कूर्म आदि पुराणों में मिलती है। यह कथा शिल्पियों के सम्प्रदाय में भी प्रचलित रही होगी। इसी प्रकार की गुप्तकालीन मूर्त्तियों के दो नमूने हमें ज्ञात हैं : एक तो वाराणसी के भारत-कला-भवन (रे० चि० ४०, सं० सं० १५४) में प्रदर्शित है। दूसरी, वाराणसी में ही मीरघाट मुहल्ले के एक घर की दीवार में चिपकी हुई है (रे० चि० ३२)। प्रथम मूर्त्ति में ब्रह्मा और विष्णु के साथ ज्वालाओं से आवृत विशाल शिवलिंग दिखलाया गया है। दूसरी में कथाभाग वही है,

पर लिंग के चारों ओर ज्वालाएँ नहीं हैं तथा ब्रह्मा और विष्णु लिंग के ऊपर-नीचे नहीं, अपितु अगल-बगल दिखलाई पड़ते हैं। कभी-कभी इस कथा के अंकन में बीचवाला शिवलिंग शिव-विग्रह से युक्त दिखलाया जाने लगा, तथा ब्रह्मा और विष्णु का चित्रण कलाकार की रुचि एवं स्थान की प्राप्ति पर छूट गया। रंगमहल से प्राप्त एक गुप्तकालीन मृत्फलक पर ऐसा ही एक लिंग दिखलाई देता है, जिससे शिव का उद्भव हो रहा है।[२१८] गुप्तोत्तर काल में विशेषतया दक्षिण भारत में यह शैली विशेष रूप से पनपी।[२१९]

मध्यकाल में विकसित मूर्त्तिलिंगों का दूसरा रूप सर्वतोभद्ररूप था, जिसमें लिंग के चारों ओर तीन देवताओं के बीच शिव भी बने रहते थे।[२२०]

(च) मुखलिंग :

लिंग के सम्मुख भाग पर जब मूर्त्ति के स्थान पर मुख ही दिखलाई पड़ता है, तब उसे 'मुखलिंग' कहते हैं। मुखलिंगों की प्राचीनता ईसवी-पूर्व की पहली शताब्दी के आसपास से आँकी जा सकती है। इस प्रकार का अबतक ज्ञात सबसे प्राचीन लिंग राजस्थान के अघापुर गाँव से मिला है, जो अब भरतपुर के संग्रहालय में सुरक्षित है (चित्र-सं० ३२)। मथुरा से प्राप्त एक कुषाणकालीन शिलाखण्ड (चित्र-सं० ३४, लखनऊ सं० सं० बी १४१) से स्पष्ट होता है कि इस प्रकार के लिंग पीपल जैसे विशाल वृक्ष के नीचे ईंटों के बने चबूतरों या चत्वरों के ऊपर स्थापित किये जाते थे। स्पष्टतया मुखभाग सामने की ओर तथा पृष्ठभाग वृक्ष के तने की ओर होता था। मुखलिंगों में अबतक एक, दो या चार मुख बने हुए मिले हैं। इनमें द्विमुख लिंग असाधारण हैं (म०सं०, सं० १४.४६२)। कुषाणकालीन मुखलिंगों पर विचार करते समय निम्नांकित विशेषताओं की ओर ध्यान देना आवश्यक है :

(क) **मुख** : एक-मुखलिंगों में अघापुरवाले में तो उष्णीष दिखलाई पड़ता है, अन्यत्र कुषाण-काल तक केवल जटाभार। चतुर्मुख लिंगों में अवश्य ही कुषाणकाल तक पगड़ीवाले मुख या उष्णीषिन् के दर्शन होते हैं।

(ख) **मुख एवं लिंग का संयोजन** : प्रारम्भिक काल में मुख, लिंग से स्वयं उद्भूत-सा दिखलाई पड़ता है, परन्तु कुषाणकाल में लिंग और मुख का संयोजन कभी एक और कभी दो मोटी-सी हार-यष्टियों द्वारा किया गया है। इस बन्धन पर फूल-पत्तियों के कई प्रकार के अलंकरण मिलते हैं। मथुरा के एक कुषाणकालीन लिंग पर तो मुख को मिलानेवाले बन्धन के चारों ओर हिस्सों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के अलंकरण बने हैं (सं० सं० १५.५१६)।

संयोजन का काम करनेवाली माला-सा यह अलंकरण इस काल के सादे शिवलिंग पर भी मिलता है (चित्र-सं० ४४, ल०सं०, सं० एच्-१)। कदाचित् इस अलंकरण का अभिप्राय वायुपुराण द्वारा शिव के लिए व्यवहृत पद 'पद्ममालाकृतोष्णीष' से हो।[२२१] यह भी सम्भव है कि उत्तर काल में शिवलिंगों पर दिखलाई पड़नेवाले रेखामय 'ब्रह्मसूत्र' का यह पूर्व रूप हो।

गुप्तकाल में पहुँचते-पहुँचते मुख और लिंग का यह अप्राकृतिक संयोजन-बन्ध लुप्त हो जाता है एवं लिंग-भाग पर मुख पुनः ऐसे दिखलाई पड़ता है, जैसे वह स्वयं उद्भूत हो ।

(ग) **दो तथा एक-मुखवाले लिंग** : मुखलिंगों के अन्य प्रकारों में दो तथा एक मुखवाले लिंगों की गणना करनी होगी । द्विमुख लिंग का अवतक हमें केवल एक ही कुषाणकालीन उदाहरण ज्ञात है (म०सं०, सं० १४.४६२) । इसका मेल महाभारत के उस उल्लेख से बैठाया जा सकता है, जहाँ शिव को एकवक्त्र, द्विवक्त्र[२२२] तथा अनेकवक्त्र कहा गया है ।

कुषाणकालीन एकमुख लिंग तो कई मिलते हैं, जिनपर बहुधा आड़ा त्रिनेत्र तथा संयोजन-बन्ध दिखलाई पड़ते हैं । कहीं शिव के घुँघराले केश (कुंचित मूर्धज),[२२३] कहीं उष्णीष,[२२४] कहीं वृत्तवन्ध जटा[२२५] एवं जटामण्डल तथा कहीं स्पष्ट रूप से 'ललाटपट्ट'[२२६] के दर्शन होते हैं ।

कुषाणकाल के एकमुख लिंग साधारणतः कम मोटे, पर अधिक ऊँचे होते हैं । ऊपरी सिरे पर बहुधा मानव-शिश्न के अग्रभाग का प्राकृतिक आकार बना रहता है तथा कुछ नीचे हार-यष्टि से संयोजित मानव मुख दिखलाई पड़ता है ।

मथुरा में एक ऐसा भी शिवलिंग मुझे देखने को मिला था; जिसके निचले भाग पर दो शिवगण बने थे : एक पर्याप्त स्पष्ट था, दूसरा घिसा-पिटा । इस लिंग का अब पता नहीं, मैंने उसे पुलिस के मालखाने में देखा था । गणों से युक्त शिवलिंग अन्यत्र नहीं देखे गये हैं ।

(घ) **मुखों के स्वरूप और स्थान** : यह विषय मुख्यतया चतुर्मुख लिंगों से सम्बद्ध है । यहाँ हम इसका विचार निम्नांकित लिंगों को ध्यान में रखकर कर रहे हैं :

(अ) भीटा के पंचास्य लिंग में बने चार मुख (चित्र-सं० २८–३१) ।

(आ) कौशाम्बी का चतुर्मुख लिंग (इलाहाबाद, सं० ६३६) (चित्र-सं० ३७-३७) ।

(इ) राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली का चतुर्मुख लिंग (चित्र-सं० ३८, दि० सं०, सं० ६५.१७२) ।

(ई) मथुरा का चतुर्मुख लिंग (म०सं०सं०, १५.५१६) जो मूल रूप में 'पंचास्य' था ।

(उ) कौशाम्बी का गुप्तकालीन चतुर्मुख लिंग (चित्र-सं० ३६, ल०सं०, सं० एच्-३) ।

(ऊ) मध्य भारत से प्राप्त गुप्तकालीन चतुर्मुख लिंग (बिरला-अकादमी-संग्रहालय, कलकत्ता, सी० ६७) ।

एक ही लिंग के चारों ओर चार मुखों को अंकित करना साधारण परिपाटी थी, किन्तु मथुरावाले लिंग में चार मुखलिंगों को एक में मिलाया गया है ।

लिंग पर अंकित चार मुख शिव के चार रूपों का बोध कराते हैं; यथा अघोर, उष्णीषिन्, योगी और स्त्री। महाभारत के अनुसार देवमण्डली को प्रदक्षिणा करनेवाली तिलोत्तमा को देखने के लिए शिव ने चारों दिशाओं में चार मुख प्रकट किये थे।[२२७] इसी ग्रन्थ में अन्यत्र शिव के द्वारा अपने चार मुखों की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है कि 'पूर्वमुख से मैं इन्द्रपद का शासन करता हूँ, मेरा पश्चिम मुख सौम्य है, दक्षिण मुख संहार के लिए है तथा उत्तर मुख से मैं उमा से वार्त्तालाप करता हूँ।'[२२८] थोड़ा विचार करने पर इसकी संगति यों बैठाई जा सकती है—इन्द्रपदवाला पूर्वमुख उष्णीषिन्, संहारवाला दक्षिण का अघोर योगी या मुण्डित, पश्चिमवाला सौम्य तथा उत्तरवाला रमणीय स्त्रीमख।

महाभारत के इस उद्धरण से यह भी स्पष्ट है कि शिव के इन चार प्रकार के मुखों की चार दिशाएँ भी सुनिश्चित थीं। गुप्तकालीन ग्रन्थ विष्णुधर्मोत्तरपुराण भी इन दिशाओं का वर्णन करता है।[२२९] विचाराधीन चतुर्मुख लिंगों की मुखस्थिति इस प्रकार है :

दिशा	**भीटा-लिंग** (ई० पू० दूसरी शती)	**कौशाम्बी-लिंग** (प्रायः ई० पहली शती)	**दिल्ली-लिंग** (प्रायः दूसरी शती)	**मथुरा-लिंग** (प्रायः तीसरी शती)	**कौशाम्बी-लिंग** (प्रायः ५वीं शती)
पूर्व	मुण्डी	(खण्डित)	उष्णीषिन्	सौम्य	सौम्य
पश्चिम	स्त्री	उष्णीषिन्	सौम्य	स्त्री	सौम्य
उत्तर	उष्णीषिन्	स्त्री	मुण्डी	(खण्डित)	स्त्री
दक्षिण	अघोर	अघोर	अघोर	अघोर	अघोर

ऊपरवाली तालिका से एक बात स्पष्ट होती है कि कुषाणकाल की समाप्ति तक मुखस्थानों में एकरूपता नहीं थी, गुप्तकाल में पहुँचते-पहुँचते वह स्थिर हो गई और विष्णुधर्मोत्तरपुराण ने शास्त्रीय रूप से उसका उल्लेख किया। इस ग्रन्थ के अनुसार दक्षिण में अघोर और उत्तर में स्त्रीमुख की स्थिति, अर्थात् इन दोनों का ठीक एक दूसरे के पीछे रहना अनिवार्य है। प्रारम्भ के कुछ लिंगों में इस विधान को अनिवार्यतः स्वीकार नहीं किया गया है। दूसरी बात यह है कि गुप्तकाल से उष्णीषधारी मुख का पूर्ण अभाव दिखलाई पड़ता है—विष्णुधर्मोत्तर भी उसका उल्लेख नहीं करता। उष्णीषिन् के समान शिव का मुण्डीमुख भी गुप्तकाल से नहीं दिखलाई पड़ता। चौथी बात 'त्रिनेत्र' से सम्बद्ध है। प्रथम तीन लिंगों के किसी मुख पर तीसरी आँख नहीं दिखलाई पड़ती, कुषाणकालीन चतुर्मुख लिंगों में उसका होना अनिवार्य नहीं है, किन्तु गुप्तकाल तक पहुँचते-पहुँचते वह स्त्रीमुख के अतिरिक्त तीनों मुखों पर दृष्टिगोचर होती है। विरला-अकादमीवाले लिंग पर दिखलाई पड़नेवाली आड़ी और खड़ी तीसरी आँख भी इसी संक्रान्तिकाल को सूचित करती है।

यही स्थिति अर्द्धचन्द्र की है। गुप्तकाल तक इन मुखों पर शिव का 'बालेन्दु-शखर' स्वरूप नहीं दिखलाई पड़ता, आगे 'अर्द्धचन्द्र' सामान्य हो जाता है।

गुप्तकालीन एकमुख लिंग (चित्र–सं० ४०-४३) :

गुप्तकाल में भी एकमुख लिंग खूब बनते थे। कुषाणकालीन लिंगों से तुलना करने पर उनकी निम्नांकित विशेषताएँ स्पष्ट रूप से लक्षित होती हैं :

(अ) 'त्रिनेत्र' आड़ा नहीं, अपितु खड़ा बनने लगा।

(आ) गोल बँधी हुई ('वृत्तबन्ध') जटाओं के साथ-साथ[२३०] दोनों ओर लहराते हुए 'जटाकेशों' (उभय-पार्श्वस्थ विकीर्ण-जटालक)[२३१] के दर्शन होते हैं (चित्र-सं० ४१, ४२)।

(इ) संयोजन-बन्ध लुप्त होकर लिंग से मुख स्वयं उद्भूत होता हुआ लगता है।

(ई) अब केवल मुख ही नहीं, अपितु एकावलि से अलंकृत कण्ठ भी बनाया जाने लगा।

(उ) भूमरा लिंग के समान कुछ लिंगों में[२३२] अलंकरणों से युक्त भालपट्ट के दर्शन होते हैं, जो महाभारत में दिये गये 'मणिभूषित मूर्धा'[२३३], 'नित्यमुद्बद्धमुकुट',[२३४] 'किरीटी'[२३५] आदि नामों को सार्थक करता है।

(ऊ) गुप्तकाल में लिंगभाग अधिक मोटा, पर कम लम्बा बनने लगा, दूसरी ओर मुख का आकार बढ़ गया तथा लिंगाग्र का खुला भाग छोटा हो गया। फलतः लिंग का बहुत बड़ा अंश मुख से आवृत रहने लगा।[२३६]

(ए) मुख का रौद्रभाव लुप्त होकर वहाँ 'शिव' भाव अधिक स्पष्ट रूप से जगमगाने लगा।

(ऐ) इस काल में त्रिभागात्मक एकमुख लिंग भी बनने लगे। सारनाथ से मिले एक इस प्रकार के लिंग में निचला भाग चौकोर, बीचवाला अठपहलू तथा ऊपर वाला गोल है। सारा लिंग विष्णुभाग का सातगुना है; क्रम यों है : ब्रह्मभाग दो गुण, विष्णु एक तथा शिव चार भाग। मुख साधारणतया शिव-भाग के मध्य में है (चित्र-सं० ४३)।

साधारण लिंग (चित्र-सं० ४४) :

शिव के सादे लिंगों का निर्माण सबसे सरल था। कुषाणों के समय के ये विशाल स्तम्भाकार लिंग सच्चे अर्थ में शिव के स्थाणु रूप का बोध कराते हैं। इस प्रकार के कई लिंग हमें ज्ञात हैं।[२३७] इनमें कदाचित् सबसे पुराना लिंग वह है, जो मथुरा से प्राप्त एक शिलापट्ट पर अंकित है और जिसका पूजन पंखवाले पशुगण-कर रहे हैं।[२३८] इन सभी शिवलिंगों की निम्नांकित विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं :

१. लिंगाग्रभाग पर लिपटी हुई दोहरी या इकहरी हारयष्टि, जिसे हम पहले संयोजन-बन्ध तथा ब्रह्मसूत्र कह आये हैं, विविध अलंकरणों से सुशोभित हैं। कहीं-कहीं पर[२३९] चार दिशाओं में चार बड़े फुल्ले भी बने मिलते हैं। लखनऊ-संग्रहालयवाले शिवलिंग में इस बन्धन के लटकते हुए दोनों फुँदने भी दिखलाई पड़ते हैं (चित्र-सं० ४४)।

२. कभी-कभी केवल कमलदलों की पंक्ति ही इस संयोजन-बन्ध का काम देती है।[२४०]

३. एक नमूने में लिंग की एक ओर अष्टदल कमल बना हुआ है।[२४१] इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि महाभारत में शिव को एक स्थान पर 'कुसुमाष्टधर' कहा गया है,[२४२] तथा शिव की अष्टमूर्त्तियों के उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलते हैं।

४. कुछ नमूनों में लिंग का अधोभाग ध्यान देने योग्य होता है। एक नमूने में (म०सं०,सं० १५.६५२) उसकी एक ओर कदम्बपुष्प एवं पत्तियों के अलंकरण बने हैं। दूसरे नमूने में (म०सं०, सं० ४०.२८८५) आधार का एक ओर का पत्थर लटकती हुई लम्बी माला की सहायता से दो स्तम्भों में विभक्त किया गया है। इस अलंकरण का तात्पर्य समझ में नहीं आता।

५. इस प्रकार के कुछ शिवलिंगों पर लेख मिलते हैं। उदाहरणार्थ मथुरा के जटेश्वर लिंग को गिनाया जा सकता है।

गुप्तकाल से साधारण लिंगों के आकार में भी परिवर्त्तन होता है। उसका पुराना 'शिश्न'-रूप हटकर वह चिकने, मोटे, समतल छोटे स्तम्भ का रूप धारण करता है। यह बहुधा तीन भागों में विभक्त रहता है : नीचे-चौपहला, उसके ऊपर अठपहला और सबसे ऊपर गोल। बृहत्संहिता[२४५] के अनुसार इनमें से निचला, अर्थात् ब्रह्मभाग छिप जाता है, शेष दो दृश्य रहते हैं। वर्त्तुलाकार भाग पर चारों ओर लिपटा ब्रह्मसूत्र भी बना रहता है। फैजाबाद जिले के करमदण्ड नामक स्थान से मिले एक गुप्तकालीन शिवलिंग के विष्णु-भाग को लेख लिखने के लिए काम में लाया गया है।

शिवकथाएँ और शिवलिंग :

कतिपय ऐसे भी शिवलिंग मिलते हैं, जिनका अंकन स्वतन्त्र रूप से नहीं, अपितु शिवकथा-अंकन से सम्बद्ध है। इस प्रकार के तीन उदाहरण अबतक ज्ञात हैं :

१. लिंग को मस्तक पर धारण करनेवाला भक्त (भारत-कला-भवन, वाराणसी, सं० सं० २२३ (?) (रे०चि० ४१) : यह खण्डित प्रतिमा कदाचित् भारशिवों की ओर संकेत करती है। शिवलिंग एवं भक्त के केशविन्यास तथा मुखाकृति के आधार पर इस प्रतिमा को प्रारम्भिक कुषाणकाल का माना जा सकता है।

२. लिंगोद्भव मूर्त्ति (रे० चि० ३२,४०) : ब्रह्मा तथा विष्णु के परस्पर विवाद को शान्त करने के लिए ज्वालामय शिवलिंग के आविर्भूत होने की कथा तथा इसका अंकन करनेवाली मूर्त्तियों की हम चर्चा कर चुके हैं।

३. लखनऊ-संग्रहालय की एक मूर्त्ति (सं० सं० बी०१४१, चित्र—सं० ३४) में एक यक्षकथा चित्रित की गई है, जिसमें कभी पीपल के पेड़ के नीचे ईंटों के बने चबूतरे पर स्थापित शिवलिंग के पूजन का प्रसंग रहा। यह यक्षकथा अबतक पहचानी नहीं जा सकी है।

प्राचीन साहित्य में शिवमूर्त्ति-विज्ञान-सम्बन्धी सामग्री :

गुप्तकाल तक की शिव प्रतिमाओं से परिचय प्राप्त करने के पश्चात् तुलनात्मक अध्ययन के लिए प्राचीन साहित्य से मिलनेवाली इस सम्बन्ध की सामग्री की ओर दृष्टिपात करना युक्तियुक्त होगा। शिव के सम्बन्ध में वेद, ब्राह्मण, गृह्यसूत्र तथा उपनिषदों में जो सामग्री मिलती है, उसकी विस्तृत चर्चा डॉ० **भाण्डारकर** ने अपने ग्रन्थ में की है, जो वहीं द्रष्टव्य है।[२४७] यहाँ हम अपने को मुख्यतया महाकाव्यों तक सीमित रखेंगे।

वाल्मीकीय रामायण में शिवमूर्त्ति-विज्ञान-सम्बन्धी उल्लेख बहुत ही कम हैं। उत्तरकाण्ड में[२४८] वालुका की वेदी पर रावण द्वारा सुवर्णलिंग की पूजा का उल्लेख लिंग-पूजा पर प्रकाश डालता है।

इसके विपरीत महाभारत में इस विषय की बहुत अच्छी सामग्री विद्यमान है। स्पष्टतः, वह कई कालखण्डों की देन है। इस दृष्टि से विशेषतया, आदि, वन, द्रोण, कर्ण, सौप्तिक, शान्ति और अनुशासन पर्व हमारे लिए सहायक हैं। यहाँ हमें शिव की छोटी-बड़ी नामावलियाँ मिलती हैं। शिव के इन विभिन्न नामों में कुछ उनकी विश्व-व्यापकता, प्रभुत्व तथा लीलाकथाओं से सम्बद्ध हैं तथा कुछ उनके स्वरूप से। हमारे लिए अन्तिम प्रकार के नाम विशेष उपयोगी हैं। उन्हें प्राप्त मूर्त्तियों से मिलाने पर न केवल हमें शुद्ध और शास्त्रीय शब्दावलि का ज्ञान होता है, अपितु इन शब्दों के प्रचलित रहने के समय का भी कला के आधार पर पता लगता है। यही बात लीला-कथाओं से सम्बद्ध नामों के विषय में है। नाम और मूर्त्ति दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम यह समझ सकते हैं कि शिवकथा का विकास किस प्रकार किन कालखण्डों में तथा किन भू-भागों में होता गया। उदाहरणार्थ : कुषाणकालीन सिक्कों के आधार पर हम कह सकते हैं कि शिव का मृगव्याध रूप प्राचीन था, पर इसके विपरीत गजासुरवधवाली बात गुप्तकाल के पहले कदाचित् प्रचलित नहीं रही। इस दिशा से यहाँ विस्तृत विचार सम्भव नहीं है, अतः शिवमूर्त्ति-सम्बन्धी कतिपय शब्दों की सूची देकर हमें सन्तोष करना होगा।

स्थाणु (आदि०, १·३२, पृ० ४)	आकार का बोधक
उग्रधन्वा (आदि०, १६६·३०, पृ० ५६६) सुधन्वा (द्रोण०, २०२·४४, पृ० ३७४७) धन्वाचार्य (द्रोण०, २०२·४५, पृ० ३७४७) पिनाकधृक् (आदि०, २१४·२०, पृ० ६१५) पिनाकपाणि (वन०, ३९·१, पृ० १०५९) कमण्डलुनिषंग (शान्ति०, २८४·१६५, पृ० ५१७६)	शिव का एक आयुध धनुष्य।
शूलपाणि (आदि०, २२२·४६, पृ० ६३७) खड्गचर्मधर (द्रोण, २०२·४२, पृ० ३७४७) खड्गधर (वही) त्रिकूटचर्म (शान्ति०, १६६·५१, पृ० ४८४९)	शिव के आयुध-त्रिशूल, तलवार, ढाल, खट्वांग,

खट्वांग-धारी (सौप्तिक०, ७·४, पृ० ४३३८)
वज्री (अनु०, १४.१३२, पृ० ५५२५)
वज्रहस्त (अनु०, १४.२८७, पृ० ५४९८)
विल्वदण्ड (आश्वमेधिक०, ८·१७, पृ० ६११२)

वज्र तथा दण्ड। इनमें गुप्तकाल तक की मूर्त्तियों में खट्वांग को छोड़ सभी मिलते हैं।

परशु (अनु०, १४·२७४, पृ० ५४९७)
त्रिशूल और धनुष्य का एकीकरण (शान्ति०, २८९·१८, पृ० ५१९२)।

कपर्दिन् (वन०, ३९.७४, पृ० १०६३)
जटाधर (वही)
जटिन् (द्रोण०, ८०·६०, पृ० ३३०४)
मुण्ड (वही)
नित्यनीलशिखण्ड (द्रोण०, ८०·५८, पृ० ३३०४)
शिखि (द्रोण०, २०२·११, पृ० ३७४५)
अव्यक्त केश (द्रोण०, २०२·३०-३१, पृ० ३७४६)
हरिकेश (वही)
स्वर्णकेश (द्रोण०, २०२·५०, पृ० ३७४८)
त्रिजूट (शान्ति०, २८४·७८, पृ० ५१६९)
तरंगितकेश (शान्ति०, २८४·१०६, पृ० ५१७२)
कुंचित मूर्धज (सौप्तिक०, ७·२६, पृ० ४३४०)
मुंजकेश (शान्ति०, २८४·१०६, पृ० ५१७२)
ऊर्ध्वकेश (शान्ति०, २८४·१३७, पृ० ५१७४)
हरिश्मश्रुः (वही)

केश-रचना, केशों का रंग, मुण्डित मस्तक, लहराते बाल, घूंघर, दाढ़ी आदि।

इनमें से कई प्रकार कला में दर्शनीय हैं।

वल्कलाजिन वासस् (द्रोण०, ८०.३९, पृ० ३३०३)
हिरण्यकवच (द्रोण०, ८०.६४, पृ० ३३०५)
वनमाली (कर्ण०, ३३·५५, पृ० ३८५२)
बद्धांगद महासर्प (सौप्तिक०, ६·४-५, पृ० ४३३६)
कृत्तिवासस् (कर्ण०, ३३·५९, पृ० ३८५२)
महारुधिर-वैस्रव-वैयाघ्रचर्म (सौप्तिक०, ६·४-५, पृ० ४३३६)
नागयज्ञोपवीतिन् (वही)
बिभ्रत्कृष्णाजिन (शान्ति०, १६६·४९–५०, पृ० ४८४८-९)
हिरण्यकृतचूडा (शान्ति०, २८४·८३, पृ० ५१७०)
कृष्णाजिनोत्तरीय (शान्ति०, २८४·११०, पृ० ५१७२)
कर्णिकारस्रजप्रिय (शान्ति०, २८४·१४८, पृ० ५१७५)
नागमौंजी (अनु०, १४·१५५, पृ० ५४८९)
नागकुण्डली (वही)

वस्त्र, आभूषण।

बालेन्दुमुकुट (अनु०, १४·२५३, पृ० ५४९६) शशांककृतशेखर (द्रोण०, २०२·१६, पृ० ३७४५) उष्णीषिन् (द्रोण०, २०२·३२, पृ० ३७४६) द्वीपिचर्मनिवासिन् (द्रोण०, २०२·४१, पृ० ३७४७) जातरूप-पद्ममयी-माला-रत्नभूषिता (अनु०, १४·२५४, पृ० ५४९६) विचित्रमणिमूर्द्धा (अनु०, १४·३०३, पृ० ५४९९) किरीटी (अनु० १४·३८७-८८, पृ० ५५०४) गुल्फदेशावलम्बी माला (वही) व्याघ्रचर्माम्बरधर (अनु० १४०·१८, पृ० ५९११) सिंहचर्मोत्तराच्छिद (वही) कपालमालिन् (आश्वमे०, ८·२४, पृ० ६११३) सुवर्णमुकुट (वही)	वस्त्र, आभूषण ।
वसुरेतस् (द्रोण०, ८०·५९, पृ० ३३०४) मीढुष (द्रोण०, २०२·३२, पृ० ३७४६) महालिंग (शान्ति०, १६६·४८, पृ० ४८४८) महाशेफ (अनु०, १४·१६१, पृ० ५४८९)	शिव का ऊर्ध्वलिंग ।

महाभारत की सामग्री काल आदि से सम्बद्ध कतिपय मनोवेधक तथ्यों पर भी प्रकाश डालती है। यथा :

१. महाभारत के ये नाम विभिन्न कालों के परिचायक हैं। स्थाणु, मन्त्रमूर्त्ति (आदि०, १८-४३, पृ० ८४), भव, शर्व आदि प्राचीन नाम हैं। भगघ्न (द्रोण०, २०२-४७, पृ० ३७४७), भगनेत्राकुंश (शान्ति०, २८४·१४४, पृ० ५१७४), पुष्णोदन्त-विनाश (द्रोण०, २०२·४९, पृ० ३७४८) आदि नाम वैदिक कथाओं की ओर संकेत करते हैं, परन्तु आयुधपुरुषों के उल्लेख तथा उनके किरीट, गुल्फदेशावलम्बी माला मध्यकाल की बातें हैं, जो उस समय की मूर्त्तियों में स्पष्ट देखी जा सकती हैं।

२. महाभारत का आयुधपुरुषों का वर्णन विशेष ध्यान देने योग्य है। यहाँ पर उनके पिनाक (अनु० १४·२५६-५७, पृ० ५४९६), पाशुपत अस्त्र नामक बाण (अनु०, १४·२६०, पृ० ५४९६), विजय नामक त्रिशूल (वन०, २३१·३८, पृ० १६११, अनु०, १४·२६६., पृ० ५४९७) के पुरुषविग्रह के रूप में पूरे विवरण मिलते हैं। इनमें त्रिशूल पुरुष के प्रत्यक्ष दर्शन हमें कुछ मूर्त्तियों में होते हैं, जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

३. शिव के स्तवन के लिए रथन्तर, साम, ज्येष्ठसाम एवं शतरुद्रीय ये मन्त्रभाग काम में आते थे (अनु०, १४·२८२·३, पृ० ५४९७)।

४. महाभारत में उल्लिखित शिव के कुछ असाधारण रूप हमें सिक्कों पर दिखलाई पड़ते हैं। यथा : त्रिवक्त्र (अनु०, १४·१६५, पृ० ५४८६, धावमान् (शान्ति०, २८४·८७, पृ० ५१७०), यज्ञ-मृगव्याध (शान्ति०, २८४·१५४, पृ० ५१७५) खड्गधर (द्रोण०, २०२·४२, पृ० ३७४७), वज्रहस्त (अनु०, १४·२८७, पृ० ५४९८), गदी या गदा धारण किये हुए (अनु०, १४·३८७-८८, पृ० ५५०४), आदि।

५. सौप्तिक पर्व (७.१४, पृ० ४३३९) में सोने की वेदी पर अग्निज्वाला के रूप में शिव के प्राकट्य का वर्णन है। बहुधा कुषाण-मुद्राओं पर राजाओं के बढ़े हुए हाथ के नीचे हम एक ऊँची वेदी पाते हैं। हम यह भी जानते हैं कि कई कुषाण सम्राट् शैव थे। क्या इन मुद्राओं पर यही 'कांचनी वेदी' या 'स्थण्डिल' अंकित है, जहाँ राजा शिव-पूजन कर रहे हैं ?

विस्तार-भय एवं स्थल-संकोच के कारण शिवमूर्त्ति के लिए प्राचीन साहित्य के अन्यान्य ग्रन्थों की सामग्री का विचार अन्य अवसर के लिए छोड़कर हम आगे बढ़ेंगे।

सन्दर्भ-संकेत :

१. **महाभारत,** अनुशासन०, १४.२३३-३५, पृ० ५४९४ :
न शङ्खाङ्का न चक्राङ्का न वज्राङ्का यतः प्रजाः।
लिङ्गाङ्काश्च भगाङ्काश्च, तस्माद् माहेश्वरी प्रजाः ।। २३३।।
देव्याः कारणरूपभावजनिताः सर्वा भगाङ्काः स्त्रियो।
लिङ्गेनाऽपि हरस्य सर्वपुरुषाः प्रत्यक्षचिह्नीकृताः ।।२३४।।
इस प्रकार के अन्य उद्धरणों के लिए देखिए :
E.H.I., II, Pt. 1, pp. 61-62, fn.

२. **महा०** अनु०, १४.२३१-३२, पृ० ५४९४।

३. वर्मा, परिपूर्णानन्द, **प्रतीकशास्त्र,** लखनऊ, १९६४, पृ० २७१-२।

४. **EHI.,** II, Pt. 1, pp. 5-7.

५. **पद्मपुराण,** सृष्टि०, १७·४९·५०, पृ० १३५।

६. **महा०,** सौप्ति०, १८·१-२२, पृ० ४३७१-२।

७. **महा०,** आदि०, १९६·१६-३०, पृ० ५६५-६।

८. **महा०,** द्रोण, २०२-५६, पृ० ३७४८।

९. वही, २०२·४९, पृ० ३७४८।

१०. वही, २०२·४७, पृ० ३७४७।

११. **महा०,** शान्ति०, २४८·१४४, पृ० ५१७४।

१२. **पद्मपुराण,** ६·२५५·३१-४२, पृ० ९३४।

१३. **महा०,** शान्ति०, ३४२-११०-१६, पृ० ५३७५-७७।

१४. वही, ३४२-१३४, पृ० ५३७७
अद्यप्रभृति श्रीवत्सः शूलाङ्को मे भवत्ययम्।
मम पाण्यङ्कितश्चापि श्रीकण्ठस्त्वं भविष्यसि ।।१३४।।

१५. **महा०**, शान्ति०, २८४-६३, पृ० ५१७१।
१६. सभी नामों के लिए, **महा०**, द्रोण०, २०२·३६-४०, पृ० ३७४७।
१७. **DHI.**, p. 113.
१८. वही, p. 113.
१६. वही, p. 116.
२०. वेम की एक प्रकार की मुद्राओं पर शिव के आयुधों का संयुक्त प्रतीक भी बना है, जिसमें एक साथ ही वज्र, अधोमुख घट, त्रिशूल और परशु के दर्शन होते हैं। (**DAK.**, II. 28, VIII. 157) (रे०चि० १३)।
२१. **DHI.**, p. 118, Pl. 1, no. 16.
२२. वही, p. 179.
२३. वही, p. 180.
२४. वही, pp. 180-1.
२५. वही, p. 182.
२६. वही, p. 183.
२७. वही, p. 184.
२८. अग्रवाल, वासुदेवशरण, राजघाट के खिलौनों का एक अध्ययन, **नागरी-प्रचारणी पत्रिका**, वर्ष ४५, अंक ३, कार्त्तिक, १६६७, पृ० २२४।
२६. **HDS.**, Vol. I, p. 103.
३०. **महा०**, द्रोण०, २०१·६०, पृ० ३७४३।
३१. वही, २०१·६२-६६, पृ० ३७४३-४।
३२. लखनऊ-संग्रहालय, संख्या, H-4.
३३. लखनऊ-संग्रहालय, संख्या ५६.३६४।
३४. गुड्डीमलम् की शिव-प्रतिमा के विस्तृत विवरण के लिए द्र० **EHI.**, Vol. II, Pt. 1, pp. 65-67.
३५. **MS.**, Pl. 10; 4MM., 52·3625.
३६. **हरिवंश**, हरिवंश पर्व, २५·२१, पृ० १२५।
३७. **हरिवंश**, भविष्य पर्व, अध्याय ८३-८५।
३८. AMM., 34.2520.
३६. **DHI.**, p. 117.
४०. उदाहरणार्थ, **महा०**, शान्ति०, २८४·७८, पृ० ५१६६।
४१. **महा०**, आदि०, २१०·२२-२८, पृ० ६०५-६।
४२. Agrawala, R. C., Four Faced Siva and four faced Visnu at Mathura, **Vishveshavaranand Indological Journal**, Hoshiarpur, Vol. III. Pt. 1, March, 1965, pp. 107-8.
४३. **मेघदूत**, पूर्व०, ३७।
४४. **DHI.**, p. 118.

४५. वही, p. 118-9.
४६. वही, p. pp. 120-21.
४७. वही, pp. 119-20.
४८. **DAK.**, p. 93.
४९. **महा०**, अनु०, १४०·१८, पृ० ५९११।
५०. **DAK.**, VIII. 156, I. 18, II. 25, इ०।
५१. **DAK.**, p. 92.
५२. **DAK.**, coins no. 158-160.
५३. **DAK.**, p. 92-3.
५४. **DAK.**, p. 107.
५५. राज्य-संग्रहालय, लखनऊ सं० सं० १०४३६, १०६३८, ११६९९।
५६. **DAK.**, p. 94, 19b, 19a.
५७. **DAK.**, p. 93.
५८. **महा०** शान्ति०, २८४·९३, पृ० ५१७१।
५९. **महा०**, द्रोण०, १०२, ६३, पृ० ३७४१।
६०. तीनों के लिए द्रोण०, २०२·३९-४०, पृ० ३७४७।
६१. वही, वन०, १०६·१२, पृ० १२५१।
६२. वही, शान्ति०, २८४·१३७, पृ० ५१७४।
६३. **DHI.** p. 125.
६४. Seminar in Indian History 1962, **Lalitkala Academy of India**, **Delhi**, p. 8.–श्रीरत्नचन्द्र अग्रवाल द्वारा उद्धृत **Journal of the Indian Institute of Baroda**, Vol. XIV, Nos. 3-4, 1965, pp. 387-91.
६५. Singh, O.P., Representation of Ardhanarisvara from of Siva on the coins of Kanishka (Later Kushana), **JNSI.**, (Whitehead number).
६६. **DHI.**, p. 181; Spooner, Excavations at Basarh, **ASIAR.**, 1913-14.
६७. **DHI.**, p. 182.
६८-६९. **DHI.**, p. 188.
७०. Agrawala, R. C., Terracottas in the Bikaner Museum, **Lalitkala**, No. 8, October 1960, pp. 66-68, Shah, U. P., Terracottas from Bikaner State, **Lalitkala**, No. 8, pp. 55-62, Fig. 14.
७१. **Lalitkala** No, 8, Fig. 15, p. 67.
७२. **महा०**, शान्ति०, २०८.१९, पृ० ४९५३।
७३. **महा०**, उद्योग, ११४.४, पृ० २३५६।
७४. देखिये ऊपर संख्या ७१।
७५. Agrawala, R. C., Unpublished Terracottas and Sculptures in the National Museum, New Delhi and some allied Problems, **East and West.**, Vol. 17, pp. 277-78, fig. 6 8.

७६. Agrawala, V. S., Terracotta Figurines of Ahichchhatra, **Ancient India**, Vol. 4, 1948, Pl. LXI.
७७. वही, Pl. LXII.
७८. Singh Ram Chandra, Bhitargaon Brick Temple, **BMA.**, Vol. II-1968, p. 34, no. 12.
७९. AMM., no. 27-28. 1629.
८०. Shah U. P., Terracottas from Bikaner State, **Lalitkala**, No. 8, pp. 55-62, fig. 16.
८१. Agrawala, V. S., Terracotta Figurines of Ahichchhatra, **Ancient India**, no. 4, 1948.
८२. वही, p. 169 Pl. LXIV.
८३. वही, Pl. LXII, p. 168.
८४. Agrawala, V. S., Terracotta Figurines of Ahichchhatra, **Ancient India**, no. 4, 1948. p. 169, fig. 3.
८५. राजघाट के खिलौनों का एक अध्ययन, **नागरी-प्रचारिणी पत्रिका**, वर्ष ४५, अंक ३, कार्त्तिक १९९७, पृ० २२१, पार्वती-परमेश्वर।
८६. Coomaraswamy A. K., **HIIA.**, Pl. XVIII, fig. 68.
८७. डॉ० कुमारस्वामी द्वारा उसी ग्रन्थ में अन्यत्र प्रकाशित (**HIIA.**, Pl. XXI, fig. 80) मथुरा के 'तथाकथित बोधिसत्त्व' वस्तुतः उष्णीष पहने हुए शिव ही हैं, जैसा पेनसिल्वानिया-संग्रहालय की कृपा से प्राप्त चित्र से सुस्पष्ट होता है। यहाँ भी शिवलिंग के सम्मुख भाग पर शिव बने हैं। पैरों के नीचे कुषाण ब्राह्मी में लेख था, जिसके कुछ अक्षर अब भी विद्यमान हैं। ऊर्ध्वलिंग उष्णीषधारी शिव का यह रूप मूसानगर के शिव से सरलता से मिलाया जा सकता है। पेनसिल्वानियावाले शिव का ऊर्ध्वलिंग सन्देहास्पद है—चित्र में उसकी स्थिति का सन्देह अवश्य होता है।
८८. Joshi N. P., MS,. Pl. 74, AMM., 54·3764.
८९. **महा०**, अनु०, १४०·१८, पृ० ५९११।
९०. **महा०**, अनु० १४·२८९, पृ० ५४९८।
९१. **महा०**, सौप्तिक पर्व, ७·२६, पृ० ४३४०।
९२. **EHI.**, Vol. II, Pt. 2. प्रतिमा०, p. 156।
९३. Kramrish, Stella, Notes, **Journal of the Indian Society of Oriental Art**, Vol. VI, 1938, p. 200, Pl. LXIV.
९४. **M.S.**, Pl. 73, AMM., 30·2085.
९५. Cat., **JUPHS.**, XXII, p. 127.
९६. **वायुपुराण**, २·२४·५६, पृ० ९६, २·२४·९२, पृ० ९८।
९७. वही, २·२४·१४४, पृ० १०१।
९८. **महाभारत**, अनु०, १४·१९१, पृ० ५४८९।

९९. **महा०**, अनु०, १४·३४७-८, पृ० ५५०१।
१००. **कूर्मपुराण,** पूर्वार्द्ध, ४·५, पृ० १७, १२·१३, पृ० ४१।
१०१. वही, १२·१३, पृ० ४१।
१०२. AMM., 14·392-95
१०३. AMM., 12·214; Cat., **JUPHS.**, XXII, p. 127
१०४. **महा०**, अनु० १७·१११, पृ० ५५२३।
१०५. **वायु०** ४·१०·२९१–८, पृ० ५५१-२
१०६. **महा०**, वन०, २३१·२९-३१, पृ० १६११।
१०७. इस सम्बन्ध में सिंहनाद अवलोकितेश्वर (लखनऊ सं० सं० ओ.२२४) की मध्यकालीन मूर्त्ति एवं ध्यान का विचार भी अप्रासंगिक नहीं है। यहाँ त्रिनेत्र, जटामुकुट, सर्पावेष्टित त्रिशूल आदि में शिव-मूर्त्ति की छाप स्पष्ट है। सिंहनाद का वाहन सिंह है। यह भी कदाचित् प्राचीन शैव सम्प्रदाय की ही देन है।
१०८. **Cat.**, **JUPHS.**, XXII, p. 126.
१०९-१०. **महा०**, अनुशासन०, १४·१६५, पृ० ५४८९।
१११. **महा०**, आदि०, २१०·२२-२८, पृ० ६०५, **लिंगपुराण,** उत्तर०, १९·७, पृ० ४३०।
११२-१३ **महा०**, अनुशासन०, १४·१४८, पृ० ५४८८।
११४. Cat., **JUPHS.**, XXII, p. 128.
११५. जिस प्रकार कुषाण-मुद्राओं में बैल दाहिनी (रे०चि० ४) या बाईं ओर मुँह किये मिलता है, उसी प्रकार का अन्तर मथुरा की कुषाण-मूर्त्तियों में भी है। उदाहरण के लिए मथुरा-संग्रहालय की निम्नांकित मूर्त्तियाँ मिलाइए——अर्धनारीश्वर——बैल बाईं ओर ४७·३३४०, दाहिनी ओर ३१·२१०६, शिवपार्वती——बैल बाँये——जी० ५२, बैल दाहिने १५·८००।
११६. म० सं० सं० ३०·२०८४।
११७. **DHI.**, Pl. XXXVIII, no. 2, p. 468; इण्डियन म्यूझियम, कलकत्ता, सं० A 25040.
११८. **लिंगपुराण,** पूर्व०, २०·७३-७४, पृ० ५१।
११९. **कूर्मपुराण,** ८·८, पृ० २१५।
१२०. **लिंगपुराण,** पूर्व० २०·७५-८३, पृ० ५१।
१२१. वही, ४१·१४, पृ० १११।
१२२. **मार्कण्डेयपुराण,** ४६·१४, पृ० १७९——स एव क्षोभकः पूर्वं स क्षोभ्यः प्रकृतेः पतिः। स सङ्कोचविकाशाभ्यां प्रधानत्वेऽपि संस्थितः॥
१२३. **AMM.**, 34·2520; 15·800; 15·874; Cat., **JUPHS.**, XXII, p. 128
१२४. **MS.,** Pls. 80-82, AMM., 13·362.
१२५. सारनाथ-संग्रहालय, वीथिका २, मूर्त्ति-संख्या ६२४।
१२६. Remnants Shored Against the Ruins, **Marg,** Vol. XII, No. 2, March, 1959, fig. 11, p. 18.
१२७. Bajpai K. D., **Sagar through the Ages,** Sagar, 1964, Pl. VI.

१२८. Agrawala, V. S., The Religious Significance etc., **Lalitkala** No. 8 p. 66.

१२९. Agrawala, R. C., Chaturmukha Shiva-linga from Nand near Pushkar, Rajasthan, **पुरातत्त्व,** Varanasi, no. 2, 1968-69, pp. 53-54.

१३०. Agrawala, V. S., Terracotta Figurines of Ahichchhatra, **Ancient India**, Vol. 4, 1948, p. 169.

१३१. इस प्रसंग में पठनीय : Pathak V. S., Shaivism in early Mediaeval India etc., **Bharati**, no. 3. 1959-60, Varanasi, pp. 1-57; Agrawala, R. C., Two standing Lakulisa Sculptures from Rajasthan, **Journal of the Oriental Institute**, Vol. XIV. nos. 3-4, 1965, p. 391.

१३२. **EHI.**, Vol. II Pt. 2, pp. 273-292.

१३३. **DHI.**, p. 470—राव के मत का खण्डन।

१३४. Agrawala, V. S., Terracotta Figurines of Ahichchhatra, **Ancient India** No. 4, 1948, p. 169, Fig. 3; **DHI.**, p. 471.

१३५. कालेकर नारायण दत्तात्रेय, काशी की प्राचीन देवमूर्त्तियाँ, **आज,** १६ फरवरी, १९५८ वाराणसी।

१३६. भण्डारकर रा० गो०, **वैष्णव शैव और अन्य धार्मिक मत** (हिन्दी-अनवाद), वाराणसी १९६७, पृ० १३३-४।

१३७. **DHI.**, p. 465.

१३८. C. Shivaramamurti, Geographical and Chronological Factors in Indian Iconography, **Ancient India**, no. 6, January, 1950, p. 58.

१३९. वही, Pl. XXVI, fig. c.

१४०. वही, fig. a (तिरछी वीणा), Marg, Vol. XII, No. 2, March, 1959, p. 12, fig. 1 (सीधी वीणा)।

१४१. **Marg**, XII, no. 2 March 1959, p. 30, fig. 2.

१४२. **DHI.**, p. 482.

१४३. पूरी कथा के लिए देखिए, **ब्रह्मपुराण**, १४·९-१४।

१४४. **MS.**, Pl. 83; AMM., 35·2577.

१४५. **EHI.**, Vol. 2, Pt. 2 प्रतिमालक्षणानि, pp. 154-7.

१४६. **महा०**, अनुशासन १४·२९९, पृ० ५४९७।

१४७. वही, १४·२५५-२७४, पृ० ५४९६-७।

१४८. **पद्मपुराण**, सृष्टि खण्ड, १७·३५-४८, पृ० १३४।

१४९. **EHI.**, Vol. II, pt. 1, p. 150; Vol. I, pt. 2, p. 379; Vol. II, pt. 1 p. 115

१५०. Sivaramamurti C., Geographical and Chronological Factors etc. **Ancient India**, Vol. 6, January 1950, p. 60.

१५१. भीतरगाँव-मन्दिर के दक्षिण दिशा की ओर के शैव फलक।

१५२. **महा०**, द्रोण०, २०२.१०७, पृ० ३७५।
१५३. Agrawala, V. S., A Survey of Gupta Art and some New Gupta Sculptures, **Bharati**, no. 4, 1960-61, pp. 28-29, fig. 2.
१५४. **वायुपुराण**, २·२४·७२-७४, पृ० ६७।
१५५. वही, २·२५·२१-२४, पृ० १०४।
१५६. **पद्मपुराण**, सृष्टि०, १७·६३, पृ० १३५।
१५७. **कूर्मपुराण**, उत्तर०, ३८·६-१२, २७, पृ० ३२५-६।
१५८. **भागवत**, ८·१३·१४-३७।
१५९. **EHI.**, Vol. II, Pt. 2, pp. 485-92; प्रतिमालक्षणानि, pp. 238-40.
१६०. म० सं० सं० १७·१३३६।
१६१. Joshi N. P., A Note on Trishula-Purusha or Representation of The Trident in human form, **Proceedings of A. I. Orntl. Conference**, Bhubaneshwara, October 1959, pp. 235-237.
१६२. अग्रवाल, वासुदेवशरण, **प्राचीन भारतीय लोकधर्म**, अहमदाबाद, पृ० ६३।
१६३. वही, **यजुर्वेद**, ३·६१, **महा०**, आश्वमेधिक०, ८·१-८, पृ० ६११२, सौप्तिक, १७·२६, पृ० ४३३७१।
१६४. वही।
१६५. **महा०**, आदि०, १०६, पृ० ३३२।
१६६. वही, अनुशासन०, १७·११७, पृ० ५५२३।
१६७. **शतपथब्राह्मण**, १·७·३८, अग्रवाल वासुदेवशरण, **पाणिनिकालीन भारतवर्ष**, पृ० ३५० पर उद्धृत।
१६८. **DAK.**, p. 94.
१६९. Maurizio Taddei, An Eka-mukha linga from **N. W. F: P.** and some connected Problems, A study in Iconography and style, **East and West**, Ismeo, Rome, New Series, Vol. 13, no. 4, December 1962, p. 289.
१७०. प्रस्तुत तालिका का मुख्य आधार डॉ० टॅडी का ऊपरवाला लेख है।
१७१. Gherardo Gnoli, The Tyche and the Dioscuri in Ancient Sculptures from the Vally of Swat, **East and West**, New Series, Vol. 14, nos. 1-2, March-June 1963, fig. 4, p. 36.
१७२. वही, f. n. 14, 15; **DAK.**, fig. 126.
१७३. Maria Mariottini Spagnoli, The Symbolic Meaning of Club in the Inconography of the Kushana Kings, **East and West**, Vol 17, nos. 3-4, pp. 259-260.
१७४. Maurizio Taddei, वही, p. 289.
१७५. **DHI.**, p. 469, Pl. XXXIV. 1,

१७६. **ASIAR.**, 1915-16. p. 8, no. 32; Marshall, **Taxila**, p. 723, no. 151.
१७७. Marshall, **Taxila**, pp. 183, 648, no. 49, Pl. 198, No. 49.
१७८. **ASIAR.**, 1914-15, Pl. XXIV, 51; Marshall, **Taxila**, pp. 193, 681, no. 26, p. 208, 56.
१७९. Maurizio Taddei, वही लेख, f. n. 20.
१८०. वही, चित्र ११, १२ (शिव की पहचान के लिए चित्र अस्पष्ट है ।)
१८१. **ASIAR.**, 1913-14, Aiyar, V.N., Trimurti Image in Peshawer Museum, pp. 276-80, Pl. LXXIIa.
१८२. वायुपुराण, ५·१०·१८·२१ श्री अय्यर द्वारा उद्धृत।
१८३. देखिए ऊपर १७६, fn. 24, p. 290.
१८४. इस काल की अब तक ज्ञात मूर्त्तियाँ निम्नांकित हैं :

(अ) युसुफझाई जिले से प्राप्त दर्पणहस्ता पार्वती !

(आ) गन्धार-प्रान्त से प्राप्त वृषारूढशिव-पार्वती ।

(इ) वृष के साथ शिव-पार्वती ।

(ई) चतुर्भुज कार्त्तिकेय ।
इन चारों मूर्त्तियों के लिए देखिए—Barett Douglas, Sculptures of the Shahi Period, (c. 700-900 A. D.), **Oriental Art**, New Series, Summar 1957, Vol. III, no. 2, London, pp. 54-59 figs. 9, 10, 12, 11.

(उ) त्रिशूल, डमरु एवं कमण्डलुधारी चतुर्भुज शिव, मनिचिनार, स्वात (Giuseppe Tucci, Preliminary Report on an Archaeological Survey in Swat, **East and West**, New Series, Vol. 9, No. 4, December 1958, p. 314, fig. 26.)

(ऊ) सफेद संगमरमर का एकमुख शिवलिंग (Mauzirio Taddei, An Ekamukha linga from N. W. F. P. etc., **East and West**, New Series, Vol. 13, December, 1962, pp. 288-295, figs. 1-4).

(उ) लिंगाकार लघु-देवगृह का एक भाग । बाहर की ओर से इसका आकार मुखलिंग का था, पर अन्दर की ओर शिव-पार्वती की प्रतिमा बनी थी (Maurizio Taddei, A Linga shaped Portable Sanctuary of the Shahi Period, **East and West**, New Series, Vol. 15, nos. 1-2, January 1964-March 1965, pp. 24-25, figs. 1-3).

१८५. ऊर्ध्वलिंग, द्विभुज गणपति की दो मूर्त्तियाँ, काबुल, Agrawala R. C. Urdhvaretas Ganesha from Afganistan, **East and West**, New Series, Vol. 18; Nos. 1-2, March-June, 1968, pp, 166-8, figs. 1 and 4.
१८६. स्वात (उड्डियान) तान्त्रिकों का अड्डा था । तन्त्र का सम्बन्ध लिंग और योनि से है ही । यह भी उल्लेखनीय है कि बौद्धों के मंजुश्रीमूलकल्प में 'एकलिंग महेश्वरायतन' में जाकर तान्त्रिक पद्धति से सिद्धि की प्राप्ति के लिए लिंगोपासना का

विधान है। देखिए—**महायानसूत्रसंग्रह** २ मंजुश्रीमूलकल्प, २३ यमान्तक-क्रोधराज-सर्वविधि-पटलः, p. 438, Mithila Institute Publication, 1964.

१८७. **हरिवंश**, हरिवंशपर्व, २५·२१, पृ० १२५।

१८८. मीतल प्रभुदयाल, **वृज का सांस्कृतिक इतिहास**, प्रथम भाग, मथुरा, १९६६, पृ० १५३–५७।

१८९. AMM, 29·1931; Cat., **JUPHS.**, XXIV-XXV, pp. 144-45; **Epigraphia Indica**, Vol. XXI, pp. 1-9.

१९०. सारनाथ-संग्रहालय, संख्या ६२४ Gallery II.

१९१. **Marg** Vol. 12, no. 2, March, 1959, p. 12, fig. 1; p. 18. fig. 2.

१९२. **M.S.**, Pl. 74.

१९३. देखिए १९१।

१९४. देखिए १९१ तथा गुप्तकालीन एकमुख शिवलिंग, जिनका विचार हम आगे करेंगे।

१९५. IMC. सं० सं० A 25113 (NS. 2209·4615), A 25112 (NS. 2210; 4616) –गंगावतरण, पार्वती-अनुनय; A 25106 (NS. 2208, 4617)–पाशुपतास्त्र-प्राप्ति।

१९६. Sivaramamurti, Geographical and Chronological factors etc., **Ancient India** no. 6, January, 1950 Pl. XIX. B.

१९७. **EHI.**, Vol. II, Pt. 1, p. 66, Pl. V, fig. 2.

१९८-९९. **पद्मपुराण,** सृष्टि०, १७·३५-३६, पृ० १३४; १७·५९-७१, पृ० १३५-३६।

२००. वही, १७·१६२-६४०, पृ० १४०।

२०१. उदाहरणार्थ, **कूर्मपुराण** उत्तर०, ३८, पृ० ३२४-२६।

२०२. Banerjee J. N., Two Stone Reliefs from an early Shiva Temple, **Journal of the Indian Society of Oriental Art, Vol.** X, **1942, pp. 202-6**

२०३ पद्मपुराण, ६·२२५·३१-४२, पृ० ९३४।

२०४. वही, १·१७·२६९-७०, पृ० १४६।

२०५. **कूर्मपुराण,** उत्तर०, ३८·३९, पृ० ३२४-३३१।

२०६. वही, उत्तर०, ३९·६२, पृ० ३३२—इनमें मुख्यतया 'वाम' 'पाशुपत', 'सोम', 'भैरव' व 'लाकुट' मतों की गणना की गई है।

२०७. **लिंगपुराण,** पूर्वार्द्ध, १७, पृ० ३९-४२।

२०८. वही, पूर्वार्द्ध, १९-१७-१८, पृ० ४७।

२०९. **महा०**, सौप्तिक०, १७·२०-२६, पृ० ४३७०-१।

२१०. **महा०**, द्रोण०, २०२·१४०, पृ० ३७५३।

२११. **EHI.,** Vol. II, Pt. 1, pp. 65-67.

२१२. Marshall, Excavations at Bhita, **ARASI.**, 1911-22, pp. 29-94.

२१३. Agrawala R. C, Chaturmakha Linga from Nanda near Pushkar Rajasthan, **Puratatva,** Indian Archaeological Society, Varanasi, no. 2, 1968-69, pp. 53-54, Pls. A. B. C, D,

२१४. **EHI.**, Vol. II, Pt. 2, प्रतिमालक्षणानि, p. 27—इस प्रकार के लिंगों को 'त्रैराशिक' लिंग कहते थे, जिनमें नीचे का भाग, अर्थात् ब्रह्मभाग चौपहला (युगाश्रक) बीचवाला विष्णुभाग अठपहला (अष्टास्र) तथा ऊपर वाला ईश-भाग गोल (वृत्त) होता था।

२१५. इसका एक सुन्दर उदाहरण फैजाबाद के करमदण्ड नामक स्थान से प्राप्त कुमार-गुप्त कालीन अभिलिखित शिवलिंग है—राज्य-सं०, लखनऊ, ओ ५।

२१६. **HIIA.**, Pl. XVIII, fig. 68.

२१७. **HIIA.**, Pl. XXI, fig. 80.

२१७. **वायु०**, २·५५·१६-३०, पृ० २४६-४७, **लिंग०**, पूर्वार्द्ध, १७·३१-५०, पृ० ४१, **कूर्म०**, पूर्वा०, २६.६६-७६, पृ० १२३, **वामन०**, ६·६१-७७।

२१८. Agrawala V.S., The Religions Significance of the Gupta Terracottas from Rang Mahal. **Lalitkala**, No. 8, fig. 13.

२१६ **DHI.**, Pl. XXXI, 4; **EHI.**, Vol. II, Pt. 2, pp. 105-14, Pls. XXIII-XXIV.

२२०. उदाहरण के लिए **CAMG.**, p. 14, no. 1.

२२१. **वायु०**, २·२४·१५५, पृ० १०१।

२२२. **महा०**, अनु०, १४·१६५, पृ० ५४८६।

२२२अ. **महा०**, सौप्तिक०, ७·२६, पृ० ४३४०।

२२३. अघापुर का लिंग, भरतपुर-संग्रहालय।

२२४. **EHI.**, Vol. II, Pt. 2 प्रतिमालक्षणानि, pp. 155-6.

२२५. वही, p. 155.

२२६. कलकत्ता के बिरला-अकादमी ऑव आर्ट ऐण्ड कल्चर (सं० सं० सी. ६७)। यह गुप्तकालीन शिवलिंग विशेष महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि यहाँ कुषाण और गुप्तकालीन त्रिनेत्रवाली विशेषता का सम्मिलन है। अघोर मुख का त्रिनेत्र खड़ा बना है, किन्तु उसी के बाँई ओरवाले मुख का त्रिनेत्र कुषाणकाल के समान आड़ा बना है जिसमें पुतली भी स्पष्ट रूप से बनी है। इसीके साथ अघोर मुख के ऊर्ध्वकेश और भालपट्ट भी दर्शनीय है।

२२७. **महा०**, आदि०, २१०·२३-२६, पृ० ६०५-६।

२२८. **महा०**, अनु०, १४०·४७, पृ० ५६१३, १४१·१-६, पृ० ५६१४।

२२६. **विष्णुधर्मोत्तर पुराण**, III ४४·१४-१६।

२३०. म० सं० सं० ३३·२३१२, १६·१२३८, १५·८६६, ऊँचाहर का लिंग, Agrawala V.S., A Survey of Gupta Art and some new Gupta Sculptures, **Bharati**, Varanasi No. 4, 1960-61, p. 25, fig.1.

२३१. **EHI.**, Vol. II, Pt. 2, प्रतिमालक्षणानि, p. 155, म० सं० सं०, १८·१५३३, ६६.५

२३२. (इलाहाबाद सं० सं० १५४), Kala S. C., **Sculptures in the Allahabad Museum**, p. 30.

भूमराशिव लिंग, Agrawala, V. S., **Gupta Art,** 1947, fif. 5, pp, 5, 36, (यहाँ गलती से शिवलिंग को खोह से प्राप्त बतलाया गया है, इस दोष को उसी लेखक ने 'भारती' (अंक ४, १९६०-६१, पृ० २७) में ठीक करने का प्रयास किया है ।)

२३३. **महा०**, अनु०, १४·३०३, पृ० ५४९९ ।

२३४. वही, १४·३०७, पृ० ५४९९ ।

२३५. वही, १४·३८७-८८, पृ० ५५०४ ।

२३६. मिलाइए म० सं० सं० १५·८९९, १७·१२३८, १८·१५३३, २९·१९८५, ३३·२३१२, ६६·५, इत्यादि ।

२३७. म० सं० सं०, १५·६५२, ३६·२६६१, ४०·२८८५, ५२·३६२५, ल० सं० सं० एच् १ ।

२३८. **MS.,** Pl. 10.
*Indian Museum, Calcutta, A 25124,

२३९. म०सं०सं०, १५.५६२ ।

२४०. ल०सं०सं० एच् १ ।

२४१. म०सं०सं० ४०·२८८५ ।

२४२. **महा०**, अनु०, १४·३०३, पृ० ५४९९ ।

२४३. शिव की अष्टमूर्त्तियाँ—देखिये अभिज्ञानशाकुन्तल, मंगलश्लोक ।

२४४. Agrawala, V.S., Further New Inscriptions from Mathura, **JUPHS.,** XII, Pt. 1, 1939, pp. 22-23.

२४५. वृहत्संहिता, ५७·५३-५४ ।

२४६. **EHI.,** Vol, II, Pt. 1, pp. 89-90.

२४७. भाण्डारकर, रामकृष्ण गोपाल, **भारतीय धर्मों का इतिहास**, हिन्दी-अनुवाद—महेश्वरीप्रसाद, वाराणसी, १९६७, पृ० ११७–१२८ ।

२४८. **वा० रामायण,** उत्तर०, ३१·४२, पृ० १५३९ ।

विष्णु

यद्यपि वैदिक साहित्य में 'विष्णु' शब्द ज्ञात था, और उसका इन्द्र से सम्बन्ध भी लोकविश्रुत था, तथापि उसे एक प्रमुख ब्राह्मणधर्मीय देवता के रूप में पौराणिक साहित्य में ही प्रयुक्त किया गया। विष्णु या वासुदेव के उपासक 'वासुदेवक' नाम से पहचाने जाते थे, ठीक वैसे ही, जैसे बलदेव के 'बलदेविक', अग्नि के 'अग्गवतिक', यक्षों के 'यक्खवतिक' इत्यादि। वासुदेवकों का उल्लेख करनेवाली बाईस देवताओं की यह सूची पालि-सुत्तनिपात की 'निद्देस टीका' में मिलती है।[१] 'मिलिन्दपञ्ह' भी वासुदेव के उपासकों का उल्लेख करता है।[२] प्राचीन भारत के विविध सम्प्रदायों में भागवत, पांचरात्र तथा सात्त्वत मुख्यरूप से विष्णु के उपासक थे। मथुरा के आसपास भगवान् वासुदेव की पूजा का बहुत जोर था। सौभाग्य से प्राचीन अभिलेखों में वासुदेव के कतिपय मन्दिरों के उल्लेख सुरक्षित रह गये हैं। यथा :

१. घोसुण्डी (प्राचीन माध्यमिका, राजस्थान) की नारायणवाटिका।[३]
२ विदिशा का विष्णुमन्दिर, जहाँ यवन-राजदूत हेलिओदोरस ने गरुडध्वज की स्थापना की थी।[४]
३. मथुरा के पास 'मोड़' (Mora) नामक स्थान पर बना पंचवीरों का शैलदेवगृह।[५]
४. मथुरा का वसु द्वारा बनवाया गया 'महास्थान'।[६]
५. वैशाली का विष्णुपादस्वामी का मन्दिर। इसके अस्तित्व की मान्यता का आधार बसाढ़ (प्राचीन वैशाली) से मिली एक मुहर है।[७]
६. विदिशा का दूसरा गरुडध्वज।[८]

विष्णुमन्दिरों के अस्तित्व के ये प्रमाण स्पष्टतया इस बात के प्रतीक हैं कि विष्णु-प्रतिमा की प्राचीनता बहुत दूर तक आँकी जा सकती है। सुदैव से मथुरा की कुषाण-कला हमें इस विषय की प्रचुर सामग्री प्रदान करती है।

ईसवी-सन् के प्रारम्भ के पूर्व की विष्णु-प्रतिमाएँ हमें अबतक ज्ञात नहीं हैं, केवल संकर्षण या बलराम की तीन मूर्त्तियों को हम जानते हैं, उनका विचार आगे होगा। अतएव, विष्णु-मूर्त्ति के अध्ययन का आरम्भ कुषाण-काल से ही होगा। इस सम्बन्ध में प्राचीन मुद्राओं पर मिलनेवाली सामग्री को प्रथम देख लें।

प्राचीन मुद्राओं पर विष्णु-प्रतिमाएँ[१]

प्रारम्भिक काल से कुषाणकाल तक की सोने, चाँदी या ताँबे की मुद्राओं पर शिव, सूर्य, कार्त्तिकेय, लक्ष्मी आदि देवताओं के दर्शन तो होते हैं, किन्तु विष्णु की आकृति बहुत ही कम दिखलाई पड़ती है। पांचालों के एक शासक विष्णुमित्र (ई० पू० प्रथम शती) के सिक्कों पर वासुदेव-विष्णु के दर्शन होते हैं, परन्तु ये सिक्के इतने छोटे हैं कि इनके आधार पर विष्णु के आयुधादिकों का विवेचन असम्भव-सा है। कुषाण-शासक

हुविष्क की एक ताम्रमुद्रा पर **डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार** के मतानुसार विष्णु का अंकन किया गया है, परन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं है । इसी काल की एक दूसरी मुहर पर विष्णु की बड़ी सुन्दर मूर्त्ति मिलती है,[१०] परन्तु यहाँ आयुधों की स्थिति समकालीन अन्य प्रतिमाओं की अपेक्षा सर्वथा भिन्न है । साधारण दाहिने हाथ में गदा, ऊपरवाले हाथ में एक वर्त्तुलाकार वस्तु, बाईं ओर के हाथ में शंख (?) तथा नीचे चक्र है । विष्णु के मुकुट में भी भिन्नता है । उनका शरीर पृथुल और गठा हुआ है । विष्णु के सामने नमस्कार-मुद्रा में एक मुकुटधारी पुरुष खड़ा है ।

यह आश्चर्य की बात नहीं है कि कुषाण-मुद्राओं पर विष्णु के दर्शन नहीं होते, क्योंकि किसी भी कुषाण-शासक का झुकाव वैष्णव धर्म की ओर नहीं था । गुप्तों के समय स्थिति बदल गई थी । इन परमभागवत राजाओं की मुद्राओं पर गरुड, गरुडध्वज एवं लक्ष्मी तो बहुलता से दिखलाई पड़ती है, पर प्रत्यक्ष विष्णु चन्द्रगुप्त की 'चक्रविक्रम' मुद्रा को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलते ।

कुषाणकालीन विष्णु

मथुरा-क्षेत्र से अबतक कुषाणकाल की ३९ विष्णु-प्रतिमाएँ हमें ज्ञात हैं । इसके अतिरिक्त इस काल की लखनऊ-संग्रहालय में ४ और इलाहाबाद में तीन मूर्त्तियाँ हैं । मध्यप्रदेश से भी इस काल की दो मूर्त्तियाँ मिली हैं, जो ग्वालियर-संग्रहालय में हैं । इस प्रकार हमारा कुषाणकालीन विष्णु का यह विवेचन कुल ४८ प्रतिमाओं पर आधृत है ।[११]

इनके अतिरिक्त इस काल की मिट्टी की मूर्त्तियाँ, राजस्थान की प्रतिमाएँ तथा आन्ध्रप्रदेश के गुन्तूर जिले में स्थित कोण्डा-मोतु से मिला 'पंचवीरपट्ट' भी हमारे विचार-कक्ष में आते हैं ।[१२]

मथुरा की विष्णु-प्रतिमाओं में साधारण रूप से निम्नांकित विशेषताएँ पाई जाती हैं :

१. कुछ मूर्त्तियों को छोड़कर साधारणतः सभी मूर्त्तियाँ आकार में छोटी तथा सुविधा से वहन-योग्य हैं । उनकी ऊँचाई साधारणतया २½" से १५" के बीच में है । अबतक की सबसे बड़ी ज्ञात मूर्त्ति चतुर्व्यूह विष्णु (चित्र ४६ अ, ब) की है, जो अपने मूल रूप में लगभग ३ फीट ऊँची रही होगी ।
२. बहुधा मूर्त्तियाँ चतुर्भुज हैं । उनके हाथों में प्रदक्षिणा-क्रम से गदा, चक्र, शंख या जलपात्र है, साधारणतः दाहिना हाथ अभयमुद्रा में कन्धे तक उठा रहता है ।
३. विष्णु की ये प्रतिमाएँ पूर्ववर्त्ती एवं समकालीन यक्ष तथा भद्रपुरुषों की मूर्त्तियों के आधार पर बनाई गई थीं । इसका संकेत अभयमुद्रावाले दाहिने हाथ, कटि-संस्थित बायें हाथ तथा भौंहों के बीच बहुधा दिखलाई पड़नेवाले ऊर्णा-चिह्न से स्पष्टतया मिलता है; क्योंकि ये दोनों प्रकार की

मूर्त्तियों की उभयसाधारण विशेषताएँ हैं। इसी सन्दर्भ में विदिशा से मिली हुई उभयवर्त्ती द्विभुज प्रतिमा उल्लेखनीय है, जिसे सूर्य माना गया है, पर वहाँ सूर्यत्व का कोई चिह्न विद्यमान नहीं है (रे० चित्र ४२,४३)।

४. इस काल की किसी भी विष्णुमूर्त्ति के वक्षस्थल पर 'श्रीवत्स' का चिह्न विद्यमान नहीं है। यह एक विचित्र बात है; क्योंकि एक तो श्रीवत्स चिह्न का अन्यत्र प्रयोग कुषाणकाल के पहले से ही मिलता है तथा समकालीन जैन प्रतिमाशास्त्र के द्वारा 'पुरुषोत्तमत्व' के सूचक चिह्न के रूप में उसे मान्यता भी मिल चुकी थी, जैसा उस समय की तीर्थंकर-प्रतिमाओं में देखा जा सकता है। दूसरे ब्राह्मणधर्म की साहित्यिक परम्परा विष्णु के वक्षस्थल पर श्रीवत्स के होने की बात प्राचीन काल से ही स्वीकार कर रही थी। ऐसी स्थिति में केवल यही कहा जा सकता है कि शिल्पियों के यहाँ यह परम्परा जड़ नहीं पकड़ रही थी। वैसे उन्हें इस बात का पता अवश्य था; क्योंकि मथुरा से मिली हुई कुषाणकालीन वराह की मूर्त्ति में यह चिह्न स्पष्ट रूप से बना हुआ है (चित्र-सं० ५९)।

५. विदिशावाली द्विभुज मूर्त्ति को छोड़ अन्य कुषाणकालीन विष्णु-मूर्त्तियों में प्रभामण्डल नहीं बना है, यद्यपि समकालीन बुद्ध और तीर्थंकर-मूर्त्तियों में उसके दर्शन होते हैं।

६. यही बात खुली हुई हथेलियों के बारे में भी कही जा सकती है। विष्णु की दाहिनी हथेली खुली रहती है, किन्तु बुद्ध या तीर्थंकर-प्रतिमाओं के समान उस पर चक्र, त्रिरत्न आदि मांगलिक चिह्नों के दर्शन नहीं होते।[१३] पवायावाली मूर्त्ति में हाथ की रेखाओं का प्रादुर्भाव अवश्य होता है (चित्र-सं० ४४), जो बाद में गुप्तकाल की एक विशेषता बन जाती है।

७. कुषाणकाल की दूसरी विशेषता थी, उभयवर्त्ती (दोनों ओर से गढ़ी हुई) मूर्त्तियों का निर्माण, जिन्हें आगे और पीछे दोनों ओर से देखना होता है। इनमें पीछे की ओर से या तो शरीर, केश-सम्भार एवं वस्त्रविन्यास का दर्शन कराया जाता है, अथवा फल और पक्षियों से लदे किसी वृक्ष का अंकन होता है। विष्णु-मूर्त्तियों में अधिकतर प्रथम पद्धति का अवलम्बन किया गया है (चित्र-सं० ५२ ब, ५३ ब)। दूसरी केवल यत्र-तत्र काम में लाई गई है। इसका अच्छा-सा नमूना मथुरा की चर्तुर्व्यूह-प्रतिमा है, जिसके पीछे पुष्पों से लदा वृक्ष तथा तोता बना हुआ है (चित्र-सं० ४६ब)।

८. उभयवर्त्ती मूर्त्तियों के अतिरिक्त, पटिया पर गहराई से उभरी हुई मूर्त्तियाँ बनाने की पद्धति भी प्रचलित थी। कभी-कभी दोनों पद्धतियों का मेल किया जाता था। उदाहरणार्थ, मथुरा-संग्रहालय की एक प्रतिमा (म० से० से० १५.११६८, चित्र-सं० ५०) ऊपर के अर्धभाग में उभयवर्त्ती तथा नीचेवाले भाग में पटिया पर उभरी हुई है।

९. विष्णु की अतिरिक्त भुजाओं को अंकित करने की पद्धति भी ध्यान देने योग्य है । इस काल की सभी मूर्त्तियाँ उद्वाहु (ऊपर उठे हुए अतिरिक्त हाथोंवाली) हैं। ये अतिरिक्त भुजाएँ पुट्ठों से अलग होती हुई दिखलाई गई हैं (चित्र-सं० ५२ ब) । इसके विपरीत गुप्तकाल की प्रतिमाएँ 'प्रलम्बबाहु' (सभी हाथ नीचे की ओर लटकते हुए) अवस्था में हैं, जहाँ हाथ कन्धों से पर्याप्त सटे हुए-से बने हैं (चित्र-सं० ५८) । मध्यकाल में अतिरिक्त भुजाओं का निकास बहुधा केहुनियों से दिखलाई पड़ता है ।

आयुध :

इन मूर्त्तियों के मुख्य आयुध दो हैं—गदा और चक्र । ये द्विभुज मूर्त्तियों के अतिरिक्त अनपवाद रूप से सभी विष्णु मूर्त्तियों में रहते हैं । विष्णु का तीसरा आयुध है 'शंख', किन्तु कुछ प्रतिमाओं में इसका दूसरा पर्याय जलपात्र भी मिलता है। इनपर क्रम से विचार करें ।

गदा :

विष्णु का उठा हुआ पिछला दाहिना हाथ गदा का सुनिश्चित स्थान था । सभी प्रतिमाओं में इसके होने की बात कही जा सकती है। इसके लिए केवल एक ही अपवाद है—हुविष्क की मुहर पर बनी विष्णु-मूर्त्ति, जिसके साधारण दाहिने हाथ में गदा है।[१४] कुषाण-गदा का आकार एक जोड़ी या मुद्गर जैसा होता था, जो अपने आधार से ऊपर तक पतला होता हुआ उठता था तथा सबसे ऊपरी सिरे पर लम्बी-सी मुठिया लगी रहती थी । पुराणों में विष्णु की गदा को 'वह्निशिखाकारा'[१५] तथा 'प्रदीप्त-पावकोज्वला'[१६] कहा गया है । आग की लपट विनाशकारी होने के साथ-साथ नीचे से मोटी तथा ऊपर से पतली होती हुई दिखलाई पड़ती है । स्पष्ट है कि कुषाणकालीन विष्णु की गदा का वर्णन पुराणों के इस वर्णन से मेल खाता है ।

एक दूसरे प्रकार की गदा में नीचे की ओर गोल पेंदा या 'कुम्भ' भी लगा हुआ है । गदा के दण्ड या 'यष्टि' को समान अन्तर पर सँकरी पट्टियों से सुशोभित किया गया है । विष्णु के द्वारा गदा को सीधी या उल्टी स्थिति में पकड़ा गया है । इस पकड़ के निम्नांकित चार प्रकार हैं :

(क) ऊपर उठे हुए हाथ द्वारा सामने की ओर से गदा को सँभालना (म० सं० सं० ३४·२४८७, रे० चित्र ४७) ।

(ख) उलटकर रखी गदा के ऊपरी, अर्थात् मोटे सिरे को उठे हुए दाहिने हाथ की हथेली से सँभालना (म० सं० सं० २९·२८५८, ००·यू०५, रे० चित्र ४७) ।

(ग) हाथ अन्दर की ओर घुमाकर सीधी रखी हुई गदा को मुठिया से पकड़ना (म० सं० सं० यू० ७७; १५·९५६, रे० चित्र ४७) ।

(घ) नीचे लटकते हुए दाहिने हाथ से गदा को सँभालना (म० सं० सं० १५.९३३ रे० चित्र ४७) ।

चक्र :

चक्र विष्णु के ऊपर उठे हुए बायें हाथ में रहता है। उसकी परिधि अँगूठे के सहारे से खुली हुई हथेली पर टिकी रहती है तथा शेष चार उँगलियाँ सामने की ओर झाँकती हुई उसे पकड़ती हैं (चित्र-सं० ४८)। चक्र की तीलियों की संख्या के विषय में कोई निश्चयात्मक विधान नहीं किया जा सकता। एक प्रतिमा में (म०सं०सं० ३४·२४८७) सोलह तीलियाँ हैं, तो दूसरी में सत्रह (म० सं० सं० १५·९५६)। अधिकतर प्रतिमाओं में चक्र टूटा हुआ है। साधारणतया यह बिना किसी अलंकरण के सम्मुख (Enface) अथवा आड़ी स्थिति में (Profile) दिखलाई पड़ता है (म० सं० सं० ५६·४२००, चित्र-सं० ५६)।

शंख :

विष्णु का शंख से सम्बन्ध स्थापित करनेवाले साहित्यिक उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। उसकी स्थिति विष्णु के बायें हाथ में रहती है, जो बहुधा कमर की ओर मुड़ा रहता है। कभी वह कमर को स्पर्श करता है और कभी उसके पास पहुँचता रहता है। बिना किसी अलंकरण के वामावर्त्त शंख को पकड़ के निम्नांकित रूप मिलते हैं, जिनमें यत्र-तत्र थोड़े बहुत परिवर्त्तन दिखलाई पड़ते हैं (रे० चित्र ४८) :

(क) हथेली पर आड़ा या तिरछे रखा हुआ (म० सं० सं० ५०·३५५०, १५·९५६)।

(ख) हथेली पर खड़ा रखा हुआ (ल० स० स० जे० ६१०)।

(ग) प्रणाली में उँगलियों को फँसाकर पकड़ा हुआ (म०स०स० ३९·२८५८)।

जलपात्र :

विष्णु के पास जलपात्र या अमृतघट क्यों दिखलाई पड़ता है, इसका समुचित उत्तर अभी नहीं दिया जा सकता है। साहित्य इस विषय में मौन लगता है। मूर्त्तिकला के क्षेत्र में अबतक जलपात्रधारी विष्णु की छह प्रतिमाएँ ज्ञात हैं (म० स० सं० ३४·२५२०; २८·१७२९; १५·९४८; १५·९१२; १५·९३३; ४७·३२५८, चित्र-सं० २०, ४७)। इनमें दृष्टिगत होनेवाली वस्तु को जलपात्र कहने का कारण यह है कि लम्बी गरदन-वाली बोतल जैसी यह वस्तु मथुरा तथा गान्धार-कला में निर्मित बोधिसत्त्व मैत्रेय के अमृतघट से पूरी तरह मेल खाती है। कुछ विद्वान् इसे प्रणाली से पकड़ा हुआ शंख मानते हैं, परन्तु प्रस्तुत लेखक को यह मत मान्य नहीं है; क्योंकि एक तो शंख के वलय, चोंच आदि कहीं नहीं दिखलाई पड़ते तथा दूसरे शंख की इस प्रकार की पकड़ कहीं इतरत्र ज्ञात भी नहीं है। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार की एक प्रतिमा (म० सं० सं० ४७·३२५८) में बने जलपात्र पर दो शंखों की आकृतियाँ अलंकरण के लिए अगल-बगल बनाई गई हैं।

जलपात्रधारी मूर्त्तियों की संख्या की न्यूनता इस बात का प्रमाण मानी जा सकती है कि प्रारम्भिक अवस्था में बोधिसत्त्व मैत्रेय के नमूने पर जलपात्रधारी विष्णु की मूर्त्तियाँ बनीं, पर शीघ्र ही समकालीन साहित्यिक परम्परा के अनुसार जलपात्र का स्थान शंख ने ले लिया, जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध जल से ही है।

अभयमु ा :

विष्णु के आयुधों का विचार करते समय उनके दाहिने हाथ की अभयमुद्रा पर भी ध्यान देना आवश्यक है। कुषाणकालीन मूर्त्तिविज्ञान का यह सर्वमान्य सिद्धान्त था कि देवताओं की प्रतिमाएँ सदैव इस प्रकार बनाई जायँ कि उनका दाहिना हाथ अभयमुद्रा कन्धे तक उठा हो तथा बाँया मुड़कर कमर को छू रहा हो। बाँयेवाले हाथ में साथ-ही-साथ वस्त्र का छोर, कमलनाल, शंख, कलश, अमृतघट आदि भी पकड़े जा सकते थे। यह बात केवल ब्राह्मणधर्म की मूर्त्तियों के लिए ही नहीं, अपितु जैन तथा बौद्ध प्रतिमाओं के लिए भी लागू थी। विष्णु की अभयमुद्रा भी इसी परम्परा के अनुरूप थी। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरणीय है कि प्राचीन साहित्य विष्णु के केवल तीन ही आयुधों का––गदा, चक्र और शंख का उल्लेख करता है। एतावता तीन हाथों में तो तीन आयुध दिखला दिये जाते थे तथा बचा हुआ हाथ परम्परा के अनुसार अभयमुद्रा में रह जाता था।

कमल या पद्म का अभाव :

यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि इन सभी मूर्त्तियों में कमल पूर्णः रूप से अदृश्य है। कुषाण, कुषाण-गुप्त तथा बहुत अंश तक गुप्तकाल में भी 'पद्मायुध'-वाली परम्परा का उदय नहीं हुआ था। कमल धारण करनेवाली विष्णु की किसी गुप्तकालीन मूर्त्ति का लेखक को पता नहीं है।[१७] स्पष्ट है कि इस काल तक शिल्पियों के समाज में पद्मवाली परम्परा को मान्यता नहीं मिली थीं। अब साहित्य की ओर देखें।

यद्यपि महाकाव्य और पुराणों का काल-निश्चय स्वयं एक वाद का विषय है, तथापि अबतक विद्वानों ने जो मन्थन किया है, उसका निष्कर्ष यह है कि रामायण और महाभारत के बहुत-से अंश तथा ब्रह्म, वायु, विष्णु आदि कतिपय पुराणों के कई अंश गुप्तकाल के पहिले बन चुके थे। विष्णु के आयुधों के लिए इनकी छानबीन करने पर हम भी लगभग इसी तथ्य पर पहुँचते हैं; क्योंकि इन्हीं ग्रन्थों में अन्य ग्रंथों की अपेक्षा शंख-चक्र-गदाधारी विष्णु के उल्लेख अधिक हैं। पद्मादि कुछ पुराणों में अवश्य ही कमल के कुछ उल्लेख मिलते हैं, जो वर्त्तमान युग के प्रारम्भ तक एक सुदृढ परम्परा में परिणत हो जाते हैं। यद्यपि 'पुराणों में विष्णु का पद्म' एक स्वतन्त्र विचार का विषय है, तथापि प्रस्तुत विषय को किंचित् स्पष्ट करने के लिए उसकी मोटी-सी रूपरेखा हम नीचे दे रहे हैं।

साहित्यिक सामग्री एकत्र करने के विचार से रामायण-महाभारत के अतिरिक्त कुछ पुराणों को भी उलट-पलट गया। इस उलटने-पलटने में, जिसे गुरु-गम्भीर अध्ययन कभी नहीं कहा जा सकता, कुल १४५ सन्दर्भ एकत्र हुए, जिनमें १०८ शंख-चक्र-गदा धारण करनेवाले विष्णु का तथा केवल ३७ कमलधारी विष्णु का उल्लेख करते हैं। स्थिति इस प्रकार है :

ग्रन्थ	शं०च०ग० वाले उल्लेख	शं०च०ग० पद्म-वाले उल्लेख
वाल्मीकीय रामायण	९	..
महाभारत	२०	१
विष्णुपुराण	१४	..
वराहपुराण	६	..
मत्स्यपुराण	६	३
लिंगपुराण	२	४
पद्मपुराण :		
१. सृष्टिखण्ड	६	१
२. भूमिखण्ड	६	५
३. स्वर्गखण्ड	..	..
४. ब्रह्मखण्ड	२	..
५. पातालखण्ड	..	१३
६. उत्तरखण्ड	२०	३
७. क्रियायोगसारखण्ड	..	..
वायुपुराण	१	..
ब्रह्मपुराण	८	..
अग्निपुराण	८	२
कुल योग	१०८	३७

हाथ-लगे सन्दर्भों की उपर्युक्त तालिका के आधार पर कोई निश्चित मत स्थापन करने की चेष्टा यद्यपि अवैज्ञानिक है, तथापि उससे सम्भवनीय लगनेवाले निष्कर्षों की ओर से आँखें बन्द कर लेना भी युक्तिसंगत नहीं है। यह तालिका इन बातों का संकेत करती है :

१. १४५ में से १०८ सन्दर्भ शंख-चक्र-गदाधारी विष्णु के हैं। अतः, पद्म का उल्लेख न करनेवाली इतनी बड़ी संख्या उस परम्परा की प्राचीनता की ओर संकेत करती है।

२. पद्म का वर्णन न करनेवाले ग्रन्थों में रामायण, महाभारत, वायुपुराण, विष्णुपुराण, ब्रह्मपुराण आदि जाने-माने प्राचीन ग्रन्थ ही अधिक हैं।

३. जिन ३७ सन्दर्भों में पद्म का वर्णन है, उनके आसपास या अगल-बगलवाले अध्यायों में बहुधा ऐसे भी उल्लेख मिल जाते हैं, जो उस प्रसंग के परवर्त्ती काल के होने की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं, जैसे :

(क) पद्मपुराण में (कमलवाले उल्लेख) (५·८१-४१, पृ० ३४२, मोर-प्रति) के पास ही (५·८१·३९) में श्रीकृष्ण के 'बुलाक'—

'नाक का मोती'--तथा (५·८१·४५) में, 'राधा की ओढ़नी' का वर्णन मिलता है। उल्लेख है कि नाक के किसी अलंकार का प्रचलन मुसलमानों के आने के पूर्व नहीं था; तथा लगभग ८वीं शताब्दी तक राधा की मान्यता थी या नहीं, यह घोर विवाद का विषय है, यह सभी जानते हैं।

(ख) पद्मपुराण (५·८·१६, पृ० ६६ मोर-प्रति, कमलवाला उल्लेख) के पीछे ही (५·१७·७५ तथा ८१) में काशी के विश्वनाथ और विश्वेश्वर का उल्लेख मिलता है, जो मध्यकाल की वस्तु थी।

(ग) अग्निपुराण के (४४·४७, पृ० ८७ मोर-प्रति) कमलवाले इस उल्लेख के बाद ही विष्णु-प्रतिमा के वर्णन में 'मालाविद्याधर', हस्त्यादिभूषणप्रभा' 'पद्माभपादपीठ' जैसे अभिप्रायों के नाम मिलते हैं (४४·४८–४९, पृ० ८८), जिनके दर्शन हमें उत्तर गुप्तकाल की प्रतिमाओं के पहले नहीं होते।

(घ) मत्स्यपुराण (२५७·४; २५७·७–९, पृ० ७१६·७ मोर-प्रति) में पद्मधारी वासुदेव एवं कृष्ण-मूर्त्तियों की चर्चा है। यहाँ भी ऊपर के ही समान 'विद्याधर-समन्वित तोरण', 'देव-दुन्दुभि-संयुक्त गन्धर्वमिथुन', 'सिंह-व्याघ्र', 'पत्रावलि', 'कल्पलता' आदि विष्णुमूर्त्ति से सम्बद्ध अभिप्राय गिनाये गये हैं जो केवल मध्यकालीन मूर्त्तियों में ही अधिकता से पाये जाते हैं।

इस प्रकार, साहित्य और कला दोनों से यह स्पष्ट होता है कि शंख-चक्र-गदा के साथ चक्र या कमल को भी आयुध के रूप में मानने की परम्परा कम-से-कम चढ़ते गुप्तकाल (ल० चौथी शती) के अन्त तक मान्य नहीं थी, पर मध्यकाल (ल० १०–१२वीं शती) तक उसकी मान्यता बढ़ चुकी थी। दूसरे इससे ऐसा लगता है कि केशवादि चौबीस विष्णु-मूर्त्तियों वाला वर्गीकरण भी गुप्तोत्तर काल से पुराना नहीं है।

वस्त्र और अलंकार

अधोवस्त्र :

इसके दर्शन सभी विष्णु-मूर्त्तियों में होते हैं। उभयवर्त्ती मूर्त्तियों से यह स्पष्ट होता है कि अधोवस्त्र या धोती--जिसे साहित्यिक परम्परा के आधार पर पीताम्बर कहना चाहिये--सकच्छ पद्धति से अर्थात् काँछ लगाकर पहना जाता था (चित्र ५२ ब, ५३ ब)। पीछे की ओर काँछ इस तरह खोंसी जाती थी कि उसका छोर फेंट के बाहर झाँकता रहे। सामने की ओर दूसरे छोर को समेट कर खोंसा जाता था जो पैरों के बीच लहराता रहता था। धोती पहनने की यह पद्धति कुषाणकलीन मूर्त्तियों में सामान्य रूप से पायी जाती है। सम्भवतः विष्णु के लिए उसकी कोई अपनी विशेषता नहीं थी।

उत्तरीय :

इस काल में उत्तरीय परिधान करने की कई पद्धतियाँ प्रचलित थीं, परन्तु विष्णु-मूर्त्ति के लिए जब कभी उत्तरीय का व्यवहार हुआ है, एक ही पद्धति को काम में लाया गया है। मथुरा-संग्रहालय की १३ मूर्त्तियों में[१८] उत्तरीय दिखलाई पड़ता है (चित्र-सं० २०, ४८, ५२अ)। बँटी हुई मोटी रस्सी के समान यह उत्तरीय फेंट की भाँति कमर में बँधा है तथा बाईं ओर उसके दोनों छोर एक बड़ी-सी गाँठ बनाते हुए उसी पैर के पास लटकते हुए देखे जाते हैं।

कटिसूत्र :

कटिसूत्र या कमरबन्द प्राचीन भारतीय वेशभूषा का एक अनिवार्य अंग था। 'विनयपिटक' में बौद्ध भिक्षुओं के लिए गृहस्थों की भाँति कटिसूत्र का प्रयोग निषिद्ध माना गया है। कुषाणकालीन मूर्त्तियों में इसका उपयोग सर्वसाधारण है। यह कमर में बँधी हुई चौड़ी-सी पट्टी होती है, जिसके दोनों छोर गाँठ बनाने के बाद नाभि के नीचे दाहिनी जाँघ पर लटकते रहते हैं (म० सं० सं० १५·९४८; २८·१७२९, ५०·९५५, ०० सं० सं० जे० ६१०, चित्र-सं० ४९)।

कुषाण-गुप्तकाल से इस पट्टी की चौड़ाई घटने लगती है और शीघ्र ही यह डोरी का रूप धारण कर लेती है। अब इसे मथानी की डोरी या 'नेत्रसूत्र' के नाम से पहिचानते हैं। नेत्रसूत्र का निखरा हुआ रूप गुप्तकला में दिखलाई पड़ता है।

यज्ञोपवीत :

इसका दर्शन सर्वसामान्य रूप से नहीं होता। मथुरा-संग्रहालय की केवल पाँच मूर्त्तियों (१५·९५९; ३४·२४८७, चित्र-सं० ४८; ३९·२८५८; ४०·३५०२; ५०·३५५०) में इसे अपने मूल रूप में देखा जा सकता है। आगे चलकर 'मुक्तायज्ञोपवीत' के रूप में यह एक अलंकार बन जाता है। इस प्रश्न का कोई उचित उत्तर अबतक नहीं मिल पाया है कि कुषाणकालीन विष्णु-मूर्त्तियों में यज्ञोपवीत का उपयोग दिखलानेवाली केवल पाँच ही प्रतिमाएँ क्यों हैं? इसके विपरीत, हम यह देख चुके हैं कि शिव-मूर्त्तियों में विशेष कर उत्तर पश्चिमी भारत में यज्ञोपवीत या तत्सम अलंकार की बहुलता है। उधर की बौद्ध मूर्त्तियों में भी लटकते हुए ताबीजों से शोभित ऐसा ही अलंकार दिखलाई पड़ता है। सम्भव है कि विष्णु के यज्ञोपवीत का बीज इसी परम्परा में हो।

कलगीदार पगड़ी और मुकुट :

कुषाणकालीन भारतीय राजपुरुषों के मस्तकों पर पगड़ी या उष्णीष दिखलाई पड़ता है, जिसमें बादाम के आकार की फुल्ले से सुशोभित बड़ी-सी कलगी लगी रहती है। अधिक सुशोभित करने के लिए इसमें झालर भी लगाई जाती थी। कुषाणकाल की अधिकतर मूर्त्तियों में इसी के दर्शन होते हैं (चित्र-सं० ४८)। थोड़े-बहुत परिवर्त्तनों के साथ बाद के काल में भी इस प्रकार की पगड़ी चलती रही। यहाँतक कि वर्त्तमान काल में व्रज की रासमण्डलियों द्वारा काम में लाये जानेवाले श्रीकृष्ण के 'किरीट' का मूल इसी उष्णीष में खोजा जा सकता है।

उत्तर कुषाण-काल तक पहुँचते-पहुँचते उष्णीष के स्थान पर ऊँचे उठे हुए विना कलगी के मुकुट के दर्शन होने लगते हैं। अपनी निखरी हुई स्थिति में सामने और अगल-बगल की ओर से यह पुष्पाकृतियों से अलंकृत रहता है, तथा नीचे की ओर दोनों कानों के पास बड़े से फुल्ले दिखलाई पड़ते हैं (चित्र-सं० ४६अ ५२अ, इ०)। कभी-कभी ललाट के ऊपरवाला मुकुट का भाग इस प्रकार दाब दिया जाता था कि वह एक बड़ी-सी चौकोर कलगी-सा लगने लगता था। कभी-कभी तो विष्णु का यह मुकुट एकदम सादा रहता है और एक ऊँची उठी हुई टोपी के समान दिखलाई पड़ता है।

कुषाण-गुप्तकाल की कुछ प्रतिमाओं में मुकुट के एक नवीन अंग का उदय होता है। जो मध्यकाल में पहुँचते-पहुँचते एक सामान्य परिपाटी का रूप धारण कर लेता है। यह है मस्तक के पीछे की ओर मुकुट को बाँधनेवाली डोरी, जिसके दोनों फुदनेदार छोर प्रभामण्डल में दिखलाई पड़ते हैं। इस तरह के छोरों को ऊँचाडीह (इलाहाबाद) से प्राप्त मूर्त्ति में स्पष्ट रूप से देख जा सकता है (रे० चित्र ४९)।

वनमाला :

वनमाला का विष्णु से अटूट सम्बन्ध है। उसीके कारण विष्णु का एक नाम 'वनमालिन्', भी है जो गुप्तकाल तक रूढ हो चुका था। **हरिवंश**[१९] के अनुसार वनमाला में अर्जुन, नीप, कन्दल और कदम्ब के पुष्प होते थे। एक दूसरी परम्परा वनमाला का निर्माण तुलसी, कुन्द, मन्दार, कमल और पारिजातक से मानती है। कभी-कभी वनमाला घुटनों तक लटकनेवाली उस माला को समझा जाता है, जिसमें कदम्ब के स्तबक या गुच्छे हों तथा जो सभी ऋतुओं के उज्ज्वल पुष्पों से गूँथी गई हो।[२०] वनमाला के इन साहित्यिक उल्लेखों की अपेक्षा कला के क्षेत्र में होनेवाले उसके दर्शन कम मनोरंजक नहीं हैं। कुषाणकालीन कई विष्णु-मूर्त्तियों में फूल, पत्ती तथा कलियों से बनी हुई वनमाला दिखलाई पड़ती है (म० सं० सं० २९·२००२; २८·१७२६ चित्र-सं० ५१; ४९·३५०२; इ०)। इनमें कमल और कदम्ब की सरलता से पहचान की जा सकती है। वनमाला के दूसरे प्रकार में फूल ही दिखलाई पड़ते हैं, केवल बीच-बीच में पदकों की भाँति पत्तियाँ और बड़े फूल पिरोये गये हैं (म० सं० सं० १५·९५६, चित्र-सं० ५२ अ)।

वनमाला के ये दोनों प्रकार आकार में छोटे हैं, आजानुलम्बी नहीं हैं। कुषाणकालीन मूर्त्तियों में लम्बी वनमाला का सर्वसाधारण प्रचलन नहीं था, पर उस पद्धति का प्रारम्भ अवश्य होने लगा था (म० सं० सं० १५·१०१०; ५०·३५५०, चित्र ५५)। कुषाण-गुप्तकाल में उसे अधिक बल मिला तथा गुप्तकाल में पहुँचते-पहुँचते वह साधारण परिपाटी बन गई। कुषाण-गुप्तकाल में कहीं-कहीं पर छोटी और बड़ी दोनों प्रकार की वनमालाओं का एकत्र ही प्रयोग किया गया है (चित्र-सं० ५५)।

अन्य अलंकार :

विष्णु-मूर्त्तियों में मुकुट के अतिरिक्त कंकण, अंगद या भुजबन्द, कुण्डल और माला का भी प्रयोग हुआ है, किन्तु इनमें मुकुट और कुण्डलों को छोड़कर शेष अलंकार अनिवार्य नहीं समझे जाते थे।

कुषाण-विष्णु-मूर्त्तियों का वर्गीकरण :

इन्हें निम्नांकित वर्गों में बाँटा जा सकता है :

चतुर्भुज प्रतिमाएँ	गरुडारूढ विष्णु	पंचवीर
द्विभुज प्रतिमाएँ	विष्णु के अवतार	
अष्टभुज प्रतिमाएँ	चतुर्व्यूह विष्णु	

इनपर क्रमशः विचार करें।

चतुर्भुज प्रतिमाएँ :

केवल एक अपवाद को छोड़कर (म० सं० सं० ३९·२८५८) इस प्रकार की सभी मत्तियाँ खड़ी हैं, जिनके निम्नांकित उपप्रकार हैं :

१. गदा, चक्र एवं जलपात्र को लिये हुए विष्णु (म० सं० सं० १५·९१२, १५·९४८, २८·१७२६, ३४·२५२०, चित्र-सं० २०, ४२-४३·३०२४)।— यहाँ दाहिने हाथ से गदा को ऊपर की ओर से पकड़ा गया है तथा कटि-संस्थित बाँये हाथ में जलपात्र है। इसी प्रकार एक अन्य मूर्त्ति में (म०सं०सं० १५·९३३) गदा को लटकते हुए दाहिने हाथ से सँभाला गया है।

२. विष्णु के दाहिने हाथ में भूमि पर टिकी हुई गदा है तथा बाँये हाथ की हथेली पर शंख दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार की तीन मूर्त्तियाँ मिली हैं, जिनमें दो पर यज्ञोपवीत भी विद्यमान है (म० सं० सं० १५·८८३; ३४·२४८७ चित्र-सं० ४८; ४९·३५०२)।

३. क्रमांक एक के समान ही उलटी रखी हुई गदा को पकड़ा गया है, तथा बाँये हाथ में खड़ा शंख विद्यमान है (म० सं० सं० ००·यू० ५; १५·१९०१; १५·१९१९; ल० स० सं० जे० ६१० (चित्र-सं० ४९)।

४. अब पगड़ी का स्थान ऊँची दीवारवाला मुकुट ले लेता है तथा गदा और शंख की पकड़ में भी परिवर्त्तन लक्षित होते हैं (म० सं० सं० १५·९५६, चित्र-सं० ५२ अ)।

५. यह उपप्रकार संख्या ४ के ही समान है, पर यहाँ उत्तरीय का उपयोग नहीं किया गया है (म० सं० सं० ००·यू० ३५; १००. यू० ७७; १५·११९८; चित्र-सं० ५०)।

६. इस वर्ग की मूर्त्तियों में आजानुलम्बिनी वनमाला के सर्वप्रथम दर्शन होते हैं। यहाँ पगड़ी तथा मुकुट दोनों का इच्छानुसार उपयोग किया गया है तथा उत्तरीय अनिवार्य नहीं है। शंख की पकड़ में भी कुछ परिवर्त्तन लक्षित होते हैं (म० सं० सं० ००·यू० ६७; २९·२००७; ५४·३८२१)।

७.-८. इस उपप्रकार में गुप्तशैली के चिह्न प्रगट होने लगते हैं। गदा की पकड़ के पुराने रूप ही चलते हैं (म०सं०सं० २०·००२; ५७·४४२६; ५७·४२६७) कभी-कभी प्रभामण्डल की झलक भी मिलने लगती है (म०सं०सं० ५६·४२२५)।

९. प्रयाग के परिसर में कुषाण-गुप्तकाल में एक स्थानीय शैली का उदय हुआ था (रे० चित्र ४६,५०)। मथुरा-शैली की कतिपय मान्यताओं के साथ इसकी अपनी भी कुछ विशेषताएँ हैं। यथा :

(क) मुख की भाव-भंगिमा सर्वथा भिन्न तथा मथुरा की अपेक्षा बहुधा निम्न कोटि की है।

(ख) प्रभामण्डल पूर्णतया अनलंकृत है।

(ग) गदा, शंख और चक्र यद्यपि यथास्थान ही हैं, तथापि उनकी पकड़ में परिवर्त्तन हो जाता है। गदा का रूप भी बदलता है।

(घ) दो प्रतिमाओं में मुकुट-बन्धन के छोर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं (रे० चित्र ४६)।

(ङ) आयुधों में फल का उदय इन मूर्त्तियों की एक विशेषता है। कुषाणकालीन परम्परा का अभयमुद्रा में कन्धे तक उठनेवाला दाहिना हाथ अब फल लेकर नीचे आता है। इस फलवाली परम्परा के दर्शन हमें बाँगरमऊ से मिली एक अन्य प्रतिमा (ल० सं० सं० एच्० ३६) में भी होते हैं।

प्रयाग-शैली की ये प्रतिमाएँ भीटा, ऊँचाडीह तथा झूँसी से मिली हैं और इस समय प्रयाग के संग्रहालय में सुरक्षित हैं (प्र० सं० सं० ४४०; ८५७ (रे० चित्र ४६); ६५२ (रे० चित्र ५०)।

१०. इसी सन्दर्भ में लगभग इसी काल की एक और मूर्त्ति की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है, जो पदमपवाया (प्राचीन पद्मावती) से मिली थी और अब ग्वालियर के संग्रहालय में है (रे० चित्र ४४)। इस पर मथुरा का प्रभाव अधिक स्पष्ट है, आयुधों का क्रम वही है, पर विशेषता यह है कि अभयमुद्रा में खुली हुई हथेली पर सामुद्रिक रेखाएँ बनी हैं, जो गुप्त काल की देन हैं।

विष्णु-मूर्त्तियों के उपर्युक्त प्रकारों में कालक्रम के विचार से प्रथम तीन तो विशुद्ध कुषाण-काल के तथा शेष उत्तर कुषाण-काल एवं कुषाण-गुप्तकाल के हैं।

चतुर्भुज मूर्त्तियों के विवेचन को समाप्त करने के पूर्व विष्णु की उस कुषाणकालीन आसनस्थ प्रतिमा का उल्लेख भी आवश्यक है, जो अपने ढंग की निराली है (म० सं० सं० ३९.२८५८, चित्र-सं० ५३ अ-ब)। विष्णु एक पलथी लगाकर कमल पर बैठे दिखलाये गये हैं तथा उनका दाहिना हाथ अभय-मुद्रा में न होकर वरदमुद्रा में लटकाया गया है।

द्विभुज प्रतिमाएँ :

विचाराधीन कालखण्ड की इस प्रकार की पाँच प्रतिमाएँ अबतक ज्ञात हैं। प्रथम वह है जिसे कार्लायल ने आगरा में रूपवास के पास देखा था।[२१] **डॉ० बनर्जी** ने इसकी पहचान चक्रधर द्विभुज विष्णु के रूप में की है।[२२] कहा जाता है कि इस समय वह मूर्त्ति महाराज भरतपुर के पास है। दूसरी छोटी-सी प्रतिमा मथुरा-संग्रहालय (सरप्लस संख्या ६५०) में है। यह मूर्त्ति अधूरी बनी हुई है तथा बहुत अच्छी स्थिति में नहीं है, पर आजानुलम्बिनी वनमाला, मस्तक पर का मुकुट तथा बाँये हाथ का शंख स्पष्ट है। तीसरी मूर्त्ति राजस्थान से मिले हुए नाँद-शिवलिंग के निचले भाग पर बनी है।[२३] **श्रीरत्नचन्द्र अग्रवाल** के मतानुसार यहाँ विष्णु के हाथों में चक्र और कमल है पर लेखक के मतानुसार ये आयुध, गदा और चक्र हैं।

इनके साथ कोण्डामोतुवाले शिलापट्ट पर अंकित शंख धारण करनेवाले द्विभुज कृष्ण भी उल्लेखनीय हैं। गुन्तूर जिले की इस प्रतिमा का वर्णन हम आगे करेंगे।

इन चार प्रतिमाओं के अतिरिक्त विदिशा से मिली एक उभयवर्त्ती द्विभुज मूर्त्ति का विचार भी आवश्यक है, जो इस समय ग्वालियर-संग्रहालय में है (रे० चित्र ४२-४३)। यहाँ दोनों ओर बनी मूर्त्तियों के हाथों में कोई आयुध नहीं है। वस्त्र, भाव-भंगिमा, मुकुट से बाहर झलकनेवाले केश तथा अलंकारों की दृष्टि से यह पूरी तरह कुषाण-ठाठ की है। एक ओर का कन्धे तक अभय-मुद्रा में उठा दाहिना हाथ तथा कटि-स्थित बाँया हाथ उसके देवत्व का सन्देहातीत सूचक है, किन्तु इसका शरीर-सौष्ठव तथा मस्तक के पीछे का अलंकृत प्रभामण्डल गुप्तकालीन विशेषताओं का बोध कराते हैं। इसे अबतक सूर्य के रूप में पहिचाना गया है, किन्तु कठिनाई यह है कि एक तो इस समय तक सूर्य-प्रतिमा का इतना अधिक भारतीयीकरण नहीं हुआ था, तथा दूसरे यहाँ सूर्य के कोई आयुध या चिह्न विद्यमान नहीं हैं। हम इसे अनुमानतः विष्णु-मूर्त्ति के साथ रख रहे हैं, क्योंकि एक तो विष्णु का द्विभुज रूप प्राचीन साहित्य को अज्ञात नहीं है,[२४] दूसरे आयुधों के अतिरिक्त यह कई बातों में निकटवर्त्ती मथुरा की विष्णु-मूर्त्तियों से मेल खाती है, तथा तीसरे ई० पू० द्वितीय शताब्दि से ही विदिशा वैष्णव-सम्प्रदाय का केन्द्र रही, जैसा वहीं के हेलियोदोरसवाले लेख से स्पष्ट होता है।

अष्टभुज प्रतिमाएँ :

ब्रह्मपुराण,[२५] हरिवंश,[२६] विष्णुधर्मोत्तर,[२७] बृहत्संहिता,[२८] आदि ग्रन्थों में अष्टभुज विष्णु का वर्णन मिलता है। हरिवंश में तो इसे विष्णु का एक अवतार माना गया है। इस रूप की तीन प्रतिमाएँ हमें मथुरा-कला में प्राप्त हुई हैं, जिनमें से दो मथुरा-संग्रहालय में (म० सं० सं० १५·१०१०, ५०·३५५० चित्र-सं० ५५) तथा एक राज्य-संग्रहालय, लखनऊ (ल० सं० सं० ४७·२४७) में है। दुर्भाग्य से इनमें से एक भी समूचे रूप में नहीं है, तथापि इतना तो स्पष्ट है कि तीनों के निर्माण का आधार एक ही परम्परा है। इनमें जिन आयुधों की पहचान हो सकती है, वे हैं, बाण, खड्ग तथा शंख। दाहिना हाथ छाती पर है। ऊपरवाले बाँये हाथ में पकड़ी हुई वस्तु जो पर्वत की चट्टान-सी लगती है, ठीक से नहीं पहचानी जा सकती है।

इन मूर्त्तियों के प्रसंग में ग्वालियर-संग्रहालय में स्थित पवाया की गुप्तकालीन त्रिविक्रममूर्त्ति (रे० चित्र ४६) की ओर ध्यान देना आवश्यक है; क्योंकि इन दोनों में अधोलिखित समानताएँ हैं। कालक्रम के अनुसार पवाया-प्रतिमा बाद की है :

(क) दोनों अष्टभुज हैं।
(ख) दोनों प्रकार की मूर्त्तियों में दाहिनी ओर के एक हाथ में तलवार है।
(ग) दोनों का साधारण दाहिना हाथ वक्षस्थल पर टिका है।
(घ) दोनों की खड़े होने की स्थिति में भी पर्याप्त समानता है।

गरुडारूढ विष्णु :

निश्चय से पहिचानी जानेवाली इस प्रकार की कुषाणकालीन कोई मूर्त्ति हमें ज्ञात नहीं है। इस काल में गरुड पर बैठे किरीटधारी एक द्विभुज पुरुषमूर्त्ति का अलंकरण के रूप में कहीं-कहीं उपयोग किया गया है। उदाहरणार्थ, मथुरा-संग्रहालय की एक बोधिसत्त्व प्रतिमा (म० सं० सं० ए० ४५) की भुजाओं पर बने अंगद में यह अलंकरण प्रयुक्त है।

कुषाण-गुप्तकाल की केवल एक छोटी सी गरुडारूढ विष्णु की मूर्त्ति हमें ज्ञात है (म० सं० सं० ५६.४२००)। यहाँ पंख पसारे हुए (वितत-पक्ष) पक्षी-रूपी गरुड पर शंख-चक्र-गदाधारी विष्णु बैठे हैं (चित्र-सं० ५६)।

कुषाण-विष्णु की अवतार-प्रतिमाएँ :

कुषाणकाल में विष्णु का पूजन संकर्षण, कृष्ण, वराह आदि रूपों में अवश्य होता था, पर कदाचित् इन सबको आज के समान अवतार-शृंखला में नहीं बाँधा गया था। पुराणों में पाई जानेवाली अवतारों की सूचियों में भी मतैक्य नहीं मिलता, तथापि अधिकतर ग्रन्थों में विष्णु के अवतारों में वराह, वामन तथा नरसिंह की गणना सामान्य रूप से की गई है। अतः, प्रथम इनपर विचार करने के बाद अन्य अवतारों का विचार करेंगे।

वराह :

कुषाणकालीन वराह की अवतक एक ही प्रतिमा मिली है, जिसे लेखक द्वारा अन्यत्र विस्तृत रूप से प्रकाशित किया गया है[३०] (म० सं० सं० ६५.१५, चित्र-सं० ५९)। यह एक शिलापट्ट का खण्डित भाग है, जिसपर आलीढमुद्रा में दाँतों पर पृथ्वी उठाये चतुर्भुज वराह खड़े दिखलाये गये हैं। साधारण दो हाथ तो कमर पर टिके हैं, पर ऊपरी दो हाथों में क्रमशः रथ में बैठे हुए सूर्य और चन्द्र की मण्डलगत मूर्त्तियाँ धारण की गई हैं। वराह मस्तक-विहीन हैं, पर गरदन का मोटापा, वक्षस्थल पर बना श्रीवत्स, गले में पड़ी छोटी-वनमाला एवं दाँतों पर स्थित पृथ्वी के आधार पर उन्हें सरलता से नृवराह के रूप में पहिचाना जा सकता है। ऐसा लगता है कि किसी कथा के प्रसंग में वराह का यह अंकन किया गया है, परन्तु शिलापट्ट के बीच से ही टूट जाने के कारण जिसकी अभी पहचान नहीं हो सकी है। यह शिलापट्ट अभिलिखित भी है।

नरसिंह :

नरसिंह की प्रारम्भिक प्रतिमा उत्तर से नहीं, अपितु दक्षिण भारत के गुन्तूर जिले से मिली है।[३१] पंचवीरों के बीच में स्थित नरसिंह पूर्ण्या सिंह रूप में हैं (रे० चि० ५२)।

पर, उनका विष्णु से सम्बन्ध दिखलाने के लिए पशु-सिंह को दो अतिरिक्त मानवीय हाथ भी दिखलाये गये हैं, जो गदा या खड्ग (?) और चक्र को धारण किये हैं। कुछ ऐसा भी भास होता है कि यहाँ सिंह को ऊर्ध्वमेढ़ दिखलाया गया है। कहा नहीं जा सकता कि यह किसी विशेष उद्देश्य से किया गया है या नहीं।

इस प्रसंग में पाठकों का ध्यान भीटा की चौमुखी मूर्त्ति की ओर आकृष्ट करना अनुचित नहीं होगा, जिसके एक ओर वराह तथा ऊकड़ूँ बैठा हुआ सिंह बना है (चित्र-सं० ३४)।

वामन :

वामन की कुषाणकालीन मूर्त्तियाँ अवतक अज्ञात है, पर लखनऊ-संग्रहालय की एक विष्णु-प्रतिमा (ल० सं० सं० जे० ६१०, चित्र-सं० ४९) वामन के निकट पहुँचती हुई लगती है। इसके आधार निम्नांकित हैं :

(क) इस प्रतिमा के मस्तक पर मुकुट या पगड़ी नहीं है, जो उस समय की साधारण परिपाटी के विरुद्ध है। इसके साथ समकालीन बुद्ध और तीर्थंकर-मूर्त्तियों की भाँति यहाँ घूंघरदार बाल दिखलाई पड़ते हैं, जो बटुवेषधारी वामन के बालों के द्योतक हो सकते हैं।

(ख) दूसरी असाधारण बात विष्णु का नीचे की ओर फैला हुआ दाहिना हाथ है। हम देख चुके हैं कि केवल एक मूर्त्ति को छोड़कर विष्णु की सभी कुषाणकालीन मूर्त्तियाँ अभयमुद्रा में स्थित हैं।

(ग) इस हाथ का महत्त्व तब और बढ़ जाता है, जब उसी के नीचे घुटनों के बल झुके हुए एक पात्रधारी राजपुरुष को देखते हैं, जिसकी मुद्रा इस बात की बोधक है कि वह विष्णु को कुछ देना चाहता है और विष्णु दाहिना हाथ पसारकर उसके 'दान' को ग्रहण कर रहे हैं।

(घ) दान देनेवाले की अपेक्षा विष्णु का आकार बहुत बड़ा है। मुख्य देवता को बड़ा दिखलाने की कुषाण-शिल्पियों की परम्परा थी, जिसके दर्शन हमें समकालीन बुद्ध और तीर्थंकर-मूर्त्तियों में होते हैं।

इसी प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि वामन की कथा के संकेत प्राचीन साहित्य से ही मिलने लगते हैं।[३२]

अन्य अवतारों में अष्टभुज विष्णु, कृष्ण तथा बलराम या संकर्षण पर हम विचार करेंगे। हरिवंश के अनुसार[३३], कृतयुग में 'तारकामय' संग्राम के अवसर पर तारक, मय और कालनेमि नामक असुरों का संहार करने के लिए 'षोडशार्ध' भुजधारी विष्णु का यह अवतार हुआ था। परवर्त्ती काल की तालिकाओं में इसका उल्लेख नहीं मिलता और न अष्टभुज विष्णु की अधिक मूर्त्तियाँ ही मिलती हैं। इस प्रकार की कुषाणकालीन मूर्त्तियों का विवेचन हम पहले कर चुके हैं।

वासुदेव-कृष्ण :

व्रज के क्षेत्र में कुषाण-काल के पहले से ही वासुदेव-कृष्ण की भक्ति का बोलबाला था। कृष्ण-लीला के कुषाणकालीन दृश्य यथा शिशु कृष्ण को वासुदेव द्वारा गोकुल ले

जाना (चित्र-सं० ६४), कृष्ण के द्वारा केशि दैत्य का वध, कृष्ण द्वारा गोवर्द्धन उठाना आदि पाषाण तथा मिट्टी की कलाकृतियों में मिल चुके हैं।[34] परन्तु, इस काल की कृष्ण की स्वतन्त्र मूर्त्तियों के विषय में हम पूर्णतया अन्धकार में हैं। साधारणतः, धारणा यह है कि इस काल में बलराम की प्रतिमाएँ तो ज्ञात थीं, परन्तु श्रीकृष्ण की स्वतन्त्र प्रतिमा बहुत बाद की देन है।

यह धारणा तर्कशुद्ध नहीं प्रतीत होती। साहित्य एवं शिलालेखों से यह स्पष्ट होता है कि मथुरा एवं उसके आसपास के क्षेत्र में वैष्णवमत, मुख्यतया-पाँचरात्र सम्प्रदाय ईसवी-सन् की प्रथम शताब्दि में ही दृढमूल हो चुका था। कटरा केशवदेव में वैष्णव-मन्दिर विद्यमान था[35] तथा बलराम, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न आदि पंचवीरों की प्रतिमाएँ बन रही थीं।[36] कृष्णलीला के दृश्यों का उल्लेख हम कर चुके हैं। ऐसी स्थिति में इसका उत्तर ढूँढ़ना कठिन हो जता है कि स्वयं वासुदेव कृष्ण की प्रतिमाएँ कुषाण-काल में क्यों नहीं मिलतीं, या कदाचित् हम उन्हें ठीक से पहचान नहीं सके हैं।

प्रचलित धारणा के अनुसार हम कृष्ण के नाम पर 'त्रिभंगीलाल वंशीवाले' को खोजने का प्रयास करते हैं और असफलता हमारे हाथ लगती है; क्योंकि मुरलीधर श्रीकृष्ण की सखीभाव से उपासना, अथवा उनकी मधुरा भक्ति का प्रादुर्भाव मध्यकालीन सन्तों की देन है, अतएव श्रीकृष्ण के रूप को पहिचानने के लिए हमें प्राचीन साहित्य को टटोलना होगा।

महाभारत, ब्रह्म, पद्म, विष्णु, मत्स्य आदि पुराण-ग्रन्थों में कई स्थानों पर श्रीकृष्ण के स्वरूप का वर्णन किया गया है। यहाँ उनकी भुजाओं और आयुधों की भी बहुधा गिनती मिलती है। निम्नांकित तालिका को देखिए :

रूप		आयुध	सन्दर्भ
चतुर्भुज कृष्ण	..	शं०च०ग०	महाभारत (गीताप्रेस) सभा०, (दक्षिण भारतीय पाठ) ८३, पृ० ८२२
,,	..	,,	महाभारत, वन०, २७२·७३-४, पृ० १७१३
,,	..	,, ×धनु	महाभारत, शान्ति, (द०भा०) ४७, पृ० ४५३६-७
,,	..	,,	महाभारत, द्रोण०, ८३·१७, पृ० ३३१०
,,	..	,,	महाभारत, अश्वमेध, ५५·२३, पृ० ६२१९
,,	..	,,	विष्णुपुराण, (गीता प्रेस) ५·३·१०, पृ० ३८१
,,	..	,,	विष्णुपुराण, ५·३१·८, पृ० ४६९
,,	..	,,	मत्स्यपुराण (मोर) २५७·१०, पृ० ७१७
,,	..	,,	लिंगपुराण (मोर) पूर्वार्द्ध, ६९.७३, पृ० १९७
,,	..	,,	ब्रह्मपुराण (मोर) ५०.४३-४४, पृ० ३६४
,,	..	,,	पद्मपुराण (मोर) ६.२४६.५९, पृ० ८९२
गरुडारूढ विष्णु (कृष्ण)		,,	महाभारत (मोर) सभा० (द० भा०) ८३, पृ० ८१८

रूप		आयुध	सन्दर्भ
बलराम, सुभद्रा कृष्ण	..	शं०च०ग०	ब्रह्मपुराण (मोर) १०६.४३, पृ० ६६५
कृष्ण, चतुर्भुज	..	शं०च०ग०खड्ग	महाभारत (गीता), सभा०, (द०भा०) ३८, पृ० ७६६
,,	..	× ,,	महाभारत (गीता), सभा०, (द०भा०) ३८, पृ० ८०५
,,	..	,,	पद्मपुराण (मोर) ६-२४६-१४, पृ० ८६०
कृष्ण, द्विभुज	..	शं०च०ग०	ब्रह्मपुराण (मोर) ५७·३९-४०, पृ० ३६८
,,	..		महाभारत, कर्ण०, ८७·१०६, पृ० ४०६४
,,	..		महाभारत, कर्ण०, ९०·५५, पृ० ४०८४
कृष्ण चतुर्भुज	..	आयुध अनुल्लेखित	महाभारत, अनुशासन०, १४८·२२, पृ० ६०३०
कृष्ण चतुर्भुज (अक्रूर दर्शन)		,,	विष्णुपुराण, ५.१८·३९, पृ० ४२८

ऊपर दी हुई तालिका से स्पष्ट है कि देवत्व के प्रतीक कृष्ण या वासुदेव कृष्ण को अधिकतर चतुर्भुज माना गया है। उपास्य प्रतिमा को निश्चित रूप से वैसे ही चित्रित किया गया होगा। एतावता मथुरा से मिली हुई अधिकतर विष्णु-मूर्त्तियों को, जिनमें शंख, चक्र एवं गदा के दर्शन होते हैं, साधारणतया वासुदेव कृष्ण के रूप में पहचानना चाहिए।

यह धारणा पुनः एक दूसरे शिलापट्ट से भी पुष्ट होती है, जो लेखक को कुछ वर्ष पूर्व मथुरा से ही प्राप्त हुआ था। इस कुषाणकालीन पट्ट पर बलराम, एकानंशा तथा वासुदेव (कृष्ण) का अंकन किया गया है (चित्र-सं० ६५, रे० चि० ८०)। यहाँ पर अंकित श्रीकृष्ण चतुर्भुज ही है, जिनके हाथों में गदा, चक्र तथा शंख या जलपात्र हैं। उनकी यह प्रतिमा समकालीन अन्य विष्णु-मूर्त्तियों से बड़ी समानता रखती है। शिलाखण्ड में बाईं ओर अंकित सिंह-लांगल एवं एक कुण्डल धारण करनेवाले बलराम तीनों मूर्त्तियों की पहचान में कोई सन्देह नहीं रहने देते।

वासुदेव को—वासुदेव कृष्ण को—गदा, चक्र और जलपात्र लिये बनाने की प्रथा जैनों में भी रूढ थी। मथुरा से मिली कुषाणकाल की एक नेमिनाथ तीर्थंकर की मूर्त्ति पर अगल-बगल बलभद्र और वासुदेव बने हैं (ल० सं० सं० जे० ४७) जिनमें वासुदेव और कुषाण-विष्णु बिलकुल एक हैं।

दक्षिण में भी वासुदेव कृष्ण का द्विभुज रूप बनता रहा होगा। कोण्डामोतु के शिलापट्ट पर पाँच वृष्णिवीरों में द्विभुज श्रीकृष्ण बने हैं। उनके कमर पर रखे बायें हाथ में शंख है तथा दाहिना हाथ कन्धे तक अभयमुद्रा में उठा है।

संकर्षण अथवा बलराम :[३७]

कई स्थानों पर विष्णु के अवतारों में बलराम को भी गिनाया गया[३८] है। शुंगकाल से ही बलराम की प्रतिमाएँ बनने लगी थीं। हमें व्रजक्षेत्र (चित्र-सं० ६९), मध्यप्रदेश, (चि०-सं० ७०) तथा वाराणसी (चित्र-सं० ६८) से मिली प्रतिमाएँ ज्ञात हैं।[३९] कुषाणकाल में भी यह परम्परा खूब पनप रही थी। हमें इस काल की अट्ठारह मूर्त्तियों

का पता हैं, जिनमें पन्द्रह तो मथुरा-संग्रहालय तथा तीन लखनऊ-संग्रहालय में हैं। मोटे रूप में इन्हें चार वर्गों में बाँटा जा सकता है :

(एक) : फणाटोप से विरहित गदा एवं सिंह-लांगल को धारण करनेवाले चतुर्भुज बलराम (चित्र-सं० ६५, रे०चि० ८० प्रथम ग्राकृति)।

(दो) : फणाटोप से सुशोभित मद्य का चषक लिये द्विभुज बलराम (चित्र-सं० ७१)।

(तीन) : फणाटोप तथा ग्रायुधों के साथ द्विभुज बलराम (म० सं० सं० सी० १६)।

(चार) : फणाटोप के साथ तीर्थंकर नेमिनाथ के पार्श्वचर के रूप में जैन परम्परा के ग्रनुसार ग्रंकित नमस्कार-मुद्रा में द्विभुज बलभद्र[४०]।

मथुरा-क्षेत्र से प्राप्त कुषाणकालीन बलराम की मूर्त्तियाँ बहुधा तीन कलगियोंवाला, मुकुट तथा बायें कान में एक कुण्डल धारण किये दिखलाई पड़ती हैं। एक कुण्डलवाली इनकी विशेषता का उल्लेख हरिवंशादि प्राचीन ग्रन्थों में बराबर हुग्रा है[४१]। बलराम के ग्रायुध हल पर सिंहमुख का बना रहना भी साहित्य से पुष्ट बात है। महाभारत में उनके हल का इस प्रकार से वर्णन किया गया है (हलं सिंहमुखं कस्य वनमाली नियोक्ष्यति, हरिवंश, विष्णु, १२०·१००, पृ० ७०५)। वाराणसी की शुंगकालीन प्रतिमा में (चित्र-सं० ६६) तथा मथुरा की कतिपय मूर्त्तियों में (चित्र-सं० ७२) हमें सिंहमुख हल के दर्शन होते हैं। बलभद्र की ये विशेषताएँ कुषाण-गुप्तकाल के बाद लगभग लुप्त होने लगती हैं।

कोण्डामोतु के पंचवीरोंवाले बलराम द्विभुज हैं तथा गदा ग्रौर सिंह-लाँगल लिये हैं, किन्तु उनके मस्तक पर फणाटोप नहीं है।

चतुर्व्यूह विष्णु (चित्र-सं० ४६ ग्र, ब) :

इस प्रकार की ग्रबतक केवल एक ही मूर्त्ति मिली है। मुख्य प्रतिमा शंख-चक्र-गदाधारी विष्णु की है, जिसके कन्धों तथा मस्तक के पीछे से क्रमशः संकर्षण, ग्रनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न की प्रतिमाग्रों का उद्भव होता था। ग्राज मुख्य वासुदेव के ग्रतिरिक्त दाहिने कन्धे से उद्भूत होनेवाले संकर्षण केवल बचे हैं, बाँये कन्धेवाली मूर्त्ति टूट चुकी है तथा मस्तक के पीछेवाली प्रतिमा खण्डित है। ऐसी ही किसी वासुदेव-मूर्त्ति के लिए, कदाचित् विष्णु-स्मृतिकार ने 'एकव्यूहचतुर्वक्त्र' शब्द का प्रयोग किया था।[४२]

पंचवीर पट्ट :

मथुरा से प्राप्त एक शिलालेख में महाक्षत्रप षोडश के समय के वृष्णियों के पंचवीरों के देवगृह ग्रौर प्रतिमाग्रों का स्पष्ट उल्लेख है।[४३] ये पाँच वीर श्रीकृष्ण, संकर्षण, ग्रनिरुद्ध, प्रद्युम्न ग्रौर साम्ब हैं।[४४] मथुरा की पंचवीर प्रतिमाग्रों की निश्चित रूप से पहिचान नहीं हुई है, किन्तु सुदैव से पंचवीर परम्परा का दूसरा ग्रकाट्य प्रमाण ग्रान्ध्रप्रदेश के गुन्तूर जिले से मिला है। कोण्डामोतु से मिले इस शिलापट्ट पर पाँचों का ग्रंकन सुस्पष्ट है। यहाँ संकर्षण गदा ग्रौर सिंहमुख हल लिये, द्विभुज वासुदेव वर ग्रौर शंख धारण किये, ग्रौर प्रद्युम्न धनुष-वाण लिये हैं। साम्ब के हाथ में चषक है तथा ग्रनिरुद्ध के पास ढाल ग्रौर तलवार। पंचवीरों में साम्ब के ग्रतिरिक्त ग्रन्य वीरों के ग्रायुध बृहत्संहिता[४५], वैखानसागम[४६] तथा विष्णुधर्मोत्तरपुराण[४७] से मिलते-जुलते हैं। साम्ब की

बात बृहत्संहिता में कही तो गई है[४८], पर वह यहाँ से मेल नहीं खाती । यहाँ साम्ब के पास गदा न होकर चषक है । कदाचित् चषकधारी बलराम या संकर्षण के प्रिय शिष्य तथा वृष्णिवीरों में उन्हीं के समान होने के कारण[४९] बलराम का चिह्न भी साम्ब को दे दिया गया हो ।

प्रस्तुत शिलापट्ट में ज्येष्ठता क्रम का भी पूरा निर्वाह किया गया है। बलराम से साम्ब तक के चारों ज्येष्ठता के अनुसार अंकित हैं तथा सबके बाद प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्ध हैं।

इन वृष्णिवीरों के साथ नरसिंह का क्या सम्बन्ध था तथा वासुदेव और प्रद्युम्न के बीच उनको क्यों दिखलाया गया है, यह स्पष्ट नहीं है।

गुप्तकालीन विष्णु-प्रतिमाएँ

कुषाणों के बाद भारतीय क्षितिज पर गुप्तों का उदय हुआ । गुप्त-नृपति ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी थे तथा अपने को 'परमभागवत' कहने में गर्व का अनुभव करते थे । राजाश्रय पाने के कारण कला के क्षेत्र में भी ब्राह्मणधर्म की मूर्त्तियाँ—विशेषतया भागवतधर्म की उपास्य प्रतिमाएँ—अधिक मात्रा में बनना स्वाभाविक था। यहाँ हमें शिव, दुर्गा, कार्त्तिकेय आदि के समान विष्णु के भी कई नवीन रूप देखने को मिलते हैं। गुप्तकालीन कलाकारों के सौन्दर्य के विषय में कुछ अपने मानदण्ड थे जैसे शारीरिक सौन्दर्य की अपेक्षा भावसौन्दर्य को प्रधानता देना, इने-गिने अलंकार एवं अलंकृत प्रभा-मण्डलों को बनाना, परिवार-देवताओं को अंकित करना आदि । ये सब विशेषताएँ इस काल की विष्णु-प्रतिमाओं में भी लक्षित होती हैं। कुषाणकालीन मूर्त्तियों से तुलना करने पर गुप्तकाल में निम्नांकित विशेषताएँ दिखलाई पड़ने लगती हैं :

(एक) प्रभामण्डल का उद्भव :

उत्तर कुषाणकाल से ही कतिपय विष्णु-मूर्त्तियों में प्रभामण्डल बनने लगा था (उदा० प्र० सं० सं० ८५७, ९५२, रे०चि० ४९-५०), परन्तु गुप्तकाल में उसकी लोकप्रियता बहुत बढ़ गई । यह प्रभामण्डल साधारणतया गोल और क्वचित् लम्बगोल होता है। छोटी मूर्त्तियों में तो बहुधा वह सादा है, पर बड़ी मूर्त्तियों में वहाँ मणिमाला, पत्रावली, पुष्प आदि अलंकरणों के दर्शन होते हैं (उदा० ल० सं० सं० एच्१११, चित्र-सं० ५८)।

(दो) भुजाओं की स्थिति में परिवर्त्तन :

कुषाणकालीन विष्णु-प्रतिमा की पिछली दोनों भुजाएँ उठी रहती थीं तथा साधारण दाहिनी कन्धे तक अभयमुद्रा में उठी एवं बाईं मुड़कर कमर के पास सटी रहती थी। गुप्तकाल में अतिरिक्त भुजाएँ नीचे की ओर लटकती हुई बनने लगीं तथा दोनों साधारण भुजाएँ भी अधिकतर समकोण बनाती हुई स्थिर हुईं। उठी हुई भुजाएँ 'उद्बाहु' तथा लटकती हुई 'प्रलम्बबाहु' कहलाती थीं। प्रलम्ब भुजाएँ आयुधों या आयुधों के मस्तक पर टिकी हुई दिखलाई पड़ती हैं।

(तीन) अंकन-शैली में परिवर्त्तन :

मूर्त्तियों का उभयवर्त्ती अंकन कुषाणकालीन मथुरा-कला की विशेषता थी, अर्थात् कलाकार मूर्त्ति के पिछले भाग को भी उतनी ही सावधानी से गढ़ता था, जितनी सावधानी

वह सम्मुख भाग को गढ़ते समय बरतता था। गुप्तकाल में यह परिपाटी बदलने लगी। अब कलाकार केवल सम्मुख भाग के अंकन में अपने सारे कौशल को उड़ेल देता था, किन्तु पिछले भाग में केवल इधर-उधर छेनी चलाकर रूप का साधारण अंकन-मात्र कर देता था (उदा० म० सं० सं० १५·६८४, ५६.४८३६, ४६.४८३८, ००. डी० २८, ल० सं० सं० एच्० १११ इत्यादि)। फलतः, इस काल की विष्णु-मूर्त्तियों में पीछे की ओर प्रभामण्डल की गोलाई, भुजाओं की स्थिति, वस्त्र के संकेत आदि कभी-कभी मिल जाते हैं, पर केशों की सुन्दर सजावट, धोती की काँछ और सिलवटें, पृष्ठभाग का सौष्ठव, उष्णीष की फहरान अथवा समूचे भाग पर पुष्प-फलों से लदे तथा पक्षियों से शोभित वृक्ष का अंकन आदि बातें नहीं दिखलाई पड़तीं।

(चार) अलंकार :

कुषाण-प्रतिमाओं की अपेक्षा गुप्तकालीन मूर्त्तियों में अलंकारों की संख्या और सौन्दर्य में वृद्धि होती है। इस काल के प्रमुख अलंकार अधोलिखित हैं :

क मुकुट :

कुषाणकाल से ही मुकुट के दो प्रकार, अर्थात् कलगीदार एवं बिना कलगी का ऊपर उठा हुआ, प्रचलित थे। मोटे रूप से ये ही प्रकार गुप्तकाल में भी रहे, किन्तु उनकी सजावट में काफी अन्तर आ गया। कुषाणकाल में कुछ मुकुटों की कलगियों को व्यावृत मुख में माला पकड़े पंजोंवाले सिंह से सजाने की प्रथा थी (म० सं० सं० ४४.३१२, रे०चि० ६१)। वही अलंकरण आगे चलकर शनैः-शनैः सिंह की नैसर्गिक आकृति को छोड़कर सिंहमुख एवं कीर्त्तिमुख में बदल गया। प्रारम्भिक गुप्तकाल में कदाचित् यह विष्णु-मूर्त्ति की एक विशेषता मानी जाती थी; क्योंकि कलगीदार मुकुट में तो हम उसे पाते ही हैं, पर बिना कलगी के मुकुट में भी, जिसे करण्डक मुकुट कहना चाहिए, यह अलंकार कभी-कभी रहता है (रे०चि० ५७,६०)। कहीं-कहीं पर तो ऐसे मुकुटों में तीन-तीन सिंहमुखों का एक साथ प्रयोग हुआ है (ल० सं० सं० ४६·४४)। हरि-हर मूर्त्ति में हरि का मुकुट भी सिंहमुख से सजाया जाता है (उदा० राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली तथा बिरला आर्ट गैलेरी, कलकत्ता की हरिहर-मूर्त्तियाँ)। यह भी स्पष्ट है कि विष्णु-मुकुट में सिंहमुख अनिवार्य नहीं था। मथुरा से प्राप्त विष्णु-मूर्त्तियों के कई मुकुटों में वह नहीं है, केवल फुल्लों में ही मणियों की लड़ियाँ गूँथी हुई हैं (रे०चि० ५६, ५९)। मुकुट-निर्माण में कलाकार की रुचि भी खूब चलती थी। कुछ तो सादे मुकुट हैं (यथा अहिच्छत्रा की मृण्मूर्त्ति, चित्र-सं० ५७) और कुछ रत्नों एवं अलंकारों से गँजे हुए हैं (ल० सं० सं० एच्० ११०, एच्० १११)।

ख एकावलि :

गले में मणियों की या मोतियों की एक लड़ी डाल लेना गुप्तकाल का प्रिय अलंकरण था। कभी-कभी बीच का मणि आकार में सबसे बड़ा होता था और उसके अगल-बगल क्रमशः चढ़नेवाले मणि आकार में छोटे होते जाते थे। विष्णु की प्रतिमा में एकावलि का होना सामान्य बात है। कभी-कभी एक के स्थान पर दो लड़ियाँ

होती हैं और बीच में दोनों को जोड़नेवाला फुल्ला या अलंकार होता है (ल० सं० सं० एच्० ११०, १११, चित्र-सं० ५८)। कभी-कभी एकावलि के अतिरिक्त मोतियों की एक साथ गूंथी हुई मोटी माला पहनी जाती थी, जिसे 'हारयष्टि' कहते थे।[५०]

ग वनमाला :

कुषाणकाल की छोटी वनमाला अब अनिवार्य रूप से आकार में बड़ी होकर आजानुलम्बिनी बन जाती है। साथ ही उसका प्राकृतिक वनमालापन लुप्त होकर अब वह फूलों के मोटे हार का रूप धारण कर लेती है (चित्र-सं० ५८)। गले के दोनों ओर से प्रकट होकर भुजाओं पर वल खाती हुई आजानुलम्बिनी मोटी-सी माला गुप्त विष्णु की अनिवार्य विशेषता बन जाती है।

घ कुण्डल, भुजबन्द और कंकण :

विष्णु के 'मकराकृति' कुण्डल अभी कलाकारों की परम्परा में रूढ नहीं हुए थे, पर भुजबन्दों पर कहीं-कहीं मकरों का अलंकरण बना रहता था (ल० सं० सं० एच्० १११), वैसे भुजबन्दों का होना अनिवार्य नहीं था।

विष्णु के लिए कंकण कदाचित् आवश्यक थे। कुण्डलों में चक्र-कुण्डल (म० सं० सं० ३४.२५२५), पुष्प-कुण्डल (चित्र-सं० ५८) एवं मणि-कुण्डल अधिक चलते थे।

ङ मुक्तायज्ञोपवीत :

यह गुप्तकाल की विशेष देन थी। यह हम देख चुके हैं कि कुषाणकाल में कुछ विष्णु-मूर्त्तियों को यज्ञोपवीत पहनाया गया है, यद्यपि शिव-प्रतिमाओं में इसकी बहुलता थी। गान्धार-कला में ताबीज बँधी हुई सोने की सिकड़ी यज्ञोपवीत की भाँति पहनाई जाती थी, जिसे हम सिद्धार्थ और मैत्रेय की प्रतिमा में बहुधा पाते हैं। गुप्तकालीन विष्णु-मूर्त्ति में इसने विशुद्ध अलंकार का रूप धारण किया, जिसमें मोती और रत्न गूंथे रहते थे।[५१]

च नेत्रसूत्र :

कुषाणकालीन चौड़ी पट्टीवाले कटिसूत्र से हम परिचित हैं, जिसे बौद्ध साहित्य में कायवन्धन के नाम से पहिचाना जाता था। गुप्तकाल में कायबन्धन लुप्त हो गया और उसका स्थान एक नवीन वस्तु ने लिया, जिसका नाम था 'नेत्रसूत्र'। यह एक मजबूत रेशमी डोरी होती थी, जिसमें बहुमूल्य फुँदने बँधे होते थे।[५२] अधोवस्त्र को स्थिर रखने के लिए नेत्रसूत्र का उपयोग होता था। इसके कई सुन्दर उदाहरण हमें गुप्तकालीन विष्णु-मूर्त्तियों में मिलते हैं (मथुरा, विष्णु, दिल्ली[५३], म० सं० सं० ३४·२५२५, अनन्तशायी देवगढ़ इत्यादि)।

(पाँच) वस्त्र :

गुप्तकाल की साधारण परिपाटी के अनुसार विष्णु के लिए भी धोती और उत्तरीय का व्यवहार किया गया है। धोती स्वभावतया अनिवार्य थी, पर कुषाणकाल की भाँति यहाँ भी उत्तरीय का बहुत कम उपयोग किया गया है। जहाँ उत्तरीय है, वहाँ उसे पहिनने की

एक ही शैली अपनाई गई है; अर्थात् दोनों जंघाओं को ढीले-ढाले रूप से आवेष्टित करते हुए उत्तरीय के दोनों छोरों की एक हलकी-सी गाँठ बाँध दी गई है (ल० सं० सं० एच्० ११०; म० सं० सं० आइ० १६ इत्यादि)।

अधोवस्त्र या धोती के दो प्रकार दिखलाई पड़ते हैं। एक तो लम्बी और पर्याप्त चौड़ी धोती है, जो सकच्छ पद्धति से पहनी गई है (ल० सं० सं०एच्० १११, म० सं० सं० डी० २८ इत्यादि)। धोती का चुनकर बटोरा हुआ एक छोर सामने की ओर दोनों पैरों के बीच लटक रहा है।

दूसरे प्रकार की धोती चौड़ाई में बहुत छोटी होती है, जो घुटनों तक भी नहीं पहुँच पाती। इसका भी कच्छ स्पष्ट दिखलाई पड़ता है (म० सं० सं० ५६, ४८३६, पष्ठभाग)। यह प्रकार वैकुण्ठ (चित्र-सं० ७७, म० सं० सं० ३४, २५२५) और त्रिविक्रम (म० सं० सं० आइ० १६, चित्र-सं० ६३) की दो मूर्त्तियों में भी मिलता है। सम्भव है कि यह धोती न होकर 'जंघिका' या 'अर्धरुक्' प्रकार का पहिरावा हो।

(छह) श्रीवत्स तथा कौस्तुभ :

परवर्त्ती काल के मूर्त्तिविज्ञान में विष्णु का श्रीवत्स तथा कौस्तुभ से अविच्छिन्न सम्बन्ध माना गया है, किन्तु गुप्त एवं गुप्तपूर्वकाल की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। वहाँ हम देख चुके हैं कि केवल एक अपवाद को छोड़कर श्रीवत्स का प्रयोग अबतक की ज्ञात मूर्त्तियों में नहीं मिलता। इस युग में कौस्तुभमणि को भी पहचानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है।

गुप्तकाल में भी श्रीवत्स का प्रयोग सर्वसामान्य नहीं था। ग्वालियर-संग्रहालय की दो वैष्णव-मूर्त्तियों में यह चिह्न विद्यमान है[५३], किन्तु वहाँ भी यह सन्दिग्ध है कि श्रीवत्स का प्रयोग शारीरिक चिह्न के रूप में[५४] किया गया है या कण्ठाभूषण के मध्य-पदक के रूप में। उदयगिरि से प्राप्त एक विष्णुमूर्त्ति के हृदय पर श्रीवत्स है[५५], किन्तु अन्यत्र गुप्तकालीन विष्णु-प्रतिमाओं के वक्षस्थल पर उसका साधारणतया अभाव ही परिलक्षित होता है।

हम पहले यह बतला चुके हैं[५६] कि विष्णु का श्रीवत्स शिव द्वारा किये गये त्रिशूल के आघात का प्रतीक माना गया है तथा वह चिह्न हरिहर के प्रगाढ स्नेह का द्योतक है। यद्यपि इस साहित्यिक उल्लेख का काल-निर्धारण सरल नहीं है, तथापि यह तो स्पष्ट है कि विष्णु के श्रीवत्स-विरहित रहने की बात भी कभी मान्य थी।

कौस्तुभ, जैसा कि हम समुद्रमन्थनवाली कथा से जानते हैं, स्पष्टतया एक रत्न है, जो क्षीरसमुद्र से निकला और महाविष्णु को मिला था। इसे वे सदैव अपने गले में धारण करते हैं। गुप्तपूर्व की विष्णु-मूर्त्तियों के कण्ठ में छोटी वनमाला अवश्य दिखलाई पड़ती है, किन्तु उसमें कौस्तुभ की सम्भावना नहीं है। गुप्तकाल में साधारणतया एकावलि पहनते थे। कहीं-कहीं पर यह भरेपूरे कण्ठाभरण का रूप धारण करती है, जिसमें कौस्तुभ के निहित रहने की कल्पना की जा सकती है। **श्रीशिवराममूर्त्ति** का कहना है कि उत्तर भारत में श्रीवत्स वक्ष-मध्य में होने के कारण कौस्तुभ रत्न से घुलमिल जाता था।[५७]

छोटे आयत के रूप में कौस्तुभ का स्पष्ट अंकन एक विष्णु-मूर्त्ति में अबतक लेखक को मिला है, पर वह ढलते गुप्तकाल की है (भा० क० भ० वाराणसी सं० सं० १५४ लिंगोद्भवमूर्त्ति में विष्णु)।

कालिदास के अनुसार कौस्तुभ का प्रयोग केवल विष्णु के द्वारा ही नहीं, अपितु लक्ष्मी के द्वारा भी होता था।[५८]

(सात) आयुध :

गुप्तकालीन मूर्त्तियों में पहले के समान गदा, चक्र एवं शंख तो हैं ही, पर कभी-कभी चौथी वस्तु फल का भी दर्शन होता है।

प्रथम गदा को लें। इसके आकार में साधारणतया एक परिवर्त्तन लक्षित होता है। अब अधिकतर वह पहले जैसी मुद्गर का रूप धारण करनेवाली तथा लगभग कान तक पहुँचनेवाली नहीं रहती, अपितु उसकी लम्बाई कम होती है और चौड़ाई बढ़ जाती है। उसका आकार छोटे मुद्गर जैसा होता है। (रे० चि० ४) और साथ ही, गोल पेंदा या कुम्भ लग जाता है। समूची मोटी गदा की अपेक्षा कुम्भयुक्त गदा का प्रहार अधिक तीखा होता होगा। यह कुम्भ बहुधा आँवले के समान फाँकदार होता था। गदा का दण्डभाग कभी-कभी अठपहलू बनाता था।

यद्यपि अधिकांश मूर्त्तियों में कुषाणकाल के समान ही गदा पिछले दाहिने हाथ में दिखलाई पड़ती है, तथापि उसे अब वैसा बनाने का अनिवार्य नियम नहीं था। लखनऊ-संग्रहालय के बाँगरमऊ विष्णु (ल० सं० सं० एच्० १३६) द्वारा उसे उल्टी स्थिति में (कुम्भ ऊपर कर) बायें हाथ से पकड़ा गया है, तो दूसरी मूर्त्ति में (ल० सं० सं० एच् ८८) वह बायें कन्धे पर टिकी है। राजगिरवाली विष्णु-मूर्त्ति में पिछले बायें हाथ में गदा देवी है।[५९] कहा जा सकता है कि मथुरा के गुप्तकालीन कलाकारों ने कुषाण-परम्परा को टिकाये रखा, किन्तु अन्यत्र वैसी वात न रही (गदा की स्थिति के लिए रे० चि० ६२–६४)।

शंख ने अपना स्थान अधिक नहीं बदला। गढ़वावाली मूर्त्ति में तो वह ऊपरी दाहिने हाथ में अस्वाभाविक रूप से चला गया है, किन्तु साधारणतया उसका स्थान विष्णु का अगला दाहिना हाथ है। उसे पकड़ने की कोई विशिष्ट पद्धति नहीं थी, वह कलाकार की रुचि पर निर्भर था (रे० चि० ६६–६९)।

श्रीशिवराममूर्त्ति का कथन है कि दक्षिण भारत में शंख सदैव इस प्रकार पकड़ा जाता था कि प्रणाली नीचे की ओर रहे तथा उत्तर भारत में विशेषकर बंगाल और बिहार में प्रणाली ऊपर की ओर रहती थी।[६०] किन्तु, प्रस्तुत लेखक के विचार से उत्तर भारत के लिए कोई ऐसी सर्वसाधारण परम्परा रही होगी, ऐसा नहीं लगता।

विष्णु का सुदर्शन उनका एक अनिवार्य आयुध है। उसका निश्चित स्थान पहले से ही उठा हुआ पिछला दाहिना हाथ था। कुषाणकाल की परम्परा बहुत कुछ गुप्तकाल में भी बनी रही। कुछ अपवाद भी मिलते हैं। अब चक्र पहले की अपेक्षा अधिक भारी हो गया (रे० चि० ७१-७२)। कदाचित् प्रलम्बबाहु मूर्त्तियों के लिए यह अधिक उपयुक्त और विलोभनीय था। कहीं-कहीं पर चक्र के भारीपन को दिखलाने के लिए उसे एक

चबूतरे पर टिकाया गया है तथा ऊपर से केवल सँभाला-मात्र गया है (सं० वि० वि० सं० वाराणसी, विष्णु-मूर्त्ति चौमुखी, रे० चि० ७२)।

विष्णु के चौथे हाथ, अर्थात् साधारण दाहिने हाथ में—जो पहले अभयमुद्रा में रहता था—अब एक फल दिखलाई पड़ता है। गुप्तकाल की इस देन 'फल' के विषय में साहित्य से कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। एक स्थान [६०अ] पर उसे 'विचित्रफल' कहा गया है, परन्तु उससे कोई विशेष बोध नहीं होता।

यह हम पहले ही बतला चुके हैं कि कमल का कुषाण काल में आयुध के रूप में उद्‌भव नहीं था, गुप्तकालीन विष्णु में भी हम उसे नहीं पाते।

(आठ) आयुधपुरुष :

प्राचीन साहित्य में कहीं-कहीं देवताओं के आयुधों का मूर्त्तरूप में वर्णन मिलता है, जैसे :

(अ) चक्रमुसल संग्राम के समय संवर्तक हल, सौनन्द मूसल, सुदर्शन चक्र और कौमोदकी गदा का आकाश से मूर्त्तिमान् होकर अवतरण।[६१]

(आ) शिव के साथ त्रिशूल, दण्ड आदि उनके आयुधों का मानवरूप में चलते हुए वर्णन।[६२]

(इ) महाकवि कालिदास द्वारा रघुवंश[६३] में एक स्थान पर विष्णु के 'हेति' या आयुधों को 'चेतन' बतलाना।

(ई) एक दूसरे स्थान पर इसी कवि का यह कथन कि कमल, खड्ग, गदा, शार्ङ्ग धनुष तथा चक्र से 'लांछित' बौने या वामनमूर्त्तियाँ कौसल्यादि राजपत्नियों की सुरक्षा करती थीं'।[६४] स्पष्टतः यह संकेत आयुध-पुरुषों की ओर है जो आयुध-विशेष से 'लांछित' और वामनाकार होते थे।

इन साहित्यिक संकेतों को कलाकारों ने भी गुप्तकाल में अपनाया। शिव के साथ त्रिशूल-पुरुष तथा कार्त्तिकेय के साथ स्त्री-रूप में शक्ति का अंकन मूर्त्तियों में मिल चुका है, किन्तु इस परम्परा के अधिक दर्शन हमें विष्णु-मूर्त्तियों में ही होते हैं।

आयुधपुरुषों के अंकन की मान्य परिपाटी यह थी कि गदा एवं शक्ति को छोड़ शंख, चक्र, वज्र, धनुष-बाण, त्रिशूल, खड्ग आदि आयुधों को किंचित् स्थूलकाय बौनों के रूप में बनाया जाता था। प्रथम दो स्त्री-रूप में बनते थे। मानव-रूपी आयुध के हाथ में या मस्तक के ऊपर मूलरूप में शस्त्र का चिह्न या लांछन रहता था। कभी-कभी पिछले भाग में पूरा आयुध बना रहता था, यथा गदादेवी के पीछे बड़ी-सी गदा बनी रहती है (रे० चि० ६५)।

आयुधपुरुषों का स्थान विष्णु के पैरों के अगल-बगल रहता है और बहुधा विष्णु के प्रलम्बबाहु उनके मस्तकों पर टिके दिखलाई पड़ते हैं (म० सं० सं० डी० २८, रे० चि० ६५, ७३)। राजगिर के गुप्तकालीन विष्णु गदा और चक्र को उनके गले से पकड़े हैं[६५]। देवगढ़ की शेषशायी विष्णु-प्रतिमा में [६६] नीचे की ओर आयुधपुरुष बने हैं। दर्शक के दाहिने हाथ की ओर गदा, चक्र और शंख खड़े हैं तथा चौथा आयुधपुरुष आक्रमणकारी मधु दानव से युद्ध करने जा रहा है। यह नवीन आयुधपुरुष है, जो सामान्यतः नहीं

दिखलाई पड़ता। यह है खड्ग—विष्णु का नन्दक खड्ग। स्पष्टतः, यह पुरुष म्यान में से तलवार निकालते हुए आगे बढ़ रहा है।

विष्णु के आयुधपुरुषों के दर्शन कभी-कभी हरिहर-मूर्त्तियों में भी होते हैं। उदाहरण के लिए कुटारी से मिली चौमुखी प्रतिमा (इ० सं० सं० २९२) को देख सकते हैं, जिसमें शिव की ओर त्रिशूलपुरुष तथा विष्णु की ओर चक्रपुरुष बने हैं।

मनोरंजक बात तो यह है कि चक्र को पुरुष-रूप में अंकित करने की ब्राह्मण-धर्मीय परम्परा को जैनों ने भी क्वचित् सुन्दर ढंग से अपनाया था। उदाहरण के लिए, राजगीर के वैभार पर्वत से मिली नेमिनाथ की प्रतिमा की चौकी पर सुन्दर चक्र, चक्र-पुरुष के रूप में अंकित है।[९७]

विष्णु के अवतार

गुप्तकाल तक विष्णु का अवतारवाद दृढ़मूल हो चुका था। यद्यपि अवतारों की संख्या में मतभिन्नता अब भी बनी रही। जिन ग्रन्थों ने अवतारों की संख्या दस ही मानी, उनमें भी अवतार-नाम में मतभिन्नता है। इस मतभिन्नता का स्वरूप निम्नांकित तालिका से पर्याप्त स्पष्ट होगा :

ग्रन्थनाम	अवतार-संख्या	अवतार-विवरण
वाल्मीकीय रामायण (युद्ध, ११७,५ १२–३१)।	५	एकश्रृंगवराह, राम, परशुराम, कृष्ण और त्रिविक्रम।
महाभारत (शान्ति, ३३९, १०३-४)	१०	हंस, मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, सात्त्वत कृष्ण और कल्की।
मत्स्यपुराण (४७·२३४—५०)	१०	यज्ञ, नरसिंह, वामन, दत्तात्रेय, मान्धाता, जामदग्न्य, राम, व्यास, बुद्ध[९८] और कल्की।
अग्निपुराण (४९·१–९)	१०	मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्की।
वायुपुराण* (९८·७१–११७)	१०	यज्ञ, नरसिंह, वामन (उपेन्द्र), दत्तात्रेय, मान्धाता, जामदग्न्य, राम, व्यास, कृष्ण और कल्की।
ब्रह्मपुराण (१८०·१८–४२)	७	वराह, नरसिंह, वामन, जामदग्न्य, राम, कृष्ण और कल्की।
ब्रह्मपुराण (२१३·१–४३; ७६–१६८)	८	वराह, नरसिंह, वामन, दत्तात्रेय, जामदग्न्य, राम, कृष्ण और कल्की।

* वायु० का यह अध्याय बहुत कुछ मत्स्य ४७ से मिलता है, पर वहाँ अन्त में बुद्ध को छोड़ दिया है।—ले०

ग्रन्थनाम	अवतार-संख्या	अवतार-विवरण
पद्मपुराण, पंचम खण्ड (अध्याय, २३०–२५२)।*	१०	मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्की।
स्कन्दपुराण (वैष्णवखण्ड) वासुदेव-माहात्म्य, (१८·१६–४५)।	१४	वराह, मत्स्य, कूर्म, नरसिंह, वामन, कपिल, दत्त, ऋषभ, परशुराम, राम, कृष्ण, व्यास, बुद्ध और कल्की।
विष्णुधर्मोत्तरपुराण (तीसरा खण्ड, अध्याय ८५)।	१६	नरसिंह, वराह, कपिल, विश्वरूप, हयग्रीव, पद्मनाभ, वामन, कूर्म, हंस, मत्स्य, मोहिनी, पृथु, परशुराम, राम, वाल्मीकि और दत्तात्रेय।
विष्णुपुराण (तीन १३·६–४४)	७	यज्ञ, अजित, सत्य, हरि, मानस, वैकुण्ठ और वामन।
विष्णुपुराण (पाँच, १७·१०) (पाँच, १७·३३)।	..	मत्स्य, कूर्म, वराह, हयग्रीव, नरसिह और कृष्ण।
वृद्धहारीतस्मृति† (७·१४२-४३)	१०	मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, राम, बलभद्र, कृष्ण, कल्की और हयग्रीव।
अहिर्बुध्न्यसंहिता (डी० एच्० आइ०, पृ० ३९१)	३९	साधारण दस अवतारों के अतिरिक्त ध्रुव, अनन्त, विहंगम, वडवावक्त्र, क्रोडात्मन्, वागीश्वर, कान्तात्मन्, लोकनाथ, पीयूषहरण आदि अनेक रूपों को भी अवतारों में लिया गया है।

उपर्युक्त तालिका किसी भी प्रकार से विस्तृत और पूर्ण नहीं है और न अवतारवाद का सर्वांगीण स्वरूप ही समझने के लिए पर्याप्त है। किन्तु, इससे निम्नांकित बातें स्पष्ट होती हैं :

(क) अवतारों की संख्या में मतैक्य नहीं था।

(ख) वराह, नरसिंह, वामन, राम एवं कृष्ण ये पाँच अवतार लगभग सर्वमान्य थे।

(ग) व्यास, वाल्मीकि, कपिल आदि कुछ ऋषियों एवं बुद्ध, ऋषभ जैसे नास्तिक मतों के आचार्यों को भी 'महाविलयन-परम्परा' के अनुसार अवतारमालिका में स्थान मिल रहा था।

(घ) कतिपय मत विश्वरूप, वैकुण्ठ, हरि, विहंगम या गरुड, शेषशायी आदि विष्णु के विविध रूपों को अवतारों में गिन रहे थे।

---

* कृष्ण तक के वर्णन बहुत लम्बे हैं, पर बुद्ध और कल्की को दो-एक श्लोकों में समाप्त किया गया है। —ले०

† यह ग्रन्थ सभी कर्मों में भार्गव और बुद्ध दोनों का पूजन वर्ज्य बतलाता है। —ले०

इतनी साहित्यिक पृष्ठभूमि से परिचित होने के पश्चात् अब गुप्तकालीन प्रतिमाओं में प्राप्त विष्णु के विविध अवतार तथा रूपों का विचार करें।

वराह :

गुप्तकाल में वराह की उपासना को पर्याप्त बल मिला। इस समय की कई वराह-मूर्त्तियाँ हमें ज्ञात हैं।[६९] इनमें मुख्यतया दो प्रकार हैं—एक तो यज्ञवराह या पशुरूप में वराह और दूसरे नृवराह या वराह और मानव का संयुक्त रूप। यज्ञवराह की मूर्त्तियों में एरण की एक प्रतिमा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पशुरूपी वराह के समूचे शरीर पर वल्कल पहने हुए कमण्डलुधारी ऋषि तथा अन्य देवप्रतिमाएँ अंकित हैं। गले में एक माला है, जिसपर कई अलंकरणों के साथ राशियों का चित्रण किया गया है।[७०] इस अंकन-पद्धति को पुराणों में वराह के लिए व्यवहृत शब्दों से समझा जा सकता है—जैसे 'वेदवेदांगतनु'[७१], 'वेदमयशरीर', 'रोमान्तःस्थ मुनिगण'[७२] दर्भलोम, पशुजानुमखाकृति[७३] आदि।

नृवराह की सबसे सुन्दर और विशाल मूर्त्ति विदिशा के पास उदयगिरि में विद्यमान है। ऐसी ही दूसरी मूर्त्ति एरण में है। इन मूर्त्तियों की अधोलिखित विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं :

(क) वराह आलीढ मुद्रा में खड़े हैं और केवल द्विभुज हैं।

(ख) मस्तक पर मुकुट नहीं है और न वहाँ विष्णु के कोई आयुध ही दिखलाई पड़ते हैं।

(ग) आपादलम्बिनी वनमाला उनके देवत्व की सूचक है।

(घ) वराह के उठे हुए बायें पैर के नीचे नमस्कार-मुद्रा में स्थित कुण्डलिगत सर्पराज पाताल का प्रातिनिध्य करता है। वहीं से वराह-रूपधारी विष्णु ने पृथ्वी का उद्धार किया था। एरण में यह सर्प नहीं है, पर उदयगिरि में है।

(ङ) वराह की डाढ़ के सहारे से लटकती हुई स्त्री पृथ्वी है। उदयगिरि में उसे अधिक स्वाभाविक रूप से दिया गया है तथा जल में से निकलनेवाले एक कमल पर उसे स्थित दिखलाया गया है।

(च) भीतरगाँव के मृत्फलक पर वराह के पीछे उनके मस्तक तक उठता हुआ एक सनाल कमल दिखलाया गया है। यह अभिप्राय मध्यकाल में अधिक लोकप्रिय हुआ और वहाँ इस कमल ने एक छत्र का रूप ले लिया।

वराह की स्वतन्त्र मूर्त्तियों के अतिरिक्त विष्णु के विश्वरूप, वैकुण्ठ आदि रूपों में भी वराहमुख के दर्शन होते हैं, जिनका विचार यथास्थान करेंगे।

नरसिंह :

गुप्तकाल की विशिष्ट नरसिंह-प्रतिमाएँ निम्नांकित हैं :

१. सागर जिले के पल्हेजपुर की मूर्त्ति।[७४]

२. विदिशा के खड़े नरसिंह, ग्वालियर-संग्रहालय।[७५]

३. देवगढ़ के केवल-नरसिंह।[७६]
४. भारत-कलाभवन, वाराणसी में लेखांकित चौमुखे स्तम्भ पर बने नरसिंह (चित्र-सं० ६१)।
५. लखनऊ के बनारसीबाग में स्थित ढलते गुप्तकाल की नरसिंह-प्रतिमा।[७७]
६. अहिच्छत्रा से मिली नरसिंह की खण्डित मूर्त्ति।
७. भारत-कलाभवन की दूसरी खण्डित प्रतिमा (चित्र-सं० ६२)।

उपर्युक्त मूर्त्तियों में क्रमसंख्या ३ और ४ को छोड़ शेष मूर्त्तियाँ बहुत खण्डित हैं तथा मूर्त्तिविज्ञान की दृष्टि से विचार करने के लिए अधिक सहायक नहीं हैं। सागर और विदिशा की प्रतिमाएँ केवल इस बात का संकेत करती हैं कि गुप्तकाल में वराह की भाँति नरसिंह के भी मानव-परिमाण विग्रह बनते थे, मस्तक पर मुकुट नहीं होता था तथा वनमाला प्रमुखता से पहनाई जाती थी। इन मूर्त्तियों से नरसिंह की परिवार-देवताओं की कोई झलक नहीं मिलती।

भारत-कलाभवन के लेखांकित स्तम्भ पर उत्कीर्ण प्रतिमा (चित्र-सं० ६१) पर्याप्त सुरक्षित होने के कारण बड़े काम की है। आयुधों में चक्र एवं गदा स्पष्ट हैं। शंख भी रहा होगा। शेष बातें ऊपर की मूर्त्तियों के समान ही हैं।

देवगढ़वाली प्रतिमा आसनस्थ नरसिंह की है। विशाल पद्म के ऊपर ज्वालमाला से वेष्टित नरसिंह राजलीला-आसन में बैठें हैं। आयुधों का क्रम चक्र, गदा एवं शंख है। साधारण बायाँ हाथ मुड़े हुए घुटने पर रखा है। मस्तक पर मुकुट नहीं है, किन्तु गले में वनमाला है। नरसिंह के बाईं ओर हाथ जोड़े हुए पुरुष की एक आवक्ष प्रतिमा है, जिसे कदाचित् प्रह्लाद के रूप में पहचाना जा सकता है।[७८]

उत्तर की अपेक्षा दक्षिण भारत में नरसिंह-उपासना का अधिक प्रसार था। सिलप्पदिकारम् जैसे प्राचीन ग्रन्थ में नरसिंह का उल्लेख मिलता है। अबतक की ज्ञात नरसिंह की प्राचीनतम मूर्त्ति भी दक्षिण के कोण्डामोतु-पट्ट पर मिली है, जिसका वर्णन हम कर चुके हैं।

दक्षिण भारत में नरसिंह की लोकप्रियता के फलस्वरूप वहाँ 'केवल-नरसिंह', 'स्थाणु-नरसिंह', 'लक्ष्मी-नरसिंह' आदि अनेक प्रकार की मूर्त्तियाँ बनती रहीं।

त्रिविक्रम, वामन :

विष्णु के त्रिविक्रमावतार की कथा की प्राचीनता की ओर हम पहले ही संकेत कर चुके हैं। कुषाणकाल में ऐसी कोई मूर्त्ति हमें अबतक नहीं मिली है, जिसे हम निस्सन्देह रूप से त्रिविक्रम अथवा वामन के नाम से पहचान सकें। किन्तु, गुप्तकाल में स्थिति बदल जाती है। मूर्त्तिकला में इस अवतार का अंकन दो प्रकार से हुआ है। प्रथम प्रकार में विष्णु पैर उठाकर पृथ्वी को नापते हुए दिखलाई पड़ते हैं। अतएव, इसे त्रिविक्रम के नाम से पहचानते हैं। दूसरे प्रकार में विष्णु को ही स्थूल रूप में अंकित किया जाता है। दूसरा प्रकार गुप्तकाल में बहुत कम दिखलाई पड़ता है, किन्तु ढलते गुप्तकाल तथा मध्यकाल में प्रचुरता से मिलता है।

गुप्तकालीन त्रिविक्रम की कुछ प्रमुख मूर्त्तियाँ निम्नांकित हैं :

(अ) ग्वालियर-संग्रहालय की पदमपवाया या पद्मावती से मिली मूर्त्ति (रे० चि० ४६)।
(आ) पुरातत्त्व-संग्रहालय, मथुरा की मूर्त्ति (सं० सं० आइ० १६, चित्र-सं० ६३)।
(इ) उसी संग्रहालय की दूसरी मूर्त्ति (म० सं० सं० ३६. २६६४)।

इनमें पदमपवायावाला शिलापट्ट खण्डित होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है। इसकी निम्नांकित विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं :

(क) यहाँ त्रिविक्रम अष्टभुज हैं।
(ख) वे इतने बढ़ गये हैं कि सूर्य-चन्द्र उनके अगल-बगल आ गये हैं।
(ग) ऋक्षराज जाम्बवान् उनकी परिक्रमा कर रहे हैं।
(घ) त्रिविक्रम के साथ ही राजा बलि के यज्ञ का विस्तृत दृश्य भी बना है। यज्ञमण्डप में बटुवेषधारी वामन का पहुँचना तथा बलि द्वारा भूमि का दान आदि बातें यहाँ अंकित की गई हैं।
(ङ) त्रिविक्रम के पीछे कमलधारिणी लक्ष्मी भी खड़ी हैं।

पदमपवायावाली मूर्त्ति का दाहिनी ओर का भाग टूट गया है, परन्तु मथुरावाली मूर्त्तियों की सहायता से हम इस ओर की कल्पना कर सकते हैं।

(च) विष्णु का बायाँ पैर ऊपर उठा रहता है। इस ऊपर उठे हुए तिरछे पैर का वर्णन कालिदास ने मेघदूत में 'तिर्यगायामशोभिपाद', इन शब्दों में किया है।
(छ) उठा हुआ पैर एक दैत्याकार मुख से जाकर टकराता है। इस मुख की ठीक पहचान वाद का विषय है। **डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल** ने इस मुख की ओर संकेत करते हुए विष्णुधर्मोत्तर की अर्धालि की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, जिसमें 'विस्फारित' नेत्रोंवाले एक देव को बनाने की बात कही गई है।[८१] **श्रीगोपीनाथ राव** ने वराहपुराण का उद्धरण देते हुए इस मुख को फूटते हुए ब्रह्माण्ड का प्रतीक माना है।[८२] **श्रीराखालदास बनर्जी** के मतानुसार यह राहु है।[८३]

इस विषय में श्रीराव का मत अधिक युक्तिसंगत लगता है। महाभारत में त्रिविक्रम के पैर द्वारा भेदन की जानेवाली वस्तु को 'अण्ड का कपाल' कहा गया है।[८४] कूर्मपुराण अधिक स्पष्ट रूप से उसे 'अण्डकपालमूर्ध' कहता है।[८५]

ऐसा लगता है कि इस दैत्य-मुख के निर्माण की परम्परा गुप्तकाल के बाद अधिक लोकप्रिय नहीं रही और उसके स्थान पर ब्रह्मा की मूर्त्ति दिखलाई पड़ने लगी जिनके कमण्डलु को स्पर्श करने के फलस्वरूप गंगा के उद्भव की बात चली थी।

(ज) त्रिविक्रम के दाहिने पैर से एक पुरुष, कदाचित् शरणागत के रूप में राजा बलि, लिपटा हुआ दिखलाया गया है।

त्रिविक्रम की मूर्त्ति के हाथों की संख्या तथा आयुधों का विचार करते समय एक बात स्पष्ट होती है कि पदमपवायावाली मूर्त्ति तो अष्टभुज है तथा कम-से-कम चक्र, खड्ग एवं धनुष (?) को धारण करती है। इसके विपरीत मथुरावाली मूर्त्तियाँ केवल चतुर्भुज हैं और उनके ऊपरी हाथों में दाहिनी ओर चक्र तथा बाईं ओर शंख दिखलाई पड़ता है। चक्र और शंख की परम्परा बंगाल की मध्य-मूर्त्तियों में भी पाई जाती है। मथुरा की एक मूर्त्ति में (म० सं० सं० आई० १९ चित्र-सं० ६३) ऐसा लगता है कि दाहिना हाथ तर्जनी मुद्रा में है। मध्यकालीन मूर्त्तियों में बहुधा बायाँ हाथ इस मुद्रा में होता है।

मूर्त्तिविज्ञान से सम्बद्ध साहित्य[८६] हमें बतलाता है कि विराट्रूप में त्रिविक्रम के चार या आठ हाथ हों तथा एक पैर भूमि पर स्थिर रहे। दूसरा, दाहिना या बायाँ, आकाश की ओर उठा हो। वैखानसागम त्रिविक्रम के ध्यान का विस्तार से वर्णन करते हुए सूर्य-चन्द्रादि अनेक परिवार-देवताओं को गिनाता है। इनमें ढोल बजाते हुए जाम्ववान्, वामन को दान देते हुए राजा बलि और विन्ध्यावलि, नमुचि आदि अनेक दैत्य, गंगा, आदि की गणना है। इनमें से कई बातें ऊपर गिनाई हुई मूर्त्तियों में विद्यमान हैं।

उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण की परम्परा वैखानसागम से अधिक मेल खाती है। यहाँ अधिकतर मूर्त्तियाँ अष्टभुज हैं जैसे महाबलिपुरम्[८७] और बादामी[८८] की प्रतिमाएँ।

राम :

साहित्य में प्रसिद्ध अयोध्या के राजा राम अवतारमालिका में राम या दाशरथि राम के नाम से प्रसिद्ध हैं। अन्य दो राम अवतार-सूचि में भार्गवराम और बलराम नामों से पहचाने जाते हैं। आदिकाव्य रामायण में वर्णित रामकथा की प्राचीनता में सन्देह नहीं, परन्तु लोक में प्रचलित रामोपासना की प्राचीनता को सन्देह से परे नहीं कहा जा सकता; क्योंकि हमें गुप्तकाल के पहले की राम-प्रतिमा या रामकथा का अंकन करनेवाले दृश्यफलक अबतक नहीं मिले हैं। कुषाणकाल तक की किसी मूर्त्ति की पहचान जटाधारी राम, धनुष्पाणि राम, राजाराम या राम-लक्ष्मण-सीता और हनुमान् से नहीं हो सकी है। गुप्तकाल में भी इनकी स्वतन्त्र मूर्त्तियाँ हमें नहीं मिली हैं, किन्तु रामकथा का अंकन करनेवाले कतिपय दृश्य अवश्य ही मन्दिरों की दीवारों को सजाने के लिए पत्थरों पर उत्कीर्ण होते रहे। इस प्रकार के शिलापट्ट आज राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली भारत-कलाभवन, वाराणसी, इलाहाबाद-संग्रहालय, इलाहाबाद आदि स्थानों में सुरक्षित हैं। इनके अतिरिक्त रामकथा का अंकन करनेवाले मृत्फलक भी मिल चुके हैं। रामकथा के कुछ प्रमुख फलक-दृश्य निम्नांकित हैं :

(१) देवगढ़ के कथादृश्य

झाँसी जिले में बेतवा कछार में खड़े विष्णु-मन्दिर की चौकी तथा स्तम्भ पर रामकथा के निम्नांकित दृश्य बने हैं :

> वाल्मीकि-आश्रम, अहल्योद्धार[८९], वनगमन, अत्रि के आश्रम में राम, शूर्पणखा की दुर्गति, दण्डकवन में राम, सीताहरण, राम और हनुमान्, रामभक्त सुग्रीव, किष्किन्धा में राम, बाली और सुग्रीव का युद्ध, सेतुबन्ध, अशोक-वन में सीता, मृतसंजीवनी आदि।

देवगढ़ के इन विविध दृश्यों में से कई अब नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में हैं।[९०]

(२) **भारत-कलाभवन, वाराणसी का सेतुबन्ध** (सं० सं० G33/135)

सारनाथ से मिले इस शिलापट्ट पर ऊपर की ओर धनुर्धारी राम, लक्ष्मण, विभीषण और सुग्रीव बैठे हैं तथा नीचे की ओर वानरगण पत्थर ढो-ढोकर सेतु का निर्माण कर रहे हैं।

(३) **इलाहाबाद-संग्रहालय का शिलापट्ट** (सं० सं० 261)

सिंगरौर या प्राचीन शृंगवेरपुर से मिले इस गुप्तकालीन शिलाखण्ड पर धनुर्धारी राम और लक्ष्मण फूलों से लदे वृक्ष के नीचे खड़े हैं। पास में दो वानर, कदाचित् हनुमान् और सुग्रीव, भी विद्यमान हैं। सम्भवतः, यह किष्किन्धा का दृश्य है।

(४) **नचना के शिलापट्ट**[९१]

मध्यप्रदेश के नचना नामक स्थान से मिले हुए ठेठ गुप्तशैली के ये शिलापट्ट इस समय राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में हैं। इनपर ये दृश्य हैं—रावण और सीता, आसनस्थ राम-सीता तथा दूसरी ओर लक्ष्मण और शूर्पणखा एवं सुग्रीव को अभयदान।

(५) **राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली का मृत्फलक**[९२]

मध्यप्रदेश के भिण्ड जिले में स्थित बारेहट नामक स्थान से प्राप्त मृत्फलक पर अशोक-वृक्ष के नीचे बैठी दुःखिता सीता अंकित है।

(६) **लखनऊ-संग्रहालय का श्रावस्ती-मृत्फलक**[९३]

यहाँ दो योद्धा मल्ल महायुद्ध कर रहे हैं। इनकी पहचान सुग्रीव और विरूपाक्ष से करने का प्रयास किया गया है।

(७) बिहार के चौसा और अफसाद नामक स्थानों से भी रामकथा का अंकन करनेवाले मृत्फलक मिले हैं।[९४] किन्तु, इनका पूरा अध्ययन अभी प्रकाशित नहीं हुआ है।[९५]

अबतक की गई विस्तृत चर्चा इस बात की तो पुष्टि कर देती है कि गुप्तकाल में रामकथा का पर्याप्त प्रसार था तथा मन्दिर एवं प्रासादों की दीवारों को रामायण के दृश्यों से सजाया जाता था, परन्तु इनमें अंकित राम की प्रतिमाएँ प्रत्यक्ष पूजन के माध्यम न होने के कारण 'अर्चा' नहीं कही जा सकतीं। यह तो एक विचारणीय विषय बना ही है कि अबतक हमें राम की स्वतन्त्र अर्चाएँ क्यों नहीं मिलतीं या उन्हें पहचानने में ही हम कोई भूल कर रहे हैं।

कृष्ण :

पिछले पृष्ठों में कला और साहित्य के आधारों पर यह निश्चित किया जा चुका है कि कुषाणकाल से ही वासुदेव कृष्ण की भक्ति प्रबल वेग के साथ चल पड़ी थी, और उसका एक प्रमुख केन्द्र था व्रजमण्डल। इस काल की कृष्ण-मूर्त्तियाँ वंशीवादक श्रीकृष्ण की नहीं होती थीं, वरन् शंख, चक्र और गदा को धारण करनेवाली चतुर्भुज होती थीं। सामान्य स्थिति यह थी कि मनुष्य-रूप में भले ही श्रीकृष्ण को 'गोपवेषधर' या 'तोत्रवेत्रैकपाणि' माना गया हो, किन्तु उपास्य के रूप में तो वह किरीट पहने, गदा

एवं चक्र को धारण करनेवाले (किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तं, गीता, ११) 'चतुर्भुज' प्रभु ही थे। कुषाणकाल की परम्परा गुप्तकाल में भी चलती रही, जैसा कि हमें कतिपय शिलादृश्यों से पता चलता है। दो उदाहरण प्रस्तुत हैं:

(एक) गढ़वा से प्राप्त भीम-जरासन्ध युद्ध का दृश्य (ल० सं० सं० एच्० ८८, चित्र-सं० ६७) जिसमें धनुर्धर अर्जुन के साथ शंख-चक्र-गदाधारी चतुर्भुज श्रीकृष्ण खड़े हैं।

(दो) देवगढ़ से प्राप्त खण्डित शिलापट्ट, जिसपर धनुष लिये अर्जुन खड़े हैं एवं आयुधों के साथ चतुर्भुज श्रीकृष्ण किसी आसन पर बैठे हैं।[९६]

इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि गुप्तकालीन चतुर्भुज विष्णु-मूर्त्तियों में ही वासुदेव कृष्ण भी छिपे हैं। यदि हम कुषाण-परम्परा की विष्णु-मूर्त्तियों को वासुदेव कृष्ण मानें; क्योंकि यहाँ सभी विष्णु-मूर्त्तियाँ आयुधों की दृष्टि से एक ही प्रकार की होती हैं, तो उसी रूप में, अर्थात् प्रदक्षिणा-क्रम से गदा, चक्र और शंख को धारण करनेवाली गुप्तकालीन मूर्त्तियाँ भी वासुदेव की होंगी। परन्तु, यह कथन अभी सिद्धान्त नहीं बन सकता; क्योंकि उपर्युक्त गढ़वावाली कृष्ण-मूर्त्ति ही इसके लिए अपवाद है।

यह तो निर्विवाद है कि मुरलीधर श्रीकृष्ण का प्रचलन गुप्तकाल में नहीं हुआ था, किन्तु कदाचित् गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण इस समय अन्य रूपों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय थे। कुषाणकालीन गोवर्धनधारी के दर्शन हमें रंगमहल से प्राप्त मृत्फलक पर होते हैं। गुप्तकाल के गोवर्धनधारी निम्नांकित हैं:

(क) मध्य एशिया से प्राप्त मृद्भाण्ड पर बनी मूर्त्ति।[९७]

(ख) भारत-कलाभवन, वाराणसी की विशाल गोवर्धनधारी प्रतिमा।

(ग) मण्डोर, मध्यप्रदेश से मिला गोवर्धन-धारण का शिलादृश्य।[९८]

इनमें क्रमांक 'ख' की प्रतिमा कायपरिमाण तथा स्वतन्त्र है। गुप्तकला में कृष्णकथा के अन्य दृश्य मिल चुके हैं। यथा:

(एक) एरण, मध्यप्रदेश से यमलार्जुनोद्धार, कालियदमन, यशोदा-कृष्ण आदि।[९९]

(दो) देवगढ़, उत्तरप्रदेश से शकटासुरवध, कृष्ण-बलराम के साथ नन्द-यशोदा, कंसवध, कृष्ण-सुदामा आदि।[१००]

(तीन) वाराणसी में यशोदा का दधिमन्थन तथा बालक कृष्ण[१०१] (चित्र-सं० ६६)।

(चार) भीतरगाँव, कानपुर के इष्टिका-मन्दिर पर मृत्फलकों के रूप में कई कृष्णलीला दृश्य हैं, यथा कुवलयापीड़ हाथी का दमन (रे० चि० ७१), कृष्ण का एक दैत्य को घूँसे मारना, कंसवध[१०२] आदि। राज्य-संग्रहालय, लखनऊ में इसी स्थान का केशीवध-फलक भी है (रे० चि० ७६)।

(पाँच) सहेतमहेत (श्रावस्ती) का यशोदा-कृष्ण-फलक (ल०सं०सं० ६७.१२४)।

(छै) चन्दौसी का प्रलम्बवबलराम-फलक।[१०३]

(सात) मथुरा से मिला ढलते गुप्तकाल का कालिय-दमन का दृश्य।[१०४]

इसी प्रसंग में उन चतुर्मुख लघुस्तम्भों (Obliques) का उल्लेख भी आवश्यक है, जिनकी परम्परा गुप्तकाल से प्रारम्भ होकर मध्यकाल तक चली। इनमें नीचे से ऊपर तक छोटे-छोटे आलों में कई प्रकार की प्रतिमाएँ बनी रहती हैं। इनमें से कई का सम्बन्ध कृष्ण-लीला से जोड़ा जाता है।

इन सभी लीलादृश्यों का विचार करने पर एक बात जो अत्यन्त स्पष्ट रूप से सामने आती है, वह यह है कि इनमें कृष्ण की बाल-लीलाओं का अंकन ही अधिक हुआ है। कंसवध के बाद के, कृष्णलीला के उदाहरण अधिक नहीं है। दो का उल्लेख पहले ही हो चुका है। महाभारत, पुराण एवं हरिवंश से हम जानते हैं कि कंसवध तक कृष्ण के चतुर्भुज रूप का वर्णन केवल दो प्रसंगों में ही हुआ है—एक जो जन्म के समय तथा दूसरे अक्रूर के साथ मथुरा जाते समय। एतावता बाललीला-दृश्यों में कृष्ण का द्विभुज रूप में अंकन स्वाभाविक है।

हयग्रीव :

विष्णु की कुछ अवतार-तालिकाओं में 'हयग्रीव' की भी गणना की गई है। महाभारत[१०५] के अनुसार 'एकार्णव' अवस्था में मधु और कैटभ नामक दो दैत्यों ने ब्रह्मा के देखते-देखते उनके चारों वेदों को हरण कर लिया। तब ब्रह्मा द्वारा विष्णु की स्तुति की जाने पर विष्णु ने घोड़े के मुखवाला रूप—हयशिरस् या हयग्रीव—धारण करके सुन्दर स्वर से सामगान करना प्रारम्भ किया। उस स्वर से आकृष्ट होकर दोनों असुरों ने वेदों को छोड़ दिया और ध्वनि की दिशा में दौड़ पड़े। तत्काल हयग्रीव ने उन वेदों को ले लिया और ब्रह्मा को सौंप दिया। इस प्रकार हयग्रीवावतार का कार्य पूरा हुआ। महाभारत से यह भी पता चलता है कि पांचाल देश के गालव मुनि ने हयग्रीव की आराधना करके वेदों का क्रम-विभाग किया था।[१०६]

वैसे हयग्रीव की मूर्त्तियाँ बहुत अधिक नहीं मिलती हैं। मथुरा के संग्रहालय में त्रिविक्रम का अंकन करनेवाले शिलाखण्ड के बगल में ही गुप्तकालीन हयग्रीव की खण्डित प्रतिमा है (म० सं० सं० ३६.२६६४, चित्र-सं० ७३)। यहाँ चतुर्भुज हयग्रीव के आयुधों में चक्र और शंख स्पष्ट हैं।

डॉ० अग्रवाल ने अपने केटलॉग में ३६.२६६४ संख्यक त्रिविक्रम का उल्लेख तो किया है, पर हयग्रीव स्पष्टतः भूल से छूट गया है।[१०७]

अग्निपुराण में हयग्रीव-प्रतिमा का वर्णन करते हुए उसे शंख, चक्र, गदा तथा वेदों को धारण करनेवाला 'अश्वशिर' हरि कहा गया है।

मधुकैटभारि :

हयग्रीव अवतार वाले मधु-कैटभ नामक दोनों दैत्यों को भी विष्णु ने ही आगे चलकर मारा। भीतरगाँव, कानपुर के एक मृत्फलक पर उन दोनों को अपनी जंघा पर हाथों से दबोच कर मारते हुए मधुसूदन या विष्णु की प्रतिमा है[१०८] (चित्र-सं० ७४)। महाभारत के सभा, वन और शान्ति पर्वों में इस कथा के वर्णन मिलते हैं।[१०९] इनके अनुसार विष्णु ने मिट्टी से इन दोनों दानवों का निर्माण किया था और अनेक वर दिये थे।

बाद में उन्होंने ही खुले आकाश के नीचे अपनी अनावृत जंघा पर दोनों के सिरों को रखकर चक्र से काट डाला था । मधु-कैटभ वध के दृश्य कला-कृतियों में बहुत कम मिलते हैं ।

शेषशायी :

शेषनाग पर शयन करनेवाले विष्णु 'अनन्तशायिन्', शेषशायिन्', 'जलशायिन्' आदि नामों से पहचाने जाते हैं। गुप्तकाल की इस प्रकार की मूर्त्ति का सबसे सुन्दर उदाहरण देवगढ़ में मिलता है।[११०] यह सर्वांगपूर्ण प्रतिमा है । कार्त्तिकेय, इन्द्र, शिव आदि द्वारा संस्तुत चतुर्भुज विष्णु शेषपर्यंक पर बाईं ओर तकिया लगाये लेटे हैं और लक्ष्मी चरण-सेवा कर रही है । विष्णु की नाभि से निर्गत (इसे यहाँ नहीं दिखलाया गया है) कमल पर ब्रह्मा विराजमान हैं । नीचे की ओर गदाधारी मधु और कैटभ पर खड्गपुरुष आक्रमण कर रहा है तथा शेष आयुध मानव-रूप में खड़े दिखलाये गये हैं। मधुकैटभ की कथा का अभी हम उल्लेख कर चुके हैं । इन्होंने जलशायी विष्णु को जगाया था और युद्ध के लिए ललकारा था। अतः, शेषशायी की प्रतिमा में इन दोनों दैत्यों को अवश्य ही दिखलाया जाता है ।

गुप्तकालीन शेषशायी प्रतिमा की दो विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं :

(क) सोये हुए विष्णु के हाथों में कोई आयुध नहीं रहते । मध्यकालीन प्रतिमाओं में वे उस स्थिति में भी आयुध लिये रहते हैं।[१११]

(ख) शेषनाग का आभोग तिरछे चलनेवाले छोटे-छोटे खड़े अर्धवलयों के रूप में बनता है, सुदूर दक्षिण की भाँति आड़े और लम्बे रूप में नहीं।[११२]

अनन्त :

कुषाण-काल में बलराम की उपासना का जोर था । गुप्तकाल में पहले की अपेक्षा बलराम की स्वतन्त्र मूर्त्तियाँ कम मिलती हैं। किन्तु, इस काल में एक नवीन रूप सामने आता है। देखने को तो यह चतुर्भुज विष्णु की है, पर यहाँ देवता के मस्तक पर सर्पफण तथा पीछे की ओर सर्प का आभोग स्पष्ट बना रहता है। इसे हम 'संकर्षण' का दूसरा रूप 'अनन्त' या 'शेष' कह सकते हैं । अनन्त की निम्नांकित मूर्त्तियाँ हमें ज्ञात हैं।

(१) कुटारी, इलाहाबाद से प्राप्त चौमुखी मूर्त्ति में एक ओर की प्रतिमा (इ० सं० सं० २९२) ।

(२) देवगढ़ झाँसी से मिली खण्डित मूर्त्ति।[११३]

(३) देवगढ़ के दशावतार-मन्दिर के मुख्य द्वार-तोरण पर बनी आसनस्थ मूर्त्ति।[११४]

(४) भीतरगाँव के एक मृत्फलक पर बनी द्विभुज प्रतिमा।[११५]

हरि :

प्रसिद्ध कथा है कि जब गजेन्द्र नामक हाथी का पैर नक्र ने पकड़ लिया, तब गजेन्द्र ने विष्णु को पुकारा। गरुड पर बैठकर तत्काल विष्णु वहाँ आये और अपने चक्र से नक्र का वध करके उन्होंने हाथी को बचा लिया। वैष्णव साहित्य में वह कथा 'गजेन्द्रमोक्ष'

के नाम से प्रसिद्ध है। इसका सर्वोत्तम अंकन देवगढ़ में है, जहाँ नक्र, जिसे सर्प के रूप में दिखलाया है, से ग्रस्त गजेन्द्र तथा उसका उद्धार करने के लिए आये हुए गरुडारूढ़ विष्णु बड़े ही सुन्दर ढंग से बनाये गये हैं।[११६] विष्णु का यह अवतार 'हरि' के नाम से प्रसिद्ध है।

गरुडारूढ विष्णु :

गरुड के कन्धों पर बैठे विष्णु की मूर्त्ति बनाने का प्रारम्भ ढलते कुषाण-काल से हो चुका था,[११७] गुप्तकाल में आकर उसका स्वरूप स्थिर होता गया। अब गरुड का कुषाण-कालवाला पक्षीरूप, सपक्ष मानव या मानव-मुख पक्षी के रूप में बदलने लगा। विष्णुवाहक गरुड अधिकतर सपक्ष मानव के रूप में दिखलाई पड़ता है।[११८] इसके उदाहरण देवगढ़ और भीतरगाँव में हैं। इसके विपरीत मुद्राओं पर अंकित गरुडध्वज के ऊपर अथवा भीतरी से मिली हुई कुमारगुप्त की चाँदी की सील पर या ऐसे अन्यत्र स्थानों पर मानवमुखी पंख फैलाये (विततपक्ष) पक्षी दिखलाई पड़ता है, किन्तु उसके कन्धों पर विष्णु नहीं होते।

सिंह-वराह-विष्णु :

गुप्तकालीन मथुरा-कला में विष्णु का यह रूप अधिक लोकप्रिय था। इसमे विशेषता यह होती थी कि साधारण विष्णु के ही दो अतिरिक्त मुख बनाये जाते थे। एक वराह का तथा दूसरा सिंह का। इन मुखों के स्थान निर्धारित नहीं हैं। कभी तो सिंह-मुख दाहिनी ओर और वराह-मुख बाईं ओर होता है (म० सं० सं० ३४.२५२५, चित्र-सं० ७७; ३४.२४८०; ५४.३८३६); और कभी इन मुखों की स्थिति इसके विपरीत होती है (म०सं०सं०डी० २८; १५.७७१; ३४.२४१६, चित्र-सं० ७८, मृत्फलक)।

इन मुखों के महत्त्व को समझने के लिए प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों पर विचार करना होगा।[११९] विष्णुधर्मोत्तर, आदि में चतुर्मुख तथा आठ भुजाओंवाले विष्णु के वर्णन मिलते हैं। कभी-कभी इन मूर्त्तियों को 'वैकुण्ठ' भी कहा जाता है। यहाँ विष्णु के चार मुख क्रमशः मानुष, कपिल या स्त्री, वराह और सिंह के होते हैं, जो ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य तथा बल के द्योतक माने गये हैं। इन्हें ही वासुदेव, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न तथा संकर्षण के रूप में समझा गया है। इनके स्थान भी नियत किये गये हैं। यथा :

सम्मुख, या पूर्व दिशा—पुरुषमुख—वासुदेव—बल।
दाहिना, या दक्षिण दिशा—सिंहमुख—संकर्षण—ज्ञान।
बायाँ, या उत्तर दिशा—वराहमुख—प्रद्युम्न—ऐश्वर्य।
पीछे, या पश्चिम दिशा—कपिल या रौद्रमुख—अनिरुद्ध—शक्ति।

इससे ऐसा लगता है कि वराह और सिंह के मुख कदाचित् अवतारों के द्योतक नहीं, वरन पांचरात्रों के व्यूहों के प्रतिनिधि हैं।

गुप्तकाल की इस प्रकार की मूर्त्तियों में चतुर्थ मुख—अनिरुद्ध का द्योतक मूर्त्ति के पीछे की ओर नहीं दिखलाई पड़ता। हाथों की संख्या भी चार ही है आठ नहीं। किन्तु, चौथे मुँहवाली परम्परा कश्मीर में अधिक पूर्ण रूप से अपनाई गई है। वहाँ पीछेवाला रौद्र मुख भी दिखलाई पड़ता है।[१२०]

विश्वरूप :

सिंह-वराह-विष्णु का अधिक विकसित रूप 'विश्वरूप' है । गुप्तकालीन विश्वरूप के दो नमूने हमें ज्ञात हैं । एक तो पुरातत्त्व-संग्रहालय, मथुरा में है और दूसरा लखनऊ के राज्य-संग्रहालय में । मथुरावाली प्रतिमा (म०सं०सं० ४२-४३.२९८९, चित्र-सं० ७९) खण्डित है, किन्तु वराह और सिंह के मुखों के अतिरिक्त प्रभामण्डल के बीच बनी देवगणों की पंक्तियाँ तथा उसे बाहर की ओर से बाँधनेवाली रुद्र-मुख-पंक्ति पूर्ण स्पष्ट है । नीचे का भाग खण्डित होने के कारण हाथों की संख्या, आयुध आदि के विषय में कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता । महाभारत के अन्तर्गत भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में विश्वरूप का विस्तृत वर्णन है, जिसमें रुद्र, आदित्य, वसु आदि के वहाँ उपस्थित रहने की बात कही गई है, किन्तु विष्णु के वराह-सिंह मुख का उल्लेख नहीं है ।

विश्वरूप का दूसरा अंकन गढ़वा से मिले हुए एक तोरण पर है । यह कुछ घिसा-पिटा होते हुए भी कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है (ल०सं०सं० बी. २२३ b,c चित्र-सं० ८०)। इसकी निम्नांकित विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं :

(एक) प्रभामण्डल में रुद्रमुखावलि है, मस्तक के ऊपर मध्य में बनी प्रतिमा कदाचित् सूर्य की है, तथा बाहर की ओर लम्बी-लम्बी ज्वालाएँ हैं ।

(दो) सिंह मुख दाहिनी ओर तथा वराह बाईं ओर है ।

(तीन) मूर्त्ति छह हाथों की है । नीचे की ओर आयुधपुरुष बने हैं ।

(चार) गले में आपाद-लम्बिनी वनमाला है।

(पाँच) प्रतिमा एक मन्दिर के भीतर प्रतिष्ठापित है, जिसका पूजन करने के लिए कदाचित् राजा अपने दल के साथ आ रहे हैं ।

विश्वरूप का यह अंकन उसकी लोकप्रियता का अच्छा उदाहरण है । गुप्तोत्तर काल में विश्वरूप विष्णु की अनेक बहुभुजी प्रतिमाएँ बनती रहीं ।

अष्टभुज विष्णु :

हरिवंश के अनुसार अष्टभुज विष्णु को भी एक अवतार माना गया है,[१२१] किन्तु बाद की तालिकाओं में उसकी गिनती नहीं है। भीतरगाँव के एक मृत्फलक पर आठ हाथ-वाले विष्णु दो परिवार-देवताओं के बीच—कदाचित् आयुधपुरुषों के बीच—खड़े दिखलाई पड़ते हैं ।[१२२] मूर्त्ति बहुत खण्डित है, किन्तु आयुधों में गदा स्पष्ट है ।

नर-नारायण :

गुप्तकालीन कला में नर-नारायण की मूर्त्तियाँ दुर्लभ हैं, किन्तु इसका सर्वांगपूर्ण अंकन देवगढ़ में विद्यमान है।[१२३] आकाशचारी देवगणों से स्तुति किये जाने वाले चतुर्भुज नारायण और द्विभुज नर अरण्य में बैठे हुए हैं । तपस्या में लगे होने के कारण नारायण के पास उनके साधारण आयुध नहीं हैं, अपितु मुनिजनोचित पोथी, अक्षमाला और कमण्डलु हैं। नर के पास भी कोई आयुध नहीं है। राग, द्वेष, हिंसा, परवशता आदि पर विजय पानेवाले नर-नारायण का प्रभाव दिखलाने के लिए उनके पैरों के पास सिंह और

हिरनों को पूर्ण सद्भाव से बैठा हुआ दिखलाया गया है । दोनों का तपस्वी-वेष भी देखने योग्य है ।

नर और नारायण तथा उनकी तपस्या का विशद विवरण महाभारत में आता है । नर को एक ऋषि, भगवत्स्वरूप देवता और नारायण के ही अवतार के रूप में पहचाना गया है । इसे नारायण का सखा तथा अर्जुन का मूल रूप भी मानते हैं ।[१२४] शान्तिपर्व में आये उल्लेख के अनुसार स्वायम्भुव मन्वन्तर के सत्ययुग में हुए वासुदेव के अवतारों में ही नर की गणना है ।[१२५] नर और नारायण बदरिकाश्रम में तपस्या करते हैं ।[१२६] महाभारत तथा अन्य पुराणों के प्रथम श्लोक[१२७] को देखकर यह स्पष्ट होता है कि कभी नर और नारायण का बड़ा सम्मान था तथा उन्हें साहित्यिक परम्परा में वही स्थान प्राप्त था, जो बाद में गणेश या गणपति को मिला ।

भीतरगाँव के मन्दिर के एक मृत्फलक पर भी सम्भवतः नर-नारायण का अंकन किया गया था, किन्तु अब यह पहचान सन्देहातीत नहीं है ।

हरिहर :

शिव के प्रसंग में इस प्रकार की प्रतिमाओं का हम विवेचन कर चुके हैं, जो वहीं द्रष्टव्य है ।

सन्दर्भ-संकेत :

१-२. अग्रवाल, वा०श०, प्राचीन भारतीय लोकधर्म, पृ० १००-१०१ ।

३. **DHI.** p. 91.

४. Sircar D. C., **Select Inscriptions,** Calcutta, 1942, pp. 90-91.

५. Luders, **Mathura Inscriptions,** Ed. K. L. Janert, Gottingon, 1961, p. 154.

६. वही, p. 155 ।

७. **DHI.** p. 189-91.

८. **DHI.** p. 92.

९. विवेचन का मुख्य आधार, **DHI.** pp. 128–32.

१०. वही, Pl. XI, Fig 2.

११. अन्य मूर्त्तियों की विवरणात्मक तालिका के लिए देखिए जोशी नी० पु०, **कुषाणकालीन विष्णु-प्रतिमाएँ**, लखनऊ, १९६९, पृ० २७–३१ ।

१२. Sastri T. V. G., A Stone Railing from Kunidane Guntur district, **Journal of the Indian Society of Oriental Art.** New Series, Vol. II, Pl. V, Fig. 2.

१३. Joshi N. P., Use of Auspicious Symbols in the Kushana Art at Mathura, **Mirashi Felicitation Volume**, Nagpur, 1965, pp. 311-17.

१४. **DHI.** 1956, Pl. XI, fig 2.

१५. **ब्रह्मपुराण** (मोर-प्रति), ६८.४८, पृ० ४६३ ।

१६. **अग्निपुराण** (मोर-प्रति) २७०.६, पृ० ५४६।
१७. तक्षशिला से मिली विष्णुमूर्त्ति के हाथ में कमल है, पर वह बाद की है--**East and West,** Rome, New Series, Vol. 17, Nos. 3-4, p. 258-9 के बीच, fig. 13.
१८. म०सं०सं० १५.५६६ १५.६३३ १५.६१६ १५.६४८ १५.६५६ २८.१७२६ ३४.२५२० ३४.२४८७, ४२-४३.३०२४, ४६.३५०२, ५६.४२२५, ००.यू०.५, ००.यू० ६७।
१९. **हरिवंश**, विष्णु०, ११.८, गीता प्रेस-प्रति, पृ० २४३।
२०. Apte V. 3., **Sanskrit English Dictionary,**
देखिए वनमाला--आजानुलम्बिनी माला
सर्वर्त्तुकुसुमोज्ज्वला।
मध्ये स्थूलकदम्बाढ्या
वनमालेति कीर्त्तिता॥
२१. **Archaeological Survey of India Reports,** Vol. VI, p. 20.
२२. **DHI.,** 1950, p. 401
२३. Agrawal R. C., Unpublished Terracottas and Sculptures from Rajasthan, **Journal of Indian History,** XLII, Pt. 2, p. 537, fig. 1.
२४. **अग्निपुराण** (मोर-प्रति) ४६.१०-११, पृ० ६३
२५. **ब्रह्मपुराण** (मोर-प्रति), ५०.५-७, पृ० ३६१
२६. **हरिवंश** (गीता प्रेस), हरिवंश०, ४२.२३, पृ० १५६; विष्णु०, ४०.३६, पृ० ३६४; ४८.२३, पृ० ३६५
२७. **विष्णुधर्मोत्तरपुराण,** ३.४७.३-१७; ३.४४.६-१३
२८. **बृहत्संहिता** ५७.३१-३३
२९. **M. S.,** Pl. 63.
३०. जोशी नी० पु०. **मथुरा की मूर्त्तिकला,** मथुरा०, १९६५, परिशिष्ट २।
३१. Sastri T. G. V., A Stone Relief from Kunidane, **JISOA.,** New Series, Vol. II, Pt. V 2.
३२. मैकडोनेल ए०ए०, **वैदिक माइथॉलॉजी, वैदिक पुराकथाशास्त्र,** अनु० रामकुमार राय, वाराणसी, १९६१, पृ० ७३-५।
३३. **हरिवंश** (गीता प्रेस), हरिवंश०, २४.२२-२३, पृ० १४०, विष्णु०, ४८.२३, पृ० ३६५।
३४. जोशी नी० पु०, **मथुरा की मूर्त्तिकला,** फलक ५८, ६४; म० सं० सं० १७.१३४४; Terracottas in Bikaner Museum, **Lalitkala,** No. 8, Oct. 1960, Pl. XXI, figs. 1-2.
३५. मीतल प्रभुदयाल, **व्रज का सांस्कृतिक इतिहास,** मथुरा, १९६६, पृ० १५५
३६. अग्रवाल वा०श०, **भारतीय कला,** वाराणसी, १९६६, पृ० ३०७-९।
३७. बलराम के मूर्त्तिविज्ञान के विस्तृत विचार के लिए द्रष्टव्य होगा लेखक का शीघ्र प्रकाशनीय ग्रन्थ Iconography of Balarama.

३८ **अग्निपुराण** (मोर-प्रति) ४६.१-६, पृ० ६३; **भागवत,** १.३.६-२३; **वृद्धहारीतस्मृति,** ७.१४२-३।

३९. ल० सं० सं० जी० २१५; भारत-कलाभवन, वाराणसी की प्रतिमा; **Arch S,I.A.R.,** 1918-19, Pl. XIII.

४०. जोशी नी० पु०, **मथुरा की मूर्तिकला,** फलक ६६, म०सं०सं० ३४.२४८८।

४१. **विष्णुपुराण** (गीता प्रेस), ५.२५.१५, पृ० ४५२;
हरिवंश, विष्णु०, २६.४३-५०; ४१.३२, पृ० ३६७।

४२. **विष्णुस्मृति,** १.६१—स्मृति-सन्दर्भ (मोर-प्रति), भाग १, पृ० ४०६।

४३. Luders, **Mathura Inscriptions,** Ed. K. L. Janert, Gottingon, 1961, p. 154.

४४. **DHI.** Pp. 93-94.

४५. **बृहत्संहिता,** ५७.३५।

४६. **EHI.** Pt. 2, App. p. 64.

४७. **विष्णुधर्मोत्तरपुराण,** III, ४७.१०-१७, पृ० १६४-५।

४८. **बृहत्संहिता,** ५७.४०।

४९. **हरिवंश** (गीताप्रेस), विष्णु० ११०.२, पृ० ६३१।

५०. **A.I.,** Pt. 2 fig. 341.

५१. **A.I.,** Pt. 2 fig. 341, ल० सं० सं० एच्० १११, एच् ११०

५२. अग्रवाल वा०श०, **हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन,** पृ० ७८, नेत्र-सूत्र का अर्थ मथानी की डोरा भी होता है, जो मथानी के बीचोबीच बाँधी जाती है।

५३. Thakore S. R., **Catalogue of sculptures in the Archl. Museum, Gwallior,** M. B. p. 3, no. 2; p. 4, no. 10.

५४. हरिवंश में एक स्थान पर श्रीवत्स को 'रोमजाल' कहा गया है।—भविष्य० ७०.३३, पृ० ६३३।

५५. Sivaramamurti, Geographical and Chronological factors etc., **Ancient India,** Vol. 6, January 1950, Pl. XVIII. D.

५६. पीछे देखिए पृ० २४।

५७. देखिए ऊपर ५५, पृ० ४६।

५८. **रघुवंश,** १०.६२ बिभ्रत्या कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बिनम्।
पर्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया ॥६२॥

५९. **Ancient India,** No. 6, Pl. XVIII, facing p. 50.

६०. वही, पृ० ४८।

६०a. 'शवितचित्रफलोदग्रं शङ्खचक्रगदाधरम्।'—**पद्मपुराण,** स्टाष्टि० ४२.१३६, पृ० ३६१; **मत्स्यपुराण,** १७१.२५, पृ० ५०१ (दोनों मोर-प्रति)।

६१. **हरिवंश** (गीता प्रेस), विष्णु० ४३.७-१०, पृ० ३७५।

६२. **महाभारत,** अनुशासन०, १४.२५५–२७४, पृ० ५४९६-७, वन०, २३१.३८, पृ० १६११।

६३. **रघुवंश,** १०.१२।

६४. **रघुवंश,** १०.६०।

६५. **Ancient India**, no. 6, Pl. XVIII, A, facing p. 50.

६६. वही Pl. XI A.

६७. Shah U. K., **Studies in Jain Art.**, Banaras, 1955, Pl. VII, fig. 18.

६८. यही पुराण इतरत्र वराह का नामोल्लेख करता है।

६९. उदाहरण के लिए :

(१) गुप्तकालीन लेख से अंकित एरण की वराह-प्रतिमा, Bajpai K. D., **Sagar Through the Ages**, Pl. IV.

(२) उदयगिरि, विदिशा की विशाल वराहमूर्त्ति, **A. I.**, Vol. 2, fig. 89.

(३) श्रीकृष्ण-जन्मस्थान, मथुरा की वराहमूर्त्ति (चित्र सं० ६०)।

(४) कुटारी की चौमुखी मूर्त्ति पर वराह (इ०सं०सं० २९२)

(५) देवगढ़ के वराह--Agrawala P. K., **Gupta Temple Architecture,** Varanasi 1968, Pl. XXIV, C.

(६) नृवराह की एक बहुत विशाल मूर्त्ति व्रजमण्डल में भी थी, जिसका केवल एक अंश--उठी हुई बायीं केहुनी और उस पर बैठी पृथ्वी का निचला भाग अब पुरातत्त्व-संग्रहालय, मथुरा (म०सं०सं०डी० १३) में है।

(७) एरण की यज्ञवराह की मूर्त्ति।

७०. **Ancient India** No. 6, January 1950. शिवराममूर्त्ति का लेख, Pl. **XIV C**; वाजपेयी कृष्णदत्त, मध्यप्रदेश का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अनुशीलन, **Bulletin of Ancient Indian History and Archaeology,** Saugor, 1967, No. **1**, p. **83**;

७१. **पद्मपुराण** (मोर-प्रति), उत्तरार्ध, २३७.२०, पृ० ८१८।

७२. **विष्णुपुराण** (गीता प्रेस), १.४.२९-३५, पृ० २५।

७३. **मत्स्यपुराण** (मोर-प्रति), २४७.६७-७१, पृ० ६९२।

७४. Bajpai K. D., **Sagar Through the Ages**, Pl. V.

७५. **HIIA.** fig. 170.

७६. **DHI.** Pl. XXIII, fig. 3.

७७. Agrawala V. S., Terracotta Figurines of Ahichchhatra, **Ancient India**, No. 4, 1948, Pl. Pl. XLII, A.

७८. Vats M. S. The Gupta Temple at Deogarh, **Archl. Suv. Ind, Memoirs,** no. 70, p. 21, Pl. V. 6.

७९. **HDS.** Vol. 2, Pt. 2, p. 719.

८०. **पूर्वमेघ**, ६१

८१. Agrawala V. S. Catalogue of the Images etc.; **JUPHS.,** XXII, 1949, p. 113-114.

--एकोऽर्ध्ववदनः कार्यो देवो विस्फारितेक्षणः।

८२. वही, गोपीनाथ राव का उद्धरण, **HI.** Vol. 1, Pt. I, p. 168.
८३. **DHI.** p. 419.
८४. **महाभारत,** सभा० ३८ (दाक्षिणात्य पाठ), पृ० ७९०।
८५. **कूर्मपुराण,** (मोर-प्रति), पूर्वार्ध, १७.५५, पृ० ८६।
८६. **DHI.** pp. 418-9.
८७. **Ancient India,** No. 6, January 1950. शिवराममूर्त्ति का लेख, Pl. XIII A.
८८. **DHI.** Pl. XXIII, 4.
८९. **HIIA.** Fig. 167.
९०. मिश्र भास्करनाथ, देवगढ़ और एलोरा के रामायण-सम्बन्धी दृश्य, **राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त-अभिनन्दन-ग्रन्थ,** कलकत्ता, १९५९, पृ० ८०६—८१३।
९१. Agrawala R. C., Unpublisehd Sculptures and Terracottas in the National Museum. New Delhi and some allied Problems, **East and West,** New Series, Vol. 17, Nos. 3-4, 1967. Figs. 14, 15, 16.
९२. Agrawala R. C., Ramayana Plaques in the National Museum, New Delhi and connected Problems, **Journal of the Oriental Institute,** Vol. XVIII, Nos. 1-2, 1968, Fig. 1.
९३. वही, p. 29. f. n. 3, **ASIAR.** 1907-8, Pl. XXVII–B.
९४. वही, p. 29. f. n. 2, 4.
९५. इसी प्रकार से भीतरगाँव के इष्टिका-मन्दिर के एक मृत्फलक पर रावण को भिक्षादान करती हुई सीता को पहचानने के प्रयत्न किये गये हैं, पर वह सन्देह से परे नहीं है।
९६. Hartel Herbert, **Indische Skulpturen I,** Berlin, 1960, Pls. 33-35.
९७. Agrawala R. C., Krishna-lila Plaques from Central India, **JISOA.** New Series, Vol. II, 1967-68, p. 69, fig. 1.
९८. **HIIA.** Fig. 166.
९९. वाजपेयी कृष्णदत्त : मध्यप्रदेश का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अनुशीलन, Bulletin of Ancient Indian History and Archaeology, No. 1. 1967, p. 84.
१००. Vats M. S., **The Gupta Temple at Deogarh,** Memoirs, **ASI.** No. 70, 1951, pp. 18-20.
१०१. भारत-कलाभवन, वाराणसी, सं० सं० १८०।
१०२. Singh R. C., Bhitargaon Brick Temple, **Bulletin of Museums and Archaeology.** U. P. No. 2, 1968, p. 35.
१०३. Agrawala R. C., ऊपर संख्या ९१, fig. 11.
१०४. **M.S.** Pl, 89, म० सं० सं० ४४.३३७४।
१०५. **महाभारत,** शान्ति०, ३४७.१०–६३, पृ० ५३९१-२।
१०६. वही, ३४७.७७, पृ० ५३९३।

१०७. **अग्निपुराण** (मोर-प्रति), ४६.२६, पृ० ६४।

१०८. ऊपर की संख्या १०२, fig. १४।

१०९. **महाभारत**, सभा० ३९.२९ के वाद दाक्षिणात्य (गीता प्रेस), पाठ ७८३-८४; वन०, २०३.३०-३२, पृ० १५३८-३९, शान्ति० २०७.१४-१६, पृ० ४९४८; ३४७.२५-२६, पृ० ५३८९; **हरिवंश** (पूना-प्रति), ४२.१४, पृ० २९१ 'मृण्मयौ महासुरौ'।

११०. शिवराममूर्त्ति का लेख **Ancient India,** No. 6, January 1950, Pl. XI A.

१११. मिला० **अपराजितपृच्छा**, सू० २१९.३-८, पृ० ५५९।

११२. ऊपर की संख्या ११०, पृ० ४०।

११३. ऊपर की संख्या १००, पृ० २० Pl. VI.

११४. ऊपर की संख्या १०२, fig. १८।

११५. **DHI**. p. 404.

११६. ऊपर की संख्या ११०, Pl. XII C.

११७. M.S. Pl. 63.

११८. उदाहरणार्थ ऊपर की संख्या ११६; ऊपर की संख्या १०२, fig. 2.

११९. **DHI.** p. 409.

१२०. **DHI**. p. 408-9. किन्तु ये मूर्त्तियाँ गुप्तोत्तर काल की हैं।

१२१. **हरिवंश** (गीताप्रेस), हरिवंशपर्व, २४.२२-२३, पृ० १४०; विष्णुपर्व ४७.२३, पृ० ३९५।

१२२. ऊपर की संख्या १०२, fig. 6.

१२३. ऊपर की संख्या १००, Pl. XI (a).

१२४. **महाभारत** (गीताप्रेस), वन०, २७२.२९, पृ० १७१०।

१२५. वही, शान्ति० ३३४.९-१०, पृ० ५३३०।

१२६. वही।

१२७. नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

शक्ति-प्रतिमाएँ

संसार की प्राचीनतम उपासनाओं में शक्ति-उपासना का सर्वोत्तम स्थान है। इसका मुख्य कारण मानव-जीवन में स्त्री का महत्त्व रहा होगा। वह माता के रूप में मानव के उत्पादन और संवर्धन के लिए सदा से आवश्यक रही है। विभिन्न उत्खननों के फलस्वरूप शक्ति की प्रारम्भिक प्रतिमाएँ, जो आदिमाता, महीमाता, मातृदेवी आदि अनेक नामों से विद्वानों द्वारा आज पहचानी जाती हैं, बलूचिस्तान, ईरान, मेसोपोटामिया, लघुएशिया, बाल्कन देश, सीरिया, पॅलस्टाइन, क्रीट तथा मिस्र से मिली हैं। Chalcolithic काल में शक्ति की उपासना सिन्धु-घाटी से लेकर नील की घाटी तथा उसके आगे तक फैली हुई थी। भारत में मातृदेवी की मूर्त्तियाँ ई० पू० ४००० वर्ष से ई० पू० तीसरी शती तक एक विशेष प्रकार की मिलती हैं। उसके बाद उनमें कई नवीन बातों का समावेश होने लगा और अनेक परिवर्त्तन आये। मूर्त्तियों का आकार भी सुडौल एवं मनोरम होने लगा। प्रारम्भिक काल की इन मिट्टी की बनी हुई मातृदेवियों की निम्नांकित विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं :

(अ) पूर्ण नग्नावस्था।

*(आ) जननेन्द्रिय का विशेष प्रदर्शन।

(इ) योनि-भाग के ऊपर मेखला का अंकन।

(ई) समुन्नत कुचों का अंकन।

*(उ) चरणों के नीचे पूर्ण विकसित कमल।

(ए) इन मूर्त्तियों में हाथों की स्थिति विशेष उल्लेखनीय है। दोनों हाथ या तो ऊपर उठे हैं या अन्दर की ओर घूमकर दोनों स्तनों का ग्रहण करते हुए दिखलाये गये हैं (रे०चि० ८७)। कभी ये हाथ धरती के समानान्तर फैले होते हैं या कभी उसकी ओर झुके हुए लटकते रहते हैं। दोनों ही स्थितियों में हथेलियों की उँगलियों के कोई चिह्न नहीं बने हैं।

(ऐ) कुछ मातृदेवियों की गोद में शिशु भी है।

इन मूर्त्तियों को देखने पर कह सकते हैं कि प्राचीन संसार में शक्ति की उपासना तीन रूपों में होती थी :

(एक) सम्पूर्ण मानव-रूप में खड़ी नग्न आकृति।

(दो) वैसी ही, किन्तु पक्षी या पशु के मुखवाली आकृति।

(तीन) नग्न, किन्तु शिशु के साथ माता।

---

* मथुरा से मिली हुई प्राचीन मूर्त्तियों में ये बातें नहीं मिलतीं। विशेषताओं के लिए देखिए Goswani A, **Indian Terracottes**, pp. 4, 7.

भारत में—विशेषतया मथुरा की कलाकृतियों में—इस प्रकार की बहुत-सी मूर्त्तियाँ मिली हैं। यहाँ की मानवमुखवाली मूर्त्तियों की समानता टूरेंगटेप[१] (कॉस्पियन समुद्र के दक्षिण पूर्वी कोने से ४८ मील पूर्व तथा अस्तराबाद से १२ मील उत्तर-पूर्व) की ताम्रयुगीन प्रतिमा से की जा सकती है। उसी प्रकार पक्षीमुखवाली आकृति की तुलना 'सूसा' से मिली मूर्त्ति से हो सकती है।[२]

प्रारम्भिक काल की शक्ति-उपासना के प्रतीक अधिकतर मृण्मूर्त्तियों के रूप में ही मिलते हैं। अबतक इस प्रकार की पत्थर की कोई मूर्त्ति नहीं मिली है, परन्तु इन मातृ-देवियों का कतिपय अन्य वस्तुओं से सम्बन्ध को दिग्दर्शन करनेवाली पत्थर की कई पुरानी चकियाँ (Ring stones) मथुरा कौशाम्बी, राजघाट (वाराणसी), बसाढ़, पटना, तक्षशिला आदि अनेक स्थानों से मिल चुकी हैं।[३] प्राचीन काल के उत्खनन से प्राप्त कुछ सोने की मूर्त्तियाँ भी हमें ज्ञात हैं, जिन्हें मातृदेवी के रूप में पहचाना गया है।[४] मातृदेवियों से सम्बद्ध पत्थर की उपर्युक्त चकियों का विस्तृत अध्ययन डॉ० **वासुदेवशरण अग्रवाल** ने अपने ग्रन्थ में किया है, जो वहीं द्रष्टव्य है। यहाँ हम उसका संक्षिप्त निष्कर्ष देकर आगे बढ़ेंगे।

कालक्रम में ये चकियाँ शैशुनाग-नन्द-युग की, अर्थात् मौर्यकाल से पहले की मानी गई हैं। इनपर अंकित देवी को 'श्रीदेवी' कहना चाहिए, जिसका गान ऋग्वेद के पाँचवें मण्डल के अन्त में श्रीसूक्त द्वारा किया गया है। उक्त सूक्त में वर्णित अनेक अभिप्राय यथा कमल, सूर्य-चन्द्र, चिंघाड़ते हुए हाथी, समुद्र का प्रातिनिध्य करनेवाले मगर, अनेक प्रकार के पशु आदि इन चकियों पर विद्यमान हैं। इनसे यह भी पता चलता है कि तालवृक्ष, नन्दीपद-चिह्न आदि का इस उपासना से विशेष सम्बन्ध था। तालवृक्ष पश्चिमी एशिया की मातृपूजा में मांगलिक समझा जाता था तथा प्राचीन ईरान में भी इसका सम्बन्ध मातृदेवी से था। डॉ० अग्रवाल द्वारा दिये गये वर्णनों के अनुसार इन सभी चकियों में राजघाट की एक चकिया विशेष महत्त्व की लगती है; क्योंकि उसपर मातृदेवी के पास अंकित सर्प और शिवलिंग इस उपासना को शैव सम्प्रदाय से सम्बद्ध कर देते हैं।

वैदिक उपासना-पद्धति में देवताओं की अपेक्षा देवियों का महत्त्व कम है। देवमाता अदिति, उषा, पृथ्वी, वाक्, श्री, यमी आदि देवियों के उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलते हैं, तथा उसमें महीमाता या मातृदेवी की परम्परा ढूँढ़ने का प्रयास भी किया गया है;[६] परन्तु अम्बिका, उमा, दुर्गा, काली आदि सूचक नामों का ऋग्वेद में पता नहीं है। रुद्र की भगिनी के रूप में अम्बिका का उल्लेख वाजसनेयी संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलता है।[७] तैत्तिरीय आरण्यक उसे रुद्र की पत्नी बतलाता है।[८] अग्नि की सात जिह्वाओं के रूप में मुण्डकोपनिषद् काली और कराली का उल्लेख करता है तथा केनोपनिषद् उमा हैमवती का निर्देश करता है।[९] भद्रकाली, भवानी, दुर्गा इत्यादि देवी नाम सांख्यायन तथा हिरण्यकेशी-गृह्यसूत्र तथा तैत्तिरीय आरण्यक जैसे उत्तर वैदिककालीन ग्रन्थों में मिलते हैं।[१०]

रामायण में शक्ति-पूजन के उल्लेख नहीं मिलते, परन्तु महाभारत में शक्ति के स्तवन विराट्, भीष्म, वन इत्यादि पर्वों में तथा हरिवंश में मिलते हैं।

पाणिनि की अष्टाध्यायी में भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी तथा मृडाणी इन चार नामों का उल्लेख मिलता है।[११] कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र के दुर्गनिवेश नामक अध्याय में शिव, अपराजित आदि देवताओं के साथ देवी मदिरा के मन्दिर-निर्माण की बात कहते हैं।[१२] मदिरा और मीढ़ुषी को एक ही मानकर **डॉ० बनर्जी** उसे दुर्गा या शिवपत्नी का पर्याय बतलाते हैं।[१३] कौटिल्य द्वारा ही अन्यत्र तलघरों की चौखटों पर देवी-प्रतिमाओं के निर्माण की बात कही गई है।[१४] कदाचित् अभीतक शक्ति-पूजन जनता में सर्वसामान्य नहीं था। ईसवी-सन् की प्रथम दो शताब्दियों के आसपास विद्यमान 'ललितविस्तर'[१५] नामक ग्रन्थ में दी हुई देव-प्रतिमाओं की सूची में तथा 'दिव्यावदान'[१६] में दिये गये आराध्य देवताओं की सूची में देवी या दुर्गा का उल्लेख नहीं मिलता।

प्राचीन मुद्राओं पर शक्ति-प्रतिमाएँ :

प्राचीन भारत के कई ढले तथा ठुके सिक्कों पर लक्ष्मी के कई प्रकार से दर्शन होते हैं। इसे श्री, लक्ष्मी, गजलक्ष्मी आदि कई रूपों में पहचाना गया है। कुछ की चर्चा मनोरंजक होगी। पंचालों में भद्रघोष की मुद्राओं पर बनी कमलधारिणी देवी उस समय की परिपाटी के अनुसार भद्रा या लक्ष्मी होनी चाहिए।[१७] इसी प्रकार, कुणिन्दों की मुद्राएँ एक ऐसी देवी-प्रतिमा से सुशोभित हैं, जिसके पास मृग है। **डॉ० बनर्जी** ने इसे भी लक्ष्मी माना है,[१८] पर यह शिवपत्नी पार्वती या दुर्गा का रूप हो सकता है; क्योंकि एक तो कुणिन्दों की मुद्राओं पर शिव मिल चुके हैं,[१९] तथा दूसरे शिव का मृग से सम्बन्ध अन्य प्राचीन मुद्राओं से भी ज्ञात है।

भारतीय शक-शासक माउस एवं अझेस की मुद्राओं पर ऐसी देवियाँ मिलती हैं, जिनकी अभी तक पहचान नहीं हो पाई है।[२०] अझेसवाली देवी को कुछ विद्वान् लक्ष्मी और कुछ दुर्गा मानते हैं।[२१] सम्भव है कि यहाँ कुछ और भी समकालीन देवियाँ अंकित हों।

कुषाणकालीन मुद्राओं पर अंकित देवियों में नाना या ननैया तथा आरडोक्शो मुख्य हैं। हुविष्क की एक मुद्रा पर शिव के साथ नाना[२२] तथा दूसरी पर शिव के साथ उमा के दर्शन होते हैं।[२३] शिवपत्नी उमा से तो हम आज भी परिचित हैं, पर नाना के विषय में थोड़ा और अधिक विचार आवश्यक है। कनिष्क की मुद्राओं पर वह द्विभुज है।[२४] उसके बायें हाथ में पात्र तथा दाहिने हाथ में हिरन या घोड़े के अग्रभाग से अलंकृत दण्ड है एवं मस्तक पर अर्द्धचन्द्र विद्यमान है। हुविष्क की अधिकतर मुद्राओं पर यही ध्यान है, परन्तु एक[२५] पर हम इस देवी को एक हाथ में धनुष लिये तथा दूसरे हाथ द्वारा पीठ पर बँधे तरकस से बाण निकालते हुए पाते हैं। इसी शासक की एक दूसरी मुद्रा में[२६] वह पशु से अंकित दण्ड लिये सिंह पर आसीन हैं। वासुदेव की मुद्राओं पर भी द्विभुज नाना[२७] खड़ी ही दिखलाई पड़ती है। कहीं-कहीं पर इसे 'ननैया' नाम से भी पुकारा गया है।[२८]

नाना या ननैया का उद्गम मेसोपोटेमिया की देवी इन्नाना इश्तर से माना जाता है। इसे वहाँ चन्द्र की पुत्री, देवताओं की अधिदेवी, सर्वशक्तिमती, स्वर्ग एवं पृथ्वी को आलोकित करनेवाली एवं युद्ध, शस्त्र तथा राजदण्ड और प्रेम की अधिष्ठात्री माना

गया है।[२९] पार्थियन शासकों के काल में इन्नाना इश्तर का सम्प्रदाय काफी लोकप्रिय रहा। नाना को देवी अरटेमिस का भी पर्याय कहा गया है। अरटेमिस मृगया या शिकार की देवता है। इसीलिए, हुविष्क की मुद्रा पर नाना को हम धनुष-बाण लिये देखते हैं। नाना के मुख्य लक्षण उसके मस्तक पर चन्द्र, हाथों में पात्र तथा पशुमुख की आकृति से अंकित दण्ड एवं वाहन के रूप में सिंह है। इस देवी का दर्शन कुषाणकालीन कुछ मुद्राओं पर भी होता है। **प्रो० रोज़ेनफील्ड** ने नाना से सम्बद्ध सम्प्रदाय तथा उसके मूर्त्ति-विज्ञान की विस्तृत चर्चा अपने ग्रन्थ में की है, जो वहीं द्रष्टव्य है।[३०] ऐसा लगता है कि लक्षण-सादृश्य के आधार पर 'नाना' भारतीय क्षेत्र में शिवपत्नी उमा से सामीप्य पा गई, और उसी रूप में उसका कुछ कुषाण-मुद्राओं पर अंकन भी हुआ। सिंहवाहिनी दुर्गा का भी कदाचित् यही आधार रहा।

मित्र-राजाओं के सिक्कों पर भी हमें कुछ देवियों के दर्शन होते हैं। इनमें फल्गुनीमित्र के सिक्के उल्लेखनीय हैं। यहाँ कमल के ऊपर खड़ी तथा उठे हुए दाहिने हाथ में तीन पत्तों से युक्त वृक्षशाखा के समान किसी वस्तु को लिये एक देवी बनी है। उसका बायाँ हाथ कटि-विन्यस्त है।[३१] इसकी पहचान अभी सन्दिग्ध ही है। कुछ लोगों ने इसे पूर्वा या उत्तराफल्गुनी के रूप में पहचानने का यत्न किया है। इससे मिलती-जुलती दो मूर्त्तियाँ, जो कुषाणकाल की हैं, मथुरा से मिली हैं, इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं।[३२] यहाँ भी देवी द्विभुज है, दाहिना हाथ अभयमुद्रा में उठा है तथा बायें में कन्धे से टिकी पत्तियोंवाली वृक्षशाखा के समान कोई वस्तु है। इन प्रतिमाओं की पहचान अबतक नहीं हो पाई है। सम्भव है कि यह वृक्षशाखा न होकर कार्नुकोपिया (निधिशृंग) का कोई रूप हो, जिसे देवी आरडोक्शो हाथ में लिये रहती है।

कुषाण-सम्राट् वासुदेव की मुद्राओं पर आरडोक्शो के दर्शन प्रचुर रूप से होते हैं।[३३] वह कनिष्क और हुविष्क की मुद्राओं पर भी दिखलाई पड़ती है। यहाँ यह दाहिने हाथ में निधिशृंग लिये खड़ी है। वासुदेव की मुद्राओं पर वह बायें हाथ में निधिशृंग एवं दाहिने हाथ में पाश लेकर ऊँची पीठवाले आसन पर बैठी दिखलाई गई है।[३४] उत्तर कुषाणकालीन मुद्राओं में भी उसका वही रूप स्थिर रहा। इस प्रसंग में हाल ही में **प्रो० हर्टल** द्वारा खुदाई में सोंख (मथुरा) से प्राप्त की गई एक उत्तरकालीन ताम्रमुद्रा का उल्लेख आवश्यक है, जिसपर आसनस्थ आरडोक्शो के पैरों के नीचे पूरा खिला हुआ कमल बना है। आरडोक्शो के भारतीयीकरण की वह प्राथमिक सीढ़ी है। यही रूप गुप्तसम्राट् समुद्रगुप्त की प्रारम्भिक सुवर्णमुद्राओं पर दिखलाई पड़ता है, परन्तु यहाँ देवी का आरडोक्शो यह नाम लुप्त हो जाता है; क्योंकि अब वह लक्ष्मी के रूप में यहाँ अवतरित हो रही है। विदेशी आरडोक्शो ही भारतीय लक्ष्मी के रूप में सामने आई, कदाचित् ठीक वैसे ही जैसे, 'नाना' सिंहवाहिनी दुर्गा के रूप में चल निकलीं।

आरडोक्शो का जोड़ फ़रो से था। कुषाणकालीन एक मुहर पर ये दोनों साथ-साथ दिखलाये गये हैं।[३५] गान्धार-कला की कई मूर्त्तियों में भी इनका उसी प्रकार अंकन हुआ है,[३६] परन्तु वहाँ उन्हें कुबेर हारीति या पंचिक हारीति के रूप में पहचाना गया है।[३७]

अारडोक्शो मूलतः ईरानी देवी है। अहुरमज़्द की यह पुत्री लोक में सब प्रकार के ऐश्वर्य, सन्तति, शस्त्र एवं विजय को देनेवाली मानी गई है। इस रूप में उसका लक्ष्मी से ठीक सामंजस्य बैठता है। कुछ विद्वान् इस नाम का सम्बन्ध ईरानी देवी 'अनाहिता' से स्थिर करते हैं। जो भी हो, यह स्पष्ट है कि इसके कार्य भारतीय देवी श्रीलक्ष्मी, रोम की फारच्यूना और यूनान की ताइचे के समान ही थे।

गुप्तकालीन मुद्राओं पर कमलासना लक्ष्मी एवं सिंहवाहिनी दुर्गा की सुन्दर आकृतियाँ मिलती हैं। हमें उस काल की मूर्त्तियों में भी उनके दर्शन होंगे अतः उनका विवेचन यहाँ अपेक्षित नहीं है।

मिट्टी की मुहरों पर मिलनेवाली शक्ति-प्रतिमाएँ :

बसाढ़ तथा भीटा से मिली गुप्तकालीन मुहरों पर श्री या लक्ष्मी कई रूपों में मिलती है;[३८] जैसे गजलक्ष्मी, पात्र से धन बरसानेवाले यक्षों के साथ लक्ष्मी[३९], नौका पर आरूढ लक्ष्मी[४०] आदि। राजघाट (वाराणसी) से प्राप्त एक मुहर पर 'दुर्गः' नाम से अंकित एक देवी बनी है, जिसकी दाहिनी ओर अधोमुख सर्प है। देवी द्विभुज है, उसके बायें हाथ में माला तथा दाहिने में चार नोकोंवाली कोई वस्तु है।[४१]

शुंग और कुषाणकालीन देवी की प्रतिमाएँ :

शुंगकाल से मुख्यतया लक्ष्मी एवं गजलक्ष्मी के दर्शन होते हैं। तीनों धर्मों में समान रूप से लोकप्रिय इस देवी का यथास्थान विस्तार से विचार करेंगे।

कुषाणकालीन कला में विशेषतया मथुरा की कला में देवियों के प्राचुर्य से दर्शन होते हैं। कुषाण कलाकारों ने देवताओं की मूर्त्तियों के लिए यह निश्चित परिपाटी बना ली थी कि मूर्त्ति का दाहिना हाथ कन्धे तक अभयमुद्रा में उठा रहेगा और बायाँ कमर पर पहुँचेगा, भले ही उसके साथ कमल, जलपात्र, शंख, थैली, भाला, वस्त्रान्त या अन्य कोई वस्तु रहे। यदि आवश्यकता हुई, तो ध्यान के अनुसार अतिरिक्त हाथों में आयुधादि भी दे दिये जाते थे। देवप्रतिमा यदि बैठी हुई हो, तो भी सामान्य हाथों के लिए यही नियम थे। इसके नमूने विष्णु, कार्त्तिकेय, कुवेर, शिव, बोधिसत्त्व एवं बुद्ध-प्रतिमाओं में स्पष्टतया देखे जा सकते हैं। इस परिपाटी के लिए प्रमुख रूप से अपवाद थी जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ, जहाँ शास्त्रों के अनुसार हाथों को विशिष्ट प्रकार से बनाना अनिवार्य था।

पुरुष-मूर्त्तियों के समान देवी-मूर्त्तियों के लिए भी यही नियम अपनाये जाते थे। देवी के लिए भी यह आवश्यक था कि वह अभयमुद्रा में खड़ी या बैठी हो तथा उसका बायाँ हाथ कटि-विन्यस्त हो, भले ही ध्यान के अनुसार उसमें मदिरा का प्याला, कमल या बच्चा भी हो। महिषमर्दिनी दुर्गा इस नियम के लिए अपवाद थीं; क्योंकि वहाँ दोनों सामान्य हाथ महिष से जूझने के लिए आवश्यक थे। देवों की मूर्त्तियों के समान यहाँ भी धर्मभिन्नता से हाथों की स्थिति में परिवर्त्तन नहीं होता था। जैनों की आर्यवती एवं सरस्वती, लोकधर्म की यक्षिणियाँ, तथा ब्राह्मण-धर्म की एकानंशा, सिंहवाहिनी, पार्वती आदि सभी प्रतिमाएँ इसकी साक्षिणी हैं। ध्यान-भिन्नता के लिए आयुध, वाहन आदि का प्रयोग

होता था। जिन मूर्त्तियों में सामान्य हाथों के अतिरिक्त अन्य हाथ, शस्त्र, वाहन आदि अब नहीं बचे हैं, उनकी पहचान कभी-कभी एक विकट समस्या बन जाती है। मथुरा के संग्रहालय में ऐसी कई मूर्त्तियाँ हैं,[४२] जिनकी पहचान के कोई सूत्र अब नहीं मिल रहे हैं।

कुषाणकालीन स्त्री-मूर्त्तियों में कुछ ऐसी भी हैं, जिनके मस्तक पर कमानी की भाँति एक अर्धावरण बना है, जिसे हम यहाँ सुविधा के लिए 'छतरी' कहेंगे। छतरीवाली एक मूर्त्ति (म० सं० सं० एफ्० २) का वर्णन करते हुए **डा० अग्रवाल** ने इस अलंकरण को 'नाग-फण' कहा है,[४३] और उसी आधार पर उस प्रतिमा को नाग-राज्ञी की मूर्त्ति माना है। इस मूर्त्ति में छतरी के जो अलंकरण बने हैं, उनसे उसके नाग-फण होने का भ्रम हो सकता है, परन्तु अन्य स्त्री-मूर्त्तियों में दिखलाई पड़नेवाली इस प्रकार की छतरियों को मिलाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये नाग-फण नहीं हैं। ये छतरियाँ (म० सं० सं० सी० ३०, ५४.३७६३ इत्यादि) कभी जाली, कभी पत्ती, कभी ज्यामिति के अभिप्राय आदि से अलंकृत रहती हैं। इन छतरीवाली मूर्त्तियों के विषय में निम्नांकित बातें भी ध्यान देने योग्य हैं:[४४]

१. यह अलंकरण केवल स्त्री-मूर्त्तियों में ही दिखलाई पड़ता है।
२. दोनों कन्धों से उठकर यह एक कमानी का आकार बनाता है। कमानी की किनारी और उसके अन्दर का भाग अलंकृत रहता है।
३. इस प्रकार की छतरियों से सुशोभित स्त्री-मूर्त्ति जब आसन पर ऊकड़ूँ बैठी होती है, तब उसके पैरों की स्थिति विशेष प्रकार की रहती है। ये दोनों पैर आसन में अप्राकृतिक ढंग से घुसे हुए तथा पंजे आसन की पटिया से बाहर निकलते हुए दिखलाये गये हैं (चित्र-सं० ८७, ८८)।
४. ऐसी सभी मूर्त्तियों में—यदि वे बैठी हैं, तो—आसन भी एक विशेष प्रकार का होता है। इसे एक छोटी टेबुल कह सकते हैं, जिसके सम्मुख भाग पर बड़े से गुणे के चिह्न की सजावट है।

इस छतरी-नामधारी अलंकरण के वैशिष्ट्य एवं उपयोग पर हम साहित्य आदि किसी साधन से कोई प्रकाश-किरण नहीं पा सके हैं। कुषाणोत्तर कला में यह अलंकरण नहीं मिलता।

कुषाणकालीन देवी-मूर्त्तियों की एक और विशेषता उल्लेखनीय है, जो सबमें तो नहीं, पर कुछ में अवश्य पाई जाती है (उदाहरण के लिए, म० सं० सं० एफ्० २, एफ् ११)। यह है मूर्त्ति के पृष्ठ भागपर दिखलाई पड़नेवाला वृक्ष का अंकन। यह विशेषता कुछ पुरुष-देवताओं की मूर्त्तियों में भी मिलती है (म० सं० सं० १४.३९२—९५, चित्र-सं० ४६ बी)। स्त्री-मूर्त्तियों में यक्षियों का सम्बन्ध वृक्षों के साथ प्रसिद्ध है तथा कुछ यक्षियों के ध्यान ही ऐसे हैं कि वे शालभंजिका के रूप में वृक्ष की डाल को पकड़े रहती हैं।[४५] शुंग और कुषाणकाल में यह अभिप्राय बहुत ही लोकप्रिय रहा।

कुषाणकाल की माथुरी कला में जिन देवियों की अबतक पहचान हो सकी है, वे हैं—लक्ष्मी और उसके रूप, वसुधारा, एकानंशा, माताएँ, षण्मुखी या षष्ठी, पार्वती, सिंहवाहिनी,

महिषमर्दिनी दुर्गा, तपस्विनी पार्वती, सरस्वती, चन्द्रदेवी आदि। गुप्तकाल में कुछ तो, यथा वसुधारा, माताएँ, चन्द्रदेवी आदि लुप्तप्राय हो जाती हैं, पर स्कन्दमाता, सप्तमातृकाएँ, आदि का नवीन उदय होता है तथा लक्ष्मी, सिंहवाहिनी, महिषमर्दिनी आदि की लोकप्रियता में वृद्धि होती है। अब हम इनपर क्रम से विचार करेंगे।

लक्ष्मी

आज पद्महस्ता लक्ष्मी और गजलक्ष्मी पर्यायवाची शब्द माने जाते हैं, परन्तु शुंगकाल में गजलक्ष्मी ही विशेष रूप से 'पद्मा' या 'श्री' के नाम से विराजती थी, बाद में गज-विहीन पद्मधारिणी लक्ष्मी सामने आती है।

सभी प्रकार के वैभव, ऐश्वर्य और सम्पत्ति की देवी के रूप में भारतीय देवता-संघ में लक्ष्मी का स्थान बहुत ऊँचा है। राज्यलक्ष्मी, विजयश्री, कैवल्यलक्ष्मी आदि विविध रूपों में उसकी आराधना होती आ रही है। अपने इस सर्वजनप्रियत्व के कारण लक्ष्मी किसी एक सम्प्रदाय की देवी नहीं रही। वाल्मीकीय रामायण[४६] में बतलाया गया है कि रावण के पुष्पक विमान के द्वार पर पद्महस्ता गजलक्ष्मी की प्रतिमा बनी हुई थी। कला-जगत् में लक्ष्मी का आदर बौद्ध, जैन और ब्राह्मण इन तीनों सम्प्रदायों में समान रूप से किया गया है। भरहुत और साँची के बौद्ध-स्तूप, उड़ीसा की खण्डगिरि की जैन गुफाएँ (चित्र सं०-८५) तथा मथुरा की अनेक कलाकृतियाँ देवी श्री या पद्मा की प्रतिमाओं से अलंकृत हैं। ऐसी ही शुंगकालीन मूर्त्ति कौशाम्बी से भी मिली है।[४७] देवी का दाहिना हाथ अभय मुद्रा में कन्धे तक उठा है एवं बायाँ कटि-विन्यस्त है। वह कमल-वन में खड़ी है तथा गज अभिषेक कर रहे हैं। उसके एक ओर हाथी और दूसरी ओर सुन्दर वृष है।

प्रारम्भिक काल की इन मूर्त्तियों में देवी कमल पकड़े हुए (धृतपंकजा) है। लम्बे नालवाला कमल या तो भरे-पूरे फुल्ले के रूप में दर्शक को देखता हुआ बनाया जाता है, या देवी के मुख की ओर इस प्रकार घूमा हुआ रहता है, मानों वह उससे अपने को हवा कर रही हो। यह अभिप्राय गुप्तकाल में भी लोकप्रिय रहा, अतएव महाकवि कालिदास ने लक्ष्मी का वर्णन करते हुए उसे 'कौस्तुभ' तथा 'पद्मव्यजन' धारण करनेवाली बतलाया है।[४८]

शुंगकाल में लक्ष्मी गजों द्वारा अभिषिक्त होती हुई या पुष्करिणी (तालाब) में स्थित देवी के रूप में[४९] मिलती है। कुषाणकाल में उसके एकाधिक रूप मिलते हैं, यथा :

१. देवी की खड़ी प्रतिमा। बायें हाथ में सनाल विकसित कमल तथा दाहिना अभयमुद्रा में कन्धे तक उठा हुआ (म० सं० सं० १५. ८७८)।
२. बैठी हुई, सेवक बगल में, तथा हाथों की स्थिति ऊपर की भाँति (चित्र-सं० ८८)।[५०]
३. ऊपर की ही भाँति आसनस्थ, साथ में कुछ अन्य छोटे आकार की प्रतिमाएँ (चित्र-सं० ८६)।[५१]
४. एक पैर लटकाकर बैठी हुई, सेवा में छत्रवाहक (म० सं० सं० ५६.४७७१)।
५. 'माता' के रूप में शिशु और कमल धारण किये आसन पर बैठी हुई (म० सं० सं० एफ्० २६, एफ्० ३५, रे० चि० ६४)।

६. 'माता' के रूप में धन के देवता कुबेर के साथ बैठी हुई। धनपति और धनदेवी लक्ष्मी का परस्पर सम्बन्ध रहना अनिवार्य है। गुप्तकालीन मिट्टी की मुहरों पर लक्ष्मी को धनद यक्षों के साथ हमने देखा था। कुबेरलक्ष्मी की मूर्त्तियाँ मध्यकाल में भी बनती थीं और आज भी दीपावली के अवसर पर घर-घर में इनका पूजन होता है।

७. कुबेर और हारीति या भद्रा के साथ बैठी हुई लक्ष्मी।[५२] यहाँ लक्ष्मी की गोद में शिशु नहीं है।

८. शिशु और चषकधारिणी माताओं के साथ लक्ष्मी (म० सं० सं० १४-४१०, ल० सं० सं० ओ. २४१ चित्र-सं० ८७)।

९. कमल-वन में पूर्णकुम्भ के ऊपर स्थित अपने स्तन का स्पर्श करती हुई मातृत्व की द्योतक लक्ष्मी।[५३]

१०. दो गजों द्वारा अभिषेक की जानेवाली गजलक्ष्मी।[५४] यह बैठी (म० सं० सं० १५.८७१) तथा खड़ी (चित्र-सं० ८६)—दोनों स्थितियों में मिलती है। एक स्थान पर यह अर्धनारीश्वर, विष्णु तथा कार्त्तिकेय के साथ भी मिली है (म० सं० सं० ३४-२५२०चित्र-सं० २०) अन्यत्र, (म० सं० सं० ४४.३१४५) इसे कुबेर के साथ खड़ी पाते हैं।

गुप्तकाल में सिक्कों पर लक्ष्मी के प्रचुरता से दर्शन होते हैं। इस काल की पाषाण-प्रतिमाओं में वाराणसी से प्राप्त कमलधारिणी लक्ष्मी (कालभैरव-मन्दिर के बाहरी प्रदक्षिणा-मार्ग में बाईं ओर के एक घर की दीवार में) तथा भीतरी प्रदक्षिणा-मार्ग से मिली सुन्दर गजलक्ष्मी (ल० सं० सं० ५५-२०१) उल्लेखनीय हैं।

वसुधारा

दो मछलियों को हाथ में लिये अभयमुद्रा में खड़ी एक द्विभुज देवी की प्रतिमा शुंग तथा कुषाणकाल में (रे० चि० ८३, चित्र-सं० ९१) खूब चलती थीं। ये प्रतिमाएँ मिट्टी की अधिक मात्रा में हैं, यहाँतक कि हमें उनके साँचे भी मिल चुके हैं;[५५] परन्तु पत्थर की प्रतिमाएँ इनी-गिनी ही हैं।[५६] कुछ मूर्त्तियों में इस देवी के साथ घट और छत्र भी दिखलाई पड़ते हैं (रे० चि० ८२)। इसकी कड़ी हम समकालीन साहित्य से नहीं बैठा पा रहे हैं, किन्तु मूर्त्ति को देखने पर यह लक्ष्मी का ही रूप लगता है। ऐश्वर्य के प्रतीक घट का इसके पास रहने के कारण कदाचित् विद्वानों ने इसे 'वसुधारा' नाम दिया हो। विशेष आश्चर्य की बात यह है कि कुषाणकाल के बाद से यह देवी बिलकुल लुप्त हो जाती है। प्रारम्भिक काल की इस तथाकथित वसुधारा को बौद्धों के महायान-सम्प्रदाय की वसुधारा से मिलाना युक्तियुक्त न होगा।

एकानंशा

वसुधारा के समान देवी एकानंशा भी कुषाणकाल से ही लोकप्रिय रही। अन्तर केवल इतना है कि गुप्तकाल में पहुँचते-पहुँचते वसुधारा लुप्त हो गई, पर एकानंशा की परम्परा नामभेद से आज भी प्रचलित है। जगन्नाथ की तीन मूर्त्तियों के बीचवाली मूर्त्ति आज 'सुभद्रा' के नाम से पहचानी जाती है, वही पुरानी एकानंशा है। आज यह

नाम अप्रसिद्ध-सा हो गया है तथा मूर्त्तिविज्ञान-सम्वन्धी अवतक के किसी ग्रन्थ में इस देवी की विस्तृत चर्चा भी नहीं की गई है। इधर नवीन मिली हुई मूर्त्तियों के आधार पर[५७] इसकी कड़ी असन्दिग्ध रूप से कुषाण-काल तक बैठाई जा सकती है, अतः यहाँ इसका पूरा विवेचन आवश्यक है।

गोकुल के गोप नन्द की वेटी तथा इस प्रकार कृष्ण और बलराम की बहन एकानंशा नाम से प्रसिद्ध हुई। वसुदेव इसे ही कृष्ण के बदले में चुपचाप गोकुल ले गये थे। इसके अस्तित्व की पुष्टि कला और साहित्य दोनों के द्वारा होती है। जैन परम्परा में भी इसका अस्तित्व ज्ञात है। नीचे हम काल-क्रमानुसार उन ग्रन्थों की सूची दे रहे हैं, जिनसे एकानंशा की सामग्री प्राप्त होती है। यहाँ उल्लखित काल-क्रम सम्पूर्ण ग्रन्थ का नहीं, अपितु उसमें एकानंशा वाले उल्लेखों के विद्यमान रहने का मानना चाहिए।

१.	महाभारत का खिलपर्व, हरिवंश	ल० १-३ री शती
२.	महाभारत, विशेषकर दाक्षिणात्य पाठ	,, ,,
३.	अंगविज्जा (जैनग्रन्थ)	,, ,,
४.	वायुपुराण, उपोद्घातपाद	ल० १-२री शती
५.	ब्रह्मपुराण, कृष्णचरित्र	ल० ३-४थी शती } *
६.	विष्णुपुराण, पंचम अंश	ल० ५वीं शती }
७.	विष्णुधर्मोत्तरपुराण	ल० ५वीं शती
८.	बृहत्संहिता	ल० ५-६ठी शती
९.	कौमुदीमहोत्सव	ल० ,, ,, शती
१०.	अग्निपुराण	ल० ५-६ठी शती
११.	कूर्मपुराण	गुप्तोत्तरकाल
१२.	देवीभागवत	,, ,,
१३.	जैन हरिवंशपुराण	ई० सं० ७८३
१४.	कथासरित्सागर	ई० स० १०६३—८१
१५.	ब्रह्मवैवर्त्तपुराण (श्रीकृष्णजन्म-खण्ड)	ल० ११-१३वीं शती
१६.	स्कन्दपुराण (अवन्ती-खण्ड)	ई० स० १०-१४हवीं शती

मोटे रूप में वसुदेव नन्द की पुत्री एकानंशा को श्रीकृष्ण के बदले मथुरा ले आये। वहाँ के राजा कंस ने उसे वसुदेव की आठवीं सन्तान के भ्रम में मारने का प्रयत्न किया, परन्तु लड़की मरी नहीं। इस सादी-सी कथा के हमें दो रूप मिलते हैं। कंस के सामने पहुँचने तक तो सभी ग्रन्थ एकमत हैं, पर उसके बच निकलने के विषय में द्वैमत्य है। कुछ के मतानुसार वह यादव-राजकुमारी के रूप में चिरकाल तक जीवित रही।[५८] वायुपुराण के अनुसार, उसका विवाह दुर्वासा ऋषि से हुआ था।[५९] दूसरे ग्रन्थों के अनुसार शिला पर पटकी जाते ही नन्द की वह कन्या आकाश में उड़ गई और कंस को दुर्गा के रूप में दिखलाई दी।[६०] आगे चलकर वही विन्ध्यवासिनी के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके

* इनमें अध्याय-साम्य है, मूलस्रोत दूसरा होगा।

मत के अनुसार इसका विवाह नहीं हुआ। हरिवंश में दोनों मतों का उल्लेख मिलता है[६१] अथवा उसमें दोनों परम्पराओं का समावेश हुआ है।

इसमें भी कथाभाग में अधिक वैचित्र्य तब दिखलाई पड़ता है, जब हम यह ढूंढ़ने निकलते हैं कि जैसे कृष्ण विष्णु के तथा बलराम शेष के अवतार थे, उस प्रकार यह लड़की किसका अवतार मानी जाती थी। एकानंशा का विभिन्न देवियों से सम्बन्ध जोड़ा जाता है और हमारे सामने निम्नांकित चित्र उपस्थित होता है:

हरिवंश	निद्रा[६२], आर्या[६३]; कोटवती[६४]
विष्णुपुराण	निद्रा[६५], योगनिद्रा,[६६] अविद्या या वैष्णवीमाया
वायुपुराण	भद्रकाली[६८]
कूर्मपुराण	उमा के देह से उद्भूत[६९]
स्कन्दपुराण	कमला,[७०] निशा या विभावरी[७१]
पद्मपुराण	नारायणी माया या महामाया[७२], पार्वती[७३]

ऊपर की तालिका को देखने पर स्पष्ट होता है कि एकानंशा की परम्परा तीन विभिन्न धाराओं द्वारा सम्पुष्ट हुई है। एक तो हरिवंश, विष्णु तथा ब्रह्मपुराणवाली धारा है जो एकानंशा को निद्रा, आर्या या कोटवती जैसी लोकदेवी का अवतार मानती है।[७४] वैष्णवी महामाया या लक्ष्मी का अवतार माननेवाली दूसरी धारा भागवत या वैष्णव सम्प्रदाय से प्रभावित है। भद्रकाली, उमा और पार्वती से एकानंशा का सम्बन्ध माननेवाली तीसरी धारा स्पष्टतः शैवमत की अनुगामिनी है। मूर्त्ति-विज्ञान की दृष्टि से इन धाराओं का विचार तथा कंस से मुक्त होने के बाद वर्णित एकानंशा के विभिन्न ध्यानों की मीमांसा आवश्यक है।

कंस से मुक्ति पाने के बाद नन्द-कन्या का देवी-रूप में प्रकट होना अधिकतर ग्रन्थों को मान्य है, किन्तु उस रूप में शैव और वैष्णव प्रभाव सम्मिलित हैं। हरिवंश[७५] के अनुसार, हाथों में त्रिशूल, खड्ग, मद्यपान तथा कमल धारण करनेवाली यह देवी चतुर्भुज थी। उसने शुम्भ और निशुम्भ का वध किया था।[७६] अपने इस रूप में वह विन्ध्यपर्वत की अधिवासिनी के रूप में पूजित हुई तथा जंगलों एवं समुद्र में डाकुओं से संरक्षण करनेवाली अथच वन्य जातियों की लोकदेवी बनीं।[७७] परन्तु, साथ-ही-साथ यह भी माना गया कि उसका वर्ण श्रीकृष्ण का तथा मुख बलराम का होगा[७८], उसका ध्वज मोरपंखों का रहेगा[७९] तथा बलराम एवं कृष्ण के समान वह इन्द्र की भी बहन कहलायगी।

इसके अतिरिक्त, हरिवंश एकानंशा के एक ऐसे रूप का भी वर्णन करता है, जो पूर्णतया मानवरूप है। इस गोपकुमारी के रूप में वह वृष्णिसंघ द्वारा पूजित हुई।[८०] यादवों ने उसे विशेष सम्मान दिया; क्योंकि उसने अपने देह की बाजी लगाकर श्रीकृष्ण को बचाया था।[८१]

यह विचित्र बात है कि अबतक उल्लिखित इन विभिन्न धाराओं ने एकानंशा के भिन्न-भिन्न रूपों का प्रचार नहीं किया, अपितु हरिवंश के समय से ही भारत की 'महाविलयन'-पद्धति के अनुसार सबको एक में मिलाने का प्रयास हुआ। हरिवंश में

देवी आर्या की स्तुति में दो लम्बे स्तोत्र मिलते हैं[८२], इनमें एकानंशा के शैव और वैष्णव नामों को एक साथ गिनाया गया है। यथा :

शैव नाम—कालरात्रि, कात्यायनी, सिद्धसेन की माता, विन्ध्यवासिनी, पार्वती, चण्डी, त्रिनेत्रा आदि ।

वैष्णव नाम—नारायणी, श्री, अलक्ष्मी या ज्येष्ठा ।

वन्य जातियों की (शबर, बर्बर, पुलिन्द, आदि की) कुलदेवी तथा लोकदेवी—सुरामांसबलिप्रिया, मुक्तमूर्धजा, चौरसेनानमस्कृता, प्रथमा यक्षी, नागमाता, कद्रु-पुत्र-माता, शकुनि, रेवती, पूतना, कौटीर्या, मदिरा, चण्डा, कूष्माण्डी आदि ।

श्रीकृष्ण से सम्बद्ध नाम—कौशिकी, बलदेव की भगिनी, वृष्णिसंघ-सम्पूजिता ।

यही बात विष्णु और ब्रह्मपुराण में भी मिलती है। वे एकानंशा को वैष्णवी महामाया का अवतार मानते हुए भी उसके अष्टभुज रूप का वर्णन करते हैं तथा दुर्गा, अम्बिका, भद्रकाली आदि नामों को भी गिना देते हैं।[८३] इसी परम्परा का पालन अग्निपुराण[८४] एवं कूर्मपुराण[८५] ने किया है, पर वे उसे शैव देवी बतलाते हैं।

सामंजस्य-स्थापना की इस परम्परा के पुनः दर्शन हमें गुप्तकालीन एक नाटक **कौमुदीमहोत्सव** में होते हैं।[८६] यहाँ लोकाक्षी विन्ध्यवासिनी का उल्लेख करते हुए 'भगवत्येव विन्ध्यवासिनी' इन शब्दों का जैसे ही उच्चार करती है, उसकी सखी वेशरक्षिता पुकार उठती है—'ऐ, भवानी !! यह तो यदुओं की कुलदेवी 'एकानंगा' है[८७] (कुलदैवतं हि यदूनामेकानङ्गा; एकानङ्गानुशासनमाख्यातवती)।' यह नाटक[८८] हमें बतलाता है कि एकानंगा ही विन्ध्यवासिनी के नाम से प्रसिद्ध थी एवं पम्पासर में उसका मन्दिर भी था, जिसे 'चण्डिकायतन'[८९] कहा गया है।

एक दूसरा गुप्तकालीन ग्रन्थ **'बृहत्संहिता'** भी एकानंशा के तीन रूपों का वर्णन करता है।[९०] एक रूप द्विभुज है, दूसरा चतुर्भुज है और तीसरा अष्टभुज । अपने द्विभुज रूप में उसका बायाँ हाथ कटिविन्यस्त है और वायें में कमल है । चतुर्भुज रूप में उसके हाथों में कमल, पुस्तक, वर और अक्षमाला रहती है । अन्तिम ध्यान में देवी के पास कमण्डलु, चाप, कमल, पुस्तक, वर, बाण, दर्पण और अक्षमाला रहते हैं। स्पष्टतया इनमें पहला रूप लक्ष्मीवाली परम्परा का द्योतक है और अन्तिम रूप दुर्गावाली धारा का।

एकानंशा की प्रतिमाएँ :

अबतक हम देख चुके हैं कि प्राचीन महाकाव्य काल से ही एकानंशा बहुचर्चित देवी थी। यदुओं की वह कुलदेवी थी तथा विन्ध्य की अधिष्ठात्री देवता । ऐसी स्थिति में यदुओं के प्रारम्भिक गढ़ मथुरा की कला में उसकी प्राचीनतम मूर्त्तियाँ मिलनी चाहिए । सौभाग्य से लेखक को मिली एक कुषाणकालीन मूर्त्ति की सहायता से पुरातत्त्व-संग्रहालय मथुरा की अन्य दो मूर्त्तियों की भी एकानंशा के रूप में ठीक-ठीक पहचान हो सकी। कुषाणकालीन एकानंशा की मूर्त्तियों में (चित्र-सं० ६५, रे०चि० ८०-८१) बीच में तो द्विभुज **देवी की प्रतिमा बनी है**, तथा उसकी दाहिनी ओर सिंहमुख हल और मूसलधारी बलराम

एवं बाईं ओर चतुर्भुज वासुदेव या श्रीकृष्ण बने होते हैं। एकानंशा की एक अन्य प्राचीन प्रतिमा राजस्थान के नांदगाँव से मिले शिवलिंग के निचले भाग पर बनी है, जिसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं।[९२] एकानंशा की उत्तर कुषाणकाल की प्रतिमा बिहार से मिली है, जो डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त द्वारा अब पटना-संग्रहालय के लिए प्राप्त कर ली गई है।[९३] इसका पहला वैशिष्ट्य यह है कि यहाँ तीनों मूर्त्तियाँ एक ही पत्थर पर उकेरी न होकर स्वतन्त्र रूप से बनी हैं। दूसरी बात यह है कि अबतक की ज्ञात सभी मूर्त्तियाँ आकार में छोटी थीं, किन्तु ये प्रतिमाएँ उनकी तुलना में बहुत बड़ी हैं। ये सम्भवतः स्वतन्त्र रूप से पूजित होती थीं। इसके बाद इस देवी की जितनी अन्य मूर्त्तियाँ हमें ज्ञात हैं,[९४] वे गुप्तोत्तर काल की है, अतः हमारे प्रस्तुत पर्यवेक्षण-क्षेत्र के बाहर की हैं।

अबतक के विवेचन से यह स्पष्ट है कि कृष्ण-बलराम के बीच शोभित ये मूर्त्तियाँ 'वृष्णिसंघ-सम्पूजिता', 'गोपकन्या' तथा 'बलदेव-भगिनी' वाली धारा की परिचायिका हैं।

एकानंशा और गजलक्ष्मी :

हरिवंश में एक स्थान पर बलराम और श्रीकृष्ण के बीच खड़ी एकानंशा को हाथ में सोने के कमल को धारण करनेवाली पद्मालया लक्ष्मी के समान कहा गया है।[९५] श्रीकृष्ण ने उसका दाहिना हाथ पकड़ा और बलराम ने बायाँ। प्रारम्भिक मूर्त्तियों में भी हम उसे बलराम के बाईं ओर तथा श्रीकृष्ण के दाहिनी ओर पाते हैं। इसी ग्रन्थ में एक दूसरे सन्दर्भ में कृष्ण-बलराम की तुलना हाथियों से की गई है।[९६] इन दोनों को यदि एक साथ मिलायें, तो एकानंशा का रूप दो हाथियों के बीच खड़ी लक्ष्मी के समान बन सकता है। वैसे तो इस प्रकार का 'बादरायण'-सम्बन्ध जोड़ने का कोई अर्थ नहीं निकलता, किन्तु कलाकृतियों में जब हम एकानंशा को बलराम-कृष्ण के बीच में स्थित गजलक्ष्मी के रूप में पाते हैं, तब ये साहित्यिक उल्लेख हठात् ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं। **श्रीरत्नचन्द्र अग्रवाल** द्वारा प्रकाशित राजस्थान के अमझरा नामक स्थान से प्राप्त एक प्रतिमा में[९८] कृष्ण-बलभद्र के बीच गजलक्ष्मी मिलती है। बादामी की गुफाओं में एक स्थान पर गजलक्ष्मी एवं दुर्गा—एकानंशा के दोनों रूप—एकत्र मिलते हैं।[९७]

माताएँ या मातृकाएँ

मातृदेवी की प्राचीन परम्परा का उल्लेख हम इस अध्याय के प्रारम्भ में कर आये हैं। कुषाणकाल में भी विशेषतया व्रजमण्डल में मातृपूजन का पर्याप्त प्रचार था, किन्तु ऐसा लगता है कि वे अब अधिकतर लोकधर्म की देवियाँ बन गई थीं। अबतक कुषाणकालीन माताओं की कम-से-कम बत्तीस मूर्त्तियाँ ज्ञात हैं,[९९] जो विभिन्न ध्यानों का बोध कराती हैं। साधारण रूप से हम उनका निम्नांकित रूप से वर्गीकरण कर सकते हैं :

१. अकेली आसनस्था माता शिशु के साथ :

इस वर्ग में निम्नांकित प्रकार की मूर्त्तियाँ आती हैं :

(क) बकरे के मुखवाली देवी (म० सं० सं० ई० २, ई० ३)।

(ख) मानवमुखी देवी, शिशु गोद में ली हुई डलिया में है (म० सं० सं० ई० ४, ई० ५)।

(ग) माता के रूप में लक्ष्मी (म०सं०सं० एफ् २६, रे०चि० ६४)।
(घ) कई शिशुओं से घिरी माता (म०सं०सं० एफ् ३०)।
(ङ) आसनस्था माता, पर पैरों के बीच में तुन्दिल यक्ष (म० सं० सं० जी १०)।
(च) गोद में लिये शिशु के साथ माता (म० सं० सं० ११·२७७)।
(छ) पैरों के बीच खड़े शिशु के साथ खेलती हुई माता (बर्लिन-संग्रहालय, सं० I. C. 34·841)[१००]।
(ज) पक्षिमुखवाली माता (ल० सं० सं० ६०·१६८)।

२. एक पंक्ति में बैठी हुई माताएँ :

इस वर्ग की निम्नांकित सत्रह मूर्त्तियाँ हमें ज्ञात हैं :

(अ) खण्डित पट्ट, केवल एक ही माता शिशु के साथ (म० सं० सं० डी० १६)।
(आ) पाँच माताएँ सेवक के साथ (म० सं० सं० एफ् २६)।
(इ) खण्डित पट्ट, जिसपर केवल पाँच माताएँ बची हैं। इनमें दो मानवमुखी, एक पक्षिमखी तथा एक पशुमुखी है। पाँचवीं खण्डित है (म० सं० सं० जी. ५७)।
(ई) चार माताएँ, सभी मानवमुखी (म० सं० सं० एफ् ३१)।
(उ) मानवमुखी तीन माताएँ (म० सं० सं० एफ् ३४)।
(ऊ) सिंह, पक्षी तथा मानव का मुख धारण करनेवाली तीन माताएँ (म० सं० सं० यू ६२)।
(ए) दो माताएँ (म० सं० सं० १५.८८०)।
(ऐ) दो माताएँ एक मानवमुखी, दूसरी पशुमुखी (म० सं० सं० १५.६२६)।
(ओ) तीन माताएँ, खण्डित, दूसरी और तीसरी वराह एवं सिंहमुखी (म० सं० सं० १५.१००२)।
(औ) दो (म० सं० सं० १५.१०१५, ३०.२०२५) एवं तीन (म० सं० सं० २६.१६५६) माताएँ।
(अं) पक्षी-मुखवाली पाँच माताएँ (म० सं० सं० ३३.२३३१)।
(अः) पशुमुखी चार माताएँ (म० सं० सं० ३४.२४६१)।
(क) कुबेर के साथ तीन माताएँ (ल० सं० सं० ओ. २४१)।
(ख) कार्त्तिकेय के साथ व्याघ्रमुखी माता (ल० सं० सं० ओ. २५०, चित्र ६२)।

३. स्वतन्त्र रूप से या पंक्ति में खड़ी माताएं :

(य) मानवमुखी, अकेली, दाहिना हाथ अभय मुद्रा में तथा बाँये में जलपात्र (म० सं० सं० एफ् ४)।
(र) एक पंक्ति में सात माताएँ, एक हाथ में जलपात्र (म० सं० सं० एफ् ३८)।
(ल) एक पंक्ति में छह माताएँ (म० सं० सं० १०.१२६)।
(व) तीन माताओं का स्वतन्त्र पट्ट (म० सं० सं० १५.१०२४)।
(श) तीन माताएँ (म० सं० सं० १७.१३६२)।

(ष) सोंख, मथुरा से कुछ समय पहले मिली कांस्य-प्रतिमा, जिसमें किसी पुरुष देवता के साथ बाईं ग्रोर बच्चा लिये सिंह या व्याघ्रमुखी माता खड़ी है।*

प्राप्त मूर्त्तियों का संक्षिप्त परिचय पाने के बाद ग्रब हम इन मूर्त्तियों में दृष्टिगोचर होनेवाली विशेष बातों की चर्चा करेंगे।

शिशु :

उपर्युक्त वर्गीकरण में दूसरे तथा तीसरे वर्ग की कुछ मूर्त्तियों को छोड़ दें, तो शेष प्रत्येक मूर्त्ति में माता के पास उसके मातृत्व का प्रतीक शिशु ग्रवश्य दिखलाई पड़ता है। साधारणतया माता के द्वारा बाँये हाथ से पेट के सहारे पकड़ी हुई डलिया या पलने में नन्हे से शिशु के दर्शन होते हैं। कुछ मूर्त्तियों में (उदाहरण मं० सं० सं० डी० १६) शिशु माता की गोद में है ग्रौर उसके स्तन का स्पर्श कर रहा है, ग्रथवा माता के लटकते हुए केशों की लटों के साथ खेल रहा है (म० सं० सं० १७.२७७)। दूसरी मूर्त्तियों में कहीं माता शिशु को हाथों पर झुलाकर या दोनों पैरों के बीच में खड़ा कर बहला रही है (म० सं० सं०एफ् ३४) ग्रथवा कहीं बच्चा घुनघुने के साथ खेल रहा है (म० सं० सं० एफ् ३१)।

इस सम्बन्ध में हमें तथाकथित हारीति की मूर्त्तियों पर ध्यान देना होगा, जो वस्तुतः इन्हीं लोकदेवियों का एक रूप है। हारीति के साथ भी कई शिशु विविध प्रकार की क्रीडा करते हुए दिखलाये जाते हैं (म० सं० सं० एफ् ३०)। गान्धार-कला में भी ऐसी मूर्त्तियों की कमी नहीं है।

माताग्रों के साथी देवगण :

कुछ मूर्त्तियों में माताग्रों के साथ कुबेर दिखलाई पड़ता है (म० सं० सं० जी. १०, ल० सं० सं० जी. २४१)। कलकत्ता के संग्रहालय में स्थित मथुरा के एक खण्डित शिलापट्ट पर (इण्डियन म्यूजियम ए. २५०३८) कुबेर के साथ शिशुधारिणी माता (?) उकड़ूँ बैठी है। माता की बाईं ग्रोर सात स्त्री-पुरुष नमस्कार-मुद्रा में खड़े हैं। कुबेर चषकधारी एवं ग्रभयमुद्रा में हैं, उनके दाहिनी ग्रोर का भाग खण्डित है।

दूसरी प्रतिमाग्रों में एक पुरुषाकृति दिखलाई पड़ती है, जिसका दाहिना हाथ कन्धे तक ग्रभयमुद्रा में उठा है तथा बाँये में लम्बा-सा भाला या शक्ति है (म० सं० सं० १५.११७६, ३४.२४६१, ल० सं० सं० ग्रो. २५०, चित्र ६२)। यह कार्त्तिकेय है। साहित्य के ग्राधार पर हम ग्रागे कार्त्तिकेय ग्रौर माताग्रों के परस्पर सम्बन्ध की चर्चा करेंगे।

इस सम्बन्ध में जिस बात की ग्रोर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित करना होगा, वह है उपर्युक्त मूर्त्तियों पर कार्त्तिकेय के साथ दिखलाई पड़नेवाला घड़ा। लखनऊवाली प्रतिमा (चित्र-सं० ६२) में घड़े के ऊपर बकरे के मुख की ग्राकृति भी दिखलाई पड़ती है। यह भी विशेष बात है कि इस प्रकार की सभी मूर्त्तियों में ग्रंकित एक माता व्याघ्र या सिंहमुखी है।

* Hartel Herbert, New kushana Finds from Sonkh, **BMA.**, No. 3 June 1969, PP. 71-72 Figs. 2-3। बर्लिन के प्रो० हर्टल के निरीक्षण में चल रही सोंख की खुदाई से मिली यह प्रतिमा ग्रपने ढंग की ग्रनोखी है।

महाभारत के वनपर्व, शल्यपर्व आदि में कार्त्तिकेय की कथा मिलती है।[१०१] वहाँ इन मूर्त्तियों की पहचान के लिए कुछ प्रकाश-किरणें मिल जाती हैं। इसका विस्तृत विचार लेखक द्वारा अन्यत्र किया गया है।[१०२] यहाँ उसका समुचित सारांश देकर हमें आगे बढ़ना होगा।

इस सम्बन्ध में महाभारत के आधार पर निम्नांकित तथ्यों का पता लगता है :

(क) यहाँ पर अंकित क्रूरमुखवाली माता 'अशिव' वर्ग की है। सम्भवतः, यह वही है, जिसने कार्त्तिकेय को पुत्रवत् माना था। हरिवंश में कोटवती ऐसी ही देवी है, जिसने कृष्ण-बाणासुर युद्ध में कार्त्तिकेय को बचाया था।

(ख) पुरुषाकृति कार्त्तिकेय की है, जिसकी पूजा मातृकाओं के साथ 'वीराष्टक' और 'वीर-नवक' के रूप में होती थी।[१०३]

(ग) चित्र-सं० ६२ में दिखलाई पड़नेवाला घड़ा या तो कार्त्तिकेय के साथ ही उत्पन्न हुए सुवर्ण का प्रातिनिध्य करता है, या वह सुवर्णकुण्ड है, जिसका कार्त्तिकेय के जन्म-प्रसंग में बहुत बड़ा योगदान रहा है।[१०४]

(घ) वहीं पर अंकित मेढ़े का मस्तक या तो कार्त्तिकेय के छठे और सर्वश्रेष्ठ सिर का द्योतक है[१०५] या वह उसका खिलौना है। अग्नि ने अपने पुत्र का मनोरंजन करने के लिए 'नेगमेय' नाम से स्वयं मेष का रूप धारण किया था।[१०६]

माताओं के विषय में साहित्यिक सामग्री :

साहित्य में देवियों—विशेषकर लोकदेवियों—की कई सूचियाँ दी गई हैं। **डॉ० वासुदेव-शरण अग्रवालजी** ने अपने लोकधर्म में ऐसी कुछ सूचियाँ दी हैं।[१०७] इसके अतिरिक्त भी कई और सूचियाँ उपलब्ध हैं।[१०८] इन विविध सूचियों में आनेवाले नामों का निम्नांकित रूप से वर्गीकरण किया जा सकता है :

(क) शारीरिक विशेषताओं के द्योतक नाम :
काकी, बिडाली, रक्ता, विशालाक्षी, शकुनि, गजजिह्विका, उलूकी, पिशाची, खेचरा राक्षसी या पापराक्षसी, सर्पकर्णा, गोमुखिका, श्येनी आदि।

(ख) स्वभाव एवं कार्य के द्योतक नाम :
क्रोधिनी, हासिनी, महानादा, सुभीमा, प्रमोदा, वंचना, ऊर्ध्वग्राही, रोदिनी, यातना, धाविनी, चंचला इत्यादि।

(ग) मूर्त्तिविज्ञान की दृष्टि से सहायक नाम :
बर्हिध्वजा, प्रेतयाना, महेन्द्रभगिनी, कपालिनी, शवविभीषणा, लांगलावती, पद्मकरा, ज्वालामुखी इत्यादि।

(घ) ऐश्वर्य के अमूर्त्त प्रतीकों के नाम :
कीर्त्ति, श्री, धृति, प्रभा, क्षमा, नीति, विद्या, प्रीति, स्मृति, श्रुति, शान्ति, पुष्टि इत्यादि।

(ङ) **सर्वव्यापकत्व, सर्वशक्तिमत्ता आदि के द्योतक नाम :**
त्रैलोक्यमोहिनी, जगन्माता, सर्वभूतवासिनी, जगद्धात्री, आदिशक्ति, महायोनि इत्यादि ।

(च) **सम्बन्धद्योतक नाम :**
देवमाता, दैत्यमाता, दिक्कुमारी, देवकन्या, पर्वतकुमारी इत्यादि ।

(छ) **विशेष नाम :**
मेना, एकानंशा, दुर्गा, माया, श्री इत्यादि ।

सभी सूचियों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह भी स्पष्ट होता है कि उपर्युक्त वर्गीकरण में 'क', 'ख' एवं 'घ' में अंकित नाम अधिक पुराने हैं; क्योंकि मत्स्यपुराण, काश्यप-संहिता, अंगविज्जा, वायुपुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों की सूचियों में इनका निर्देश मिलता है। 'ग' एवं 'घ' के नाम भी प्राचीन हैं, पर उनका अधिक प्रचलन नहीं था। पाँचवाँ वर्ग अपेक्षाकृत कम प्राचीन है । यह तब की वस्तु है, जब एकेश्वरवाद का जोर था और भाँति-भाँति के रूपों के छोटे-बड़े देवताओं को एक आदि-तत्त्व के अन्तर्गत लाकर सामंजस्य की स्थापना की जा रही थी ।

फलकांकित माताओं की पहचान :

इस प्रकार, साहित्य की सहायता से कुषाणकालीन कई माताओं की पहचान की जा सकती है । यहाँ हमें निम्नांकित प्रकारों की माताओं के दर्शन होते हैं :

(एक) पक्षिमुखी माताएँ जैसे शकुनी, शाकुनी, शेनवती, सोणी इत्यादि । गरुड, तोता तथा अन्य पक्षियों के मुखोंवाली माताएँ कुषाणकालीन एक पट्ट पर दिखलाई पड़ती हैं। इनके नाम हमें अंगविज्जा, पद्मपुराण, मत्स्यपुराण तथा विष्णुधर्मोत्तरपुराण की सूचियों में मिलते हैं ।

(दो) पशुमुखी माताएँ––व्याघ्र तथा बिल्ली के समान छोटे कान, बड़े जबड़े तथा छोटी आँखोंवाली माताओं की एकाधिक मूर्त्तियाँ हमें ज्ञात हैं (उदा० म० सं० सं० ३४.२४९१, ल० सं० सं० ओ० २५० इत्यादि) । हरिवंश, विष्णुधर्मोत्तर और पद्मपुराण में 'बिडाली' और 'मार्जारवक्त्रा' के उल्लेख हैं । अग्निपुराण[१०९] इसका लक्ष्मी की एक उपदेवता के रूप में उल्लेख करता है । हरिवंश[१११] में दैत्यमाता के रूप में, 'सिंहिका' का निर्देश है। इसी का बेटा राक्षस ग्रह 'राहु' कहा गया है[१] ।

अबतक की उल्लिखित किसी तालिका में मेषमुखी देवी का उल्लेख नहीं मिलता, तथापि मथुरा की कुषाण-कला में उसके दर्शन होते हैं (म० सं० सं० ००. ई २)। कदाचित् इस लोकदेवी का सम्बन्ध 'नेगमेश' से हो या यह उसकी शक्ति हो । जैनों में नेगमेश की प्रधानता रही; वैसे ब्राह्मण-धर्म में कार्त्तिकेय का एक नाम नेगमेय या नेगमेश भी है।

(तीन) अनेक शिशुओं से युक्त माता––आज साधारण रूप से अनेक शिशुओं से घिरी यह देवी हारीति के नाम से पहचानी जाती है (म० सं० सं० एफ् २०)। हारीति एक बौद्ध यक्षिणी है, जिसके ५०० बच्चे थे। गान्धार-प्रदेश के

पंचिक यक्ष से इसका विवाह हुआ था। मूलतः अत्यन्त क्रूर स्वभाव की यह यक्षिणी बुद्ध से प्रभावित होकर शिशु-संरक्षिका देवी बन गई थी। हमारे पास इस बात के कोई अकाट्य प्रमाण नहीं हैं कि मथुरा की कला में दिखलाई पड़नेवाली बहुपुत्रवती देवी निस्सन्देह रूप से बौद्ध हारीति ही हो। यद्यपि पाश्चिमात्य विद्वानों ने उसे वैसा ही पहचाना है। हमारे अनुमान से यह एक बौद्ध देवी न होकर विशुद्ध रूप से लोकदेवी है, जिसका उल्लेख विष्णुधर्मोत्तर में 'बहुपुत्रा' या 'बहुपुत्री' नाम से तथा मत्स्यपुराण में 'पुत्रमण्डिका' एवं हरिवंश में 'द्विपुत्रा' नाम से मिलता है।[१११] शिशु-संरक्षण से सम्बद्ध यह लोकदेवी बाद में विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा अपनाई गई। पिछले पृष्ठों पर हम इस बात का संकेत कर चुके हैं कि गान्धार-कला में पंचिक और हारीति की मूर्त्तियाँ फ़ॅरो और आरडोक्शो की प्रतिमाओं के आधार पर बनी लगती हैं।

(चार) क्रूरमुखी माताएँ—महाभारत में एक वर्ग की माताओं को 'अशिवा' कहा गया है। अग्निपुराण इनमें चार के नाम गिनाता है और यह भी बतलाता है कि कार्त्तिकेय के साथ इनका पूजन 'घर के बाहर' (वास्तुवाह्य) किया जाय। पूतना, रेवती, शुष्करेवती, चण्डा, यक्षिणी, राक्षसी, पिशाची आदि लोकदेवियाँ इसी वर्ग की हैं। बहुधा कुषाण-कला में इन्हीं में कुछ का चित्रण किया गया है, परन्तु जबतक हमें उनके आकारादि के विषय में अधिक जानकारी नहीं मिलती, तबतक उनकी निश्चित पहचान करना कठिन है।

(पाँच) लक्ष्मी के रूप में माता—माता के रूप में, अर्थात् बालक को गोद में लिये बैठी हुई कमलधारिणी (म०सं०सं० १४.४९९, एफ् २६) का उल्लेख पीछे हो चुका है।

(छह) केवल मद्यपात्र को धारण करनेवाली माता—माता के एक वर्ग की मूर्त्तियों में कोई शिशु नहीं दिखलाई पड़ता, उनका दाहिना हाथ अभयमुद्रा में उठा रहता है तथा बायें में मद्य का चषक रहता है (म० सं० सं० १४.४१०, १५.९०३, १५.८७६, २९.१९७२, १८.१५३८ इत्यादि)।

इस वर्ग की अधोलिखित विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं :

(क) ये सभी माताएँ मानवमुखी हैं।

(ख) गोद में शिशु नहीं है, केवल मद्यचषक है।

(ग) मद्यचषक इन माताओं का सम्बन्ध कुबेर से जोड़ता है। यह बात एक दूसरे शिलापट्ट (म०सं०सं० १८.१५३८) से भी पुष्ट होती है, जहाँ इस वर्ग की एक देवी के साथ कुबेर बैठे हुए हैं और बगल में खड़ा एक व्यक्ति वीणा-वादन कर रहा है।

कुबेर तथा तीनों वर्गों की माताएँ--अर्थात् पुत्रवती, चषकधारिणी तथा कमल को धारण करनेवाली लक्ष्मी इन सबका परस्पर सम्बन्ध निश्चित रूप से मान्य था। इसका सुन्दर उदाहरण लखनऊ-संग्रहालयवाला फलक (ल० सं० सं० ०.२४१ चित्र-सं० ८७) है, जिसपर हम उपर्युक्त सभी को एक साथ ही पाते हैं।

षण्मुखी या षष्ठी

कुषाणकाल की कला-कृतियों में एक विशेष प्रकार की देवी मिलती है। देवी द्विभुज है। उसका दाहिना हाथ कन्धे तक अभयमुद्रा में उठा है तथा बायाँ कटि-विन्यस्त है। मस्तक पर बहुधा कुषाण 'छतरी' है। देवी का शिरोभाग पाँच उपदेवियों या उनके मस्तकों से अंकित रहता है। बहुधा उसकी अगल-बगल में एक शक्तिधर पुरुष दिखलाई पड़ता है (चित्र-सं० ११, १००; रे० चि० ८४--८६)। यह देवी कुषाण-काल में पर्याप्त लोकप्रिय रही होगी। अबतक मथुरा-कला में इसकी आठ मूर्त्तियाँ हमें ज्ञात हैं। ये छोटे से बड़े आकार तक की हैं। इनकी पहचान का प्रयत्न करने के पूर्व इनकी बारीकियों को समझना आवश्यक है, जो संक्षेप में निम्नांकित हैं:

१. पाँचों उपदेवियाँ मुख्य देवी की छतरी से उद्भूत होती हुई दिखलाई गई हैं। तीन मूर्त्तियों में (म० सं० सं० ००. एफ् २, ५४.३७६३, ल० सं० सं० जे. ८४, चित्र-सं० १००, रे० चि० ८४) वे कटि तक दिखलाई पड़ती हैं, परन्तु उनके हाथों की वस्तुएँ स्पष्ट नहीं हैं। एक मूर्त्ति में (म० सं० सं० ००. एफ् २) दो वस्तुएँ ज्वालायुक्त दीपों के समान दिखलाई पड़ती हैं, तथा दूसरी में वे (चित्र-सं० ८४) ज्वालायुक्त दीप तथा धनुष-बाण के सदृश लगती हैं।

   लखनऊ-संग्रहालय की मूर्त्ति में 'छतरी' नहीं है, किन्तु उसकी जगह एक प्रभामण्डल बना है (चित्र-सं० १००)। उसी में देवी के कन्धों से निकलनेवाली मूर्त्तियाँ भी थीं, जिनमें से अब कुछ ही बची हैं।

२. अन्य मूर्त्तियों में कदाचित् स्थानाभाव के कारण पाँचों उपदेवियों के अर्द्धविग्रह न बनाकर छतरी के ऊपरी भाग पर केवल मस्तक-भर दिखलाये गये हैं (म० सं० सं० ००. एफ् ३, एफ् ३२, १५.७३६, ६२.१६, रे० चि० ८६)।

३. दोनों सेवकों को भी ध्यानपूर्वक देखना होगा। साधारणतया दोनों के हाथों में शक्ति या भाले रहते हैं, परन्तु दोनों में एक बहुत बड़ा अन्तर भी है। देवी की बाईं ओरवाले व्यक्ति का दाहिना हाथ अभयमुद्रा में उठा है, किन्तु दाहिनी ओरवाले व्यक्ति की स्थिति भिन्न है। एक मूर्त्ति में तो उसका दाहिना हाथ केवल लटका हुआ है (म० सं० सं० ६२-१६, रे० चि० ८६)। कुछ अन्य मूर्त्तियों में (म० सं० सं० एफ् ३) वह अभयमुद्रा में उठा है। एक तीसरी प्रतिमा में (म० सं० सं० १५-७३६, चित्र-सं० ८५) इस व्यक्ति के दोनों हाथों की स्थिति अलग है। दाहिने में तो शक्ति है, और बायाँ कमर पर टिका है।

इन प्रतिमाओं की पहचान सरल नहीं है। **डॉ० कुमारस्वामी** और **अग्रवाल** ने कुछ को 'नागराज्ञी' की मूर्त्तियाँ माना है;[११६] पर अन्य प्रतिमाओं से तुलना करने पर उनकी मान्यता को स्वीकार करना कठिन हो जाता है। ऐसा लगता है कि पहचान की कुंजी देवी और अगल-बगल में अंकित पुरुष-मूर्त्तियोंवाले शिलापट्टों में विशेषतया बाईं ओरवाली मूर्त्ति में छिपी है। इसके दोनों हाथों की स्थिति सदैव एक-सी है (रे० चि० ८६, चित्र-सं० १००)। लम्बा भाला या शक्ति, अभयमुद्रा, कन्धों पर लहराते हुए बाल, तिकोना ग्रैवेयक, बँटा हुआ मोटा-सा उत्तरीय, जो कमर में लिपटा हुआ है और बाँई ओर मोटी-सी गाँठ बनाता है, आदि विभिन्न लक्षण इस व्यक्ति के 'कार्त्तिकेय' होने की ओर संकेत करते हैं। कुषाण-काल की अभिलिखित कार्त्तिकेय-प्रतिमा हमें प्राप्त हो चुकी है।[११७] उससे इन सभी लक्षणों को सफलतापूर्वक मिलाया जा सकता है।

जब तीनों में एक की पहचान 'कार्त्तिकेय' के रूप में हो जाती है, तब हमारा कार्य बहुत सरल हो जाता है। महाभारत हमें बतलाता है कि स्कन्द या कार्त्तिकेय के दाहिने पार्श्व से एक पुरुष प्रकट हुआ था, जिसके हाथ में शक्ति तथा कानों में कुण्डल थे।[११८] इसका नाम हुआ 'विशाख'। हमारी प्रतिमाओं में दाहिनी ओरवाली पुरुष-मूर्त्ति में दोनों लक्षण पूर्णतया घटित होते हैं। इस प्रकार, दोनों पार्श्ववर्त्ती देवताओं को स्कन्द और विशाख के रूप में पर्याप्त पुष्ट रूप से पहचाना जा सकता है। कुषाण-काल में इन दोनों को 'संकर्षण-वासुदेव' के समान ही युग्मरूप में सम्माननीय स्थान प्राप्त था। यह बात हुविष्क की उन सुवर्णमुद्राओं से भी सिद्ध होती है, जिनपर स्कन्द, कुमार और विशाख बने हैं।[११९] एक अन्य मुद्रा पर इन दोनों के बीच महासेन भी विद्यमान है।[१२०] इन मुद्राओं पर हमारी मूर्त्तियों से उलटे, अर्थात् दाहिनी ओर स्कन्द तथा बाईं ओर विशाख बने हैं। महाभारत हमें बतलाता है कि विशाख स्कन्द के दाहिने पार्श्व से प्रकट हुआ था। अतः, उसका हमारी बाईं ओर होना सर्वथा उचित है।

अब मध्यमूर्त्ति का विचार करें। हुविष्क की उपर्युक्त मुद्रा में यह महासेन (Massena) की है। हमारे यहाँ मध्य मूर्त्ति स्त्री की है, अतः वह महासेन नहीं हो सकती।

महाभारत तथा अन्य पुराणों में दिये गये कार्त्तिकेय के विविध वृत्तान्तों के अनुसार स्कन्द के जन्म में छह स्त्रियों का प्रमुख हाथ था। कहीं तो उनका जन्म से ही सम्बन्ध था, और कहीं उन्होंने कुमार को दूध पिलाकर बड़ा किया था। एक कथा के अनुसार[१२१] अरुन्धती को छोड़ सप्तर्षियों की अन्य छह पत्नियों को उनके पतियों द्वारा इस आरोप पर दण्डित एवं गृह-निष्कासित किया गया था कि उन्होंने अवैध प्रकार से अग्नि से सम्बन्ध स्थापित किया और अपने पतियों से विश्वासघात किया। ये स्त्रियाँ स्कन्द के पास पहुँची और माताओं के रूप में उन्होंने उनके स्वीकार किये जाने की प्रार्थना की; क्योंकि उसीके निमित्त से उन्हें अकारण लांछित होना पड़ा था। स्कन्द ने इस प्रार्थना को स्वीकार करते हुए उन्हें उचित सम्मान प्रदान किया। वनपर्व में अन्यत्र[१२२] यह भी विधान किया गया है कि कार्त्तिकेय के प्रसाद से उत्पन्न 'शिशु' नामक देवता के साथ सात माताओं का सामूहिक रूप

'वीराष्टक' के नाम से प्रचलित था। इस रूप में 'कार्त्तिकेय' के मिलाये जाने के बाद 'वीरनवक' बनता था।[१२३] स्पष्ट है कि ये विभिन्न धाराएँ तथा परम्पराएँ अपने-अपने समय का प्रातिनिध्य कर रही हैं। काल के प्रभाव से वे विश्रृंखल रूप में एक ही ग्रन्थ में सम्मिलित होती आ रही हैं। हमारी मूर्त्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुषाण-काल में एक परम्परा ऐसी भी रही हो, जिसके अनुसार माता के सम्मान से विभूषित छह ऋषि-पत्नियाँ या स्कन्द का धाय के रूप में पालन करनेवाली छह कृत्तिकाएँ सामूहिक रूप से एक देवी का निर्माण करती हों। इस देवी की मूर्त्ति में या तो पाँच मख मस्तक के ऊपर आरोपित होते थे या पाँच उपदेवियों की आनाभि प्रतिमाएँ बनती थीं। पुत्र-रूप में स्कन्द और विशाख को मुख्य देवी-विग्रह की अगल-बगल दिखलाया जाता था। उपदेवियों में से कुछ के हाथों में दिखलाई पड़नेवाली दीपज्वालाएँ––जिन्हें अग्नि-ज्वालाएँ––कहना अधिक उपयुक्त होगा, उस अग्नि का प्रातिनिध्य करती हैं, जो इस सम्पूर्ण कथा के मूल में निहित है। कुषाण-काल के बाद कदाचित् यह रूप अपनी मान्यता खो बैठा।

श्रीरत्नचन्द्र अग्रवाल ने इन मूर्त्तियों की एक दूसरी पहचान दी है।[१२४] प्राचीन भारतीय लोकधर्म में उद्धृत 'काश्यपसंहिता' के 'बालग्रह-चिकित्सा' नामक प्रकरण के आधार पर उन्होंने इस देवी को स्कन्द की बहन 'षण्मुखी षष्ठी' माना है। यह पहचान भी विचारणीय है। सम्भव है कि संकर्षण-वासुदेव और एकानंशा के समान कार्त्तिकेय-विशाख और षष्ठी का भाई-बहनोंवाला दूसरा समूह भी पूजा जाता हो। इस सन्दर्भ में यौधेयों के सिक्कों पर दृष्टिगत होनेवाला षष्ठी और कार्त्तिकेय का अंकन भी महत्त्वपूर्ण है।[१२५] षष्ठी के गुप्तकालीन मन्दिर का प्रमाण स्कन्दगुप्त के समय के सुपिया-लेख से मिलता है।[१२६] इस मन्दिर को छन्दक नामक किसी व्यक्ति ने बनवाया था, पर हम यह नहीं जानते कि इस मन्दिर में प्रतिष्ठापित मूर्त्ति का ध्यान क्या था।

दुर्गा

दुर्गा का पूजन प्राचीन काल से चला आ रहा है।[१२८] वह कई नामों और रूपों में पूजी जाती है। तैत्तिरीय आरण्यक (१०.१८) में शिव को अम्बिका या उमा का पति बतलाया गया है। केन उपनिषद् में (३.२५) हैमवती उमा का उल्लेख इन्द्र को आत्मतत्त्व का उपदेश देनेवाली के रूप में किया गया है। महाभारत में दुर्गा के दो लम्बे स्तोत्र विराट् और भीष्मपर्व में मिलते हैं, जहाँ उसे विन्ध्यवासिनी के रूप में रक्त एवं मद्य का पान करनेवाली कहा गया है। वनपर्व (३९.४, पृ० १०५९) में उमा का किराती-वेष-ग्रहण उल्लिखित है। दुर्गा और उसके सम्प्रदाय पर सबसे अच्छा और विपुल प्रकाश डालनेवाला ग्रन्थ मार्कण्डेयपुराण है, उसका देवी-माहात्म्यवाला भाग आज भी उत्तर भारत के शाक्तों का कण्ठमणि बना हुआ है।

शिव के समान दुर्गा भी अवैदिकों द्वारा प्रचुरता से पूजित होती थी। इस सम्बन्ध की उत्तर-पश्चिमी देशों से मिलनेवाली सामग्री का संक्षिप्त विचार हम पहले कर चुके हैं। दुर्गा के पूजकों में मध्यकालीन ग्रन्थों––जैसे भविष्यपुराण, कृत्यकल्पतरु आदि––द्वारा

म्लेच्छों की स्पष्ट रूप से गणना की गई है।[१२९] इस बात की झलक दुर्गा के पूजा-प्रकार में भी देखने को मिलती है। इसकी पूजा-पद्धति में प्रचलित बलिप्रदान, मद्य-मांस का अर्पण आदि बातें शिव, सूर्य, विष्णु आदि की सामान्य पूजा-पद्धति से भिन्न हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि हरिवंश के समय ही, अर्थात् लगभग कुषाण-काल से विन्ध्यवासिनी के रूप में दुर्गा चोर, डाकू, लुटेरे तथा वनों में रहनेवाली अन्यान्य जातियों की आराध्या के रूप में मान्यता पा चुकी थी। दूसरी ओर वह वृष्णिवंश जैसे सम्भ्रान्त कुलों की दूसरे रूप में कुलदेवी भी बन रही थी।

साहित्यिक ग्रन्थों की इन मान्यताओं की पुष्टि कला द्वारा भी होती है। मथुरा से मिली हुई प्राचीन एकानंशा की मूर्त्तियों का विवेचन हम पहले कर चुके हैं तथा यह भी बतला चुके हैं कि दूसरी परम्परा के अनुसार यह विन्ध्यवासिनी दुर्गा बनी।

महिषमर्दिनी :

महिषासुर का मर्दन करनेवाली दुर्गा की मूर्त्तियाँ कुषाणकाल से ही मिलने लगती हैं, पर विशेषता यह है कि ये सभी मूर्त्तियाँ आकार में छोटी हैं। दुर्गा की कोई भी तीन-साढ़े तीन फीट से बड़ी कुषाणकालीन मूर्त्ति हमें अबतक ज्ञात नहीं है। कुषाण-कला में इसके दो रूप मिलते हैं--एक चतुर्भुज (रे० चि० ८८) तथा दूसरा षड्भुज (रे० चि ९०)। महाभारत में भी चार हाथवाले रूप का अधिक वर्णन मिलता है। आयुधों में त्रिशूल मुख्य है, इसके अतिरिक्त तलवार, पटा एवं ढाल भी गौणरूप से उल्लखित है।[१३०]

मथुरा से मिली चतुर्भुज मूर्त्तियों में ऊपरी हाथों में त्रिशूल और खड्ग मिलते हैं (उदा० म० सं० सं० ३३.२३१७ रे० चि० ८८; ६५.१, चित्र-सं० ९३)। **कुमारस्वामी** द्वारा प्रकाशित एक माथुरी मूर्त्ति के ऊपरी दो हाथों में खड्ग और त्रिशूल तथा सामान्य में दाहिना अभयमुद्रा में तथा बायाँ कटि-विन्यस्त है।[१३१] एक मृत्फलक पर अंकित देवी तलवार और ढाल लिये है (म० सं० सं० ३७.२७१५, चित्र-सं० ९४), दोनों साधारण हाथों में महिष है, जिसकी आकृति ठेठ भैंसे की है। वह पिछले पैरों पर खड़ा होकर आक्रमण कर रहा है। देवी ने बायें हाथ से उसे पीठ की ओर से दबा रखा है तथा दाहिने हाथ से उसकी उठी हुई गरदन को कस दिया है। इन मूर्त्तियों में प्रभामण्डल नहीं है, पर अन्यत्र उसके दर्शन होते हैं (म० सं० सं० १५,५९२, १५.७२४)।[१३२] देवी के वाहन सिंह का अंकन भी अनिवार्य नहीं था। उपर्युक्त मूर्त्तियों में केवल एक (म० सं० सं० ३३.२३१७, रे० चि० ८८) में देवी के पैरों के पास सिंह खड़ा है।

चतुर्भुज मूर्त्तियों की दूसरी उन्नत सीढ़ी छह हाथोंवाली मूर्त्तियाँ है। यहाँ (म० सं० सं० ३७.२७८४, रे० चि० ९०; कलकत्ता-संग्रहालय, आइ० एम्० सी०, ए--२४२३८) बीच-वाले हाथों में त्रिशूल एवं खड्ग है तथा सामान्य हाथों से महिष को ऊपर की भाँति दबोचा जा रहा है। सबसे ऊपरवाले हाथ, जो स्पष्टतः अब नवीन उदित होते हैं, सिर के ऊपर उठे हुए हैं और किसी लम्बी वस्तु को ताने हुए हैं। यह वस्तु प्रस्तुत मूर्त्तियों में स्पष्ट नहीं है, पर हाथों की यह स्थिति नृत्य या क्रोधाविष्ट स्थिति में अंकित कतिपय मध्यकालीन

मूर्त्तियों में, यथा नृत्यगणेश (ल० सं० सं० ५८.४७), नाचनेवाले शिव[१३३] और संहार-मूर्त्तियों में नरसिंह (ल० सं० सं० एच् १२५) तथा गजासुर-वध-मूर्त्तियों[१३४] में क्रमशः साँप, अपने बालों की लटें तथा हाथी का चमड़ा लिये हुए दिखलाई पड़ती हैं। विचाराधीन कुषाणकालीन मूर्त्ति का निचला भाग टूट चुका है, अतः सिंह की स्थिति के विषय में कोई अनुमान करना कठिन है।

राज्य-संग्रहालय में निहित एक कुषाणकालीन मृत्फलक (ल० सं० सं० जी ३३२) पर चतुर्भुज महिषमर्दिनी बनी है, जिसके पैरों के पास सिंह है तथा नीचे तीन बहिर्मुख दीपक बने हैं। कदाचित् मूल रूप में यह महिषमर्दिनी से अंकित दीवट रहा हो।

महिष को दबोचनेवाली परम्परा गुप्तकाल में भी रही। चतुर्भुज महिषमर्दिनी का सिंह-विरहित रूप मथुरा की गुप्तकला में विद्यमान था (म० सं० सं० १५.६००, चित्र-सं० ९७; रे० चि० ९२)। मथुरा से प्राप्त एक अन्य गुप्तकालीन मूर्त्ति में (आइ० एम्० सी०, ए० २४२४२) स्पष्टतया शूल और ढाल हैं। साधारण दोनों हाथों से महिष दबोचा जा रहा है। ऐसी ही मूर्त्ति अहिच्छत्रा से भी मिली है।[१३६] इस काल की मूर्त्तियों में खड्ग और ढालवाली परम्परा के भी दर्शन होते हैं[१३५] (चित्र-सं० ९५)।

ढलते गुप्तकाल में महिषमर्दिनी का एक दूसरा रूप बना, जिसमें दो सिंहों के बीच में रखे हुए महिष के सिर पर पैर रखे षड्भुज देवी खड़ी है। इस प्रकार की एक अंशतः खण्डित, किन्तु विशाल प्रतिमा ग्वालियर के संग्रहालय में प्रदर्शित है (चित्र-सं० ९६)।

प्रारम्भिक गुप्तकाल से ही षड्भुज देवी का एक और ध्यान सामने आया था। इसमें भुजाएँ तो छह हैं, पर महिष नहीं है (म० सं० सं० ४२.२९४७, रे० चि० ८९)। मूर्त्ति के खण्डित होने के कारण सिंह के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। सभी आयुध भी स्पष्ट नहीं हैं, किन्तु ऊपरी हाथों में खड्ग और त्रिशूल हैं, जो कुषाण-परम्परा के चिह्न हैं। उसी प्रकार कन्धे तक उठा दाहिना हाथ अभयमुद्रा में तथा पानपात्र लिये कटि-संस्थित बायाँ हाथ भी वहीं से आया है। निचले दो हाथों के आयुध स्पष्ट नहीं हैं। यहाँ भी प्रभामण्डल का अभाव है।

पश्चिमोत्तर भारत में दुर्गा एवं सिंहवाहिनी देवी :

डॉ० टुची ने अपने एक लेख में[१३६] दुर्गा के अस्तित्व की विस्तृत चर्चा करते हुए निम्नांकित तथ्यों की ओर विशेष ध्यान दिलाया है :

१. स्कोरेती से संगमरमर की देवी-मूर्त्तियों का मिलना।
२. महाभारत के वनपर्व (२३१·४८, पृ० १६१२) में दिये गये देवी-नामों में एक नाम गान्धारी भी मिलता है।
३. बौद्ध तन्त्रों में एक पद आता है 'गान्धारी विद्या', जिसका सम्बन्ध गान्धारी देवी से कल्पित किया जा सकता है।
४. कालिकापुराण[१३८] में उड्डयान-पीठ को कात्यायनी देवी का अधिष्ठान माना गया है।

५. आज भी बलूचिस्तान के हिंगलाज नामक स्थान पर देवी का पूजन होता है, जो भारतीय परम्परा में 'हिंगुला' देवी के नाम से जानी जाती है। स्थानीय लोगों में यह देवी 'बीबी नानी' के नाम से पुकारी जाती है । कुछ विद्वानों ने इसका सम्बन्ध प्राचीन 'नाना' या 'ननैया' से बैठाया है। यह उचित प्रतीत होता है; क्योंकि हुविष्क के सिक्कों पर नाना को शिवपत्नी के रूप में प्रतिष्ठा मिल चुकी थी।[१३९]

६. ह्वेनसांग के समय शाहबाजगढ़ी के निकट 'भीमा देवी' का पूजन प्रचलित था।

ये सारी बातें इस बात का स्पष्ट संकेत करती है कि गान्धार-प्रदेश तथा आसपास के भू-भाग में शक्ति-सम्प्रदाय का अस्तित्व निश्चित रूप से रहा। इस प्रसंग में इस प्रदेश से प्राप्त कुछ देवी-प्रतिमाओं का उल्लेख उचित ही होगा :

१. पेशावर से मिली सिंहवाहिनी की खण्डित प्रतिमा।[१४०]

२. शैखानढेरी से मिली चतुर्भुज दुर्गा की मूर्त्ति, जिसके दो हाथ ऊपर उठे हुए और दो नीचे की ओर लम्बित हैं। नीचेवाले दाहिने हाथ में कमण्डलु बचा हुआ है।[१४२]

३. जंगली बकरे को मारनेवाली अष्टभुज देवी।[१४२]

सिंहवाहिनी और स्कन्दमाता :

पश्चिमोत्तर भारत में सिंहवाहिनी दुर्गा का प्रसार कुषाण-काल से ही था। कुषाण-मुद्राओं पर 'नाना' के रूप में उसे हम देख चुके हैं, तथा इस सम्भावना को भी परख चुके हैं कि नाना पत्नी-रूप में कभी-कभी ओएशो—भवेश—या शिव के साथ भी अंकित होती थीं। मथुरा की कुषाण-कला में हमें सिंहवाहिनी द्विभुज देवी के स्वतन्त्र दर्शन नहीं होते, किन्तु गुप्त-कला में—कदाचित् महाविलयन के फलस्वरूप—यह दो रूपों में हमारे सामने आती है।

एक रूप है सिंहवाहिनी का। दो भुजाओंवाली देवी हाथ में भाला लिये बाँई ओर मुँह किये बैठे हुए सिंह पर आसीन है (म० सं० सं० १७·१२८३)। श्रावस्ती से मिले एक सुन्दर मृत्फलक पर वह उसी प्रकार बैठी है, किन्तु उसके बाँये हाथ में त्रिशूल है (चित्र-सं० १०१)। गुप्तकालीन सुवर्णमुद्राओं पर, विशेषतया चन्द्रगुप्त-कुमारदेवी की मुद्राओं पर हमें सिंहवाहिनी के दर्शन होते हैं।

दूसरे रूप में देवी सिंह पर अवश्य ही आसीन रहती है, पर गोद में बालक स्कन्द भी रहता है। इन मूर्त्तियों को स्कन्दमाता के नाम से पहचाना जाता है। मथुरा से मिली एक ऐसी सुन्दर मूर्त्ति कलकत्ता के संग्रहालय में प्रदर्शित है (आइ० एम० सी० एम० १०)। ढलते गुप्तकाल की ऐसी दो मूर्त्तियाँ वाराणसी में हैं। एक तो वहाँ के कामाक्षा-मन्दिर में है और दूसरी विशाल मूर्त्ति हरिश्चन्द्र घाट पर गंगा के किनारे सन् १९५७ ई० तक अवश्य रही अब का पता नहीं।[१४३] नव दुर्गाओं में स्कन्दमाता की गणना पाँचवें स्थान पर की जाती है।

स्कन्दमाता का एक अन्य प्रकार कसिया से प्राप्त खण्डित, किन्तु विशाल मृण्मूर्त्ति के रूप में मिला है, जो इस समय लखनऊ के संग्रहालय में है। इसमें पार्वती एक आसन पर विराजमान हैं। आसन के नीचे लड्डुओं से भरा पात्र रखा है, जिसे प्राप्त करने के लिए गणेश और कार्त्तिकेय दोनों ललच रहे हैं।

शिव के समान गुप्तकालीन कुछ देवियों में भी त्रिनेत्र बनता था; जैसे अहिच्छत्रा से मिली पार्वती (चित्र-सं० ९८) और यमुना की मूर्त्तियाँ, श्रावस्ती की सिंहवाहिनी (चित्र-सं० १०१), राजघाट की इन्द्राणी (भा० क० भ० सं० २०·३९२) आदि।

फुटकर देवी-प्रतिमाएँ :

सरस्वती

अन्य देवी-मूर्त्तियों में मथुरा के कंकाली टीले से मिली हुई सरस्वती की मूर्त्ति (ल० सं० सं० जे० २४, रे० चि० ९५) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसपर अंकित अभिलेख के अनुसार यह मूर्त्ति जैन सम्प्रदाय की है, अतएव तत्त्वतः वह हमारे क्षेत्र के बाहर है, फिर भी उसका हम यहाँ समावेश कर रहे हैं; क्योंकि एक तो इसके अतिरिक्त निश्चित रूप से सरस्वती कहलानेवाली इतनी प्राचीन मूर्त्ति हमें ज्ञात नहीं है, जबकि साहित्य में इस देवी के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। दूसरे यह उस काल की कृति है, जब सभी धर्मों के प्रतिमा-लक्षणों का सामान्य आधारों पर निर्माण हो रहा था। अतः, यह माना जा सकता है कि कुषाण-काल में ब्राह्मणमतानुमोदित सरस्वती भी लगभग ऐसी ही बनती रही होगी।

वायुपुराण[१४४] के अनुसार 'श्री' और 'प्रज्ञा' अथवा लक्ष्मी और सरस्वती ये ही दो महादेवियाँ थीं, जो कालान्तर में अनेक रूपों में अभिवर्द्धित हुईं। मथुरा से मिली प्राचीन सरस्वती की प्रतिमा से निम्नांकित बातें स्पष्ट होती हैं :

१. समकालीन अन्य देवियों के विपरीत सरस्वती की प्रतिमा सादगी का प्रत्यक्ष रूप है। यह विग्रह आभूषणों से अभिमण्डित नहीं है, केवल हाथों में सूत्र-बन्धन दिखलाई पड़ता है। सरस्वती की यह आभूषण-विहीनता उसकी सात्त्विकता की परिचायक है, जो विद्या देवी के लिए स्वाभाविक है।

२. इस पर अंकित अभिलेख की अन्तिम पंक्ति से यह भी ज्ञात होता है कि कुषाण-काल से ही सरस्वती नर्त्तकों की भी आराध्य थी। इसकी पुष्टि कामसूत्र तथा उसकी जयमंगला टीका[१४५] से भी होती है, जहाँ सरस्वती के मन्दिर में गीत-नृत्यादि से युक्त 'समाजों' के होने की बात कही गई है।

पार्वती

कुषाण-काल से ही शिव के साथ उमा या पार्वती कई मूर्त्तियों में मिलती है, किन्तु स्वतन्त्र पार्वती की प्रतिमाएँ दुर्लभ हैं। तपस्या में लगी हुई पार्वती की एक मूर्त्ति

(म० सं० सं० १५·८७६) में हैं। पार्वती खड़ी है तथा उसके अगल-बगल अग्निकुण्ड बने हैं। पार्वती की तपस्या मध्यकालीन कलाकारों के लिए प्रिय विषय बन गई थी।

गुप्तकाल की पार्वती-प्रतिमाओं में अहिच्छत्रा की पार्वती-प्रतिमा (चित्र-सं० ६८), जिसका अब केवल मस्तक ही बचा है, तथा कसिया की गणेश कार्त्तिकेयवाली पार्वती, जिसका उल्लेख हम स्कन्दमाता के साथ कर चुके हैं, उल्लेखनीय हैं।

इन्द्राणी

इन्द्राणी या इन्द्र की शक्तिरूपिणी प्रतिमाएँ बहुत कम हैं। मध्यकाल में इन्द्र के साथ शची कभी-कभी दिखलाई पड़ती है, परन्तु इस देवी की गुप्तकालीन स्वतन्त्र प्रतिमा का केवल एक ही नमूना ज्ञात है (भा० कला-भवन, सं० २०·३६२), जहाँ त्रिनेत्र धारिणी सहस्राक्षी हाथ में वज्र लिये हुए बड़े ही आकर्षक ढंग से बैठी हुई दिखलाई गई है।

गंगा-यमुना

गंगा और यमुना का कला में अंकन कदाचित् ढलते कुषाण काल से ही प्रारम्भ हो चुका था, जिसका प्रमाण मथुरा संग्रहालय की एक घिसी-पिटी प्रतिमा में (म० सं० सं० ५६·४२७५) मिलता है।

गुप्तकाल में गंगा-यमुना का अभिप्राय इतना लोकप्रिय बना कि ये देवियाँ बहुधा मन्दिरों के द्वारस्तम्भों को अलंकृत करने लगीं। महाकवि कालिदास ने भी इसका उल्लेख किया है।[१४६] मकरवाहिनी एवं घटधारिणी गंगा तथा कच्छपवाहिनी यमुना की गुप्त-कालीन प्रतिमाओं के उत्कृष्ट नमूने अहिच्छत्रा से मिले हैं, जो इस समय राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में विद्यमान हैं।[१४७]

मातृकाएँ

कुषाणकालीन माताओं का हम विस्तार से विचार कर चुके हैं। गुप्तकाल में प्रमुख रूप से सप्तमातृकाएँ विकसित हुईं तथा उनकी स्वतन्त्र मूर्त्तियाँ भी बनने लगीं। अपने समय की प्रमुख उपास्य देवताओं की शक्तियों का एकत्रीकरण सप्तमातृकाओं के रूप में सामने आया था, जिसके पुराणों में भी प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। ये निम्नांकित थीं--

मूलदेव		मातृका		वाहन
महेश्वर (शिव)	..	माहेश्वरी	..	वृष
विष्णु	..	वैष्णवी	..	गरुड
ब्रह्मा	..	ब्रह्माणी	..	हंस
कुमार (कार्त्तिकेय)	..	कौमारी	..	मयूर
वराह	..	वाराही	..	महिष, वराह
इन्द्र	..	ऐन्द्री	..	हाथी
क्रूर माताएँ	..	चामुण्डा	..	शव

गुप्तकालीन सप्तमातृकाओं की निम्नांकित मूर्त्तियाँ उल्लेखनीय हैं :

(क) माहेश्वरी––अमझरा और शामलाजी से प्राप्त दो प्रतिमाएँ।[१४८]

(ख) ऐन्द्री––अमझरा से मिली आसनस्थ मूर्त्ति।[१४९]

(ग) कौमारी––इसकी एक मूर्त्ति अमझरा से ही कई वर्ष पूर्व मिली थी, जिसे डूंगरपुर के पुरातत्व अनुभाग में रखा गया था। कौमारी की दूसरी खण्डित मूर्त्ति पुरातत्त्व-संग्रहालय, मथुरा में है, जहाँ उसका वाहन मयूर स्पष्ट है।

(घ) वाराही––अमझरा से प्राप्त।[१४९] साधारणतया साहित्य में वाराही महिष या भैंसे पर आरूढ बतलाई गई है, किन्तु यहाँ तथा शामलाजी से मिली एक दूसरी मूर्त्ति में उसे वराह पर बैठा हुआ दिखलाया गया है। पश्चिमी भारत से प्राप्त इन मूर्त्तियों की यह विशेषता अभी साहित्यिक उल्लेखों से परिपुष्ट नहीं हुई है।

इसी प्रसंग में ढलते गुप्त या प्रारम्भिक मध्यकाल की वाराही प्रतिमा का उल्लेख आवश्यक है, जो इस समय ब्रिटिश-म्यूजियम में है।[१५१] चार हाथवाली वाराही भैंसे पर बैठी हैं। मुँह में बड़ी-सी मछली है तथा गोद में बालक है। **श्रीबनर्जी** के मतानुसार, वाराही की मछली का सम्बन्ध तन्त्रशास्त्र से है, जहाँ मत्स्य की गणना पंच-मकारों में की जाती है।[१५२]

सप्तमातृकाओं की इन मूर्त्तियों के अतिरिक्त, राजस्थान से गुप्तकाल की कुछ ऐसी स्त्री-मूर्त्तियाँ मिली हैं, जो गोद में लिये शिशु को बहला रही हैं।[१५३] **श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल** ने इनमें से एक की पहचान, जो इस समय उदयपुर के संग्रहालय में है तथा तानेसर से मिली है, कृत्तिका स्कन्द से की है। पहचान विचारणीय हो सकती है, इन मूर्त्तियों के देवी-प्रतिमाएँ होने में सन्देह नहीं; क्योंकि उनके देवत्व के सूचक प्रभामण्डल वहाँ पर विद्यमान हैं।

सन्दर्भ-संकेत :

१. Goswami A, **Indian Terracottas,** p. 5.
२. Germain Buzin, **The Loom of Art,** fig. 29.
३. अग्रवाल, वासुदेवशरण, **भारतीय कला**, पृ० १०६––११३।
४. वही, पृ० ११५-१६।
५. वही, पृ० १०८, संख्या ७।
६. Agrawala V. S., Mathura Terracottas, **JUPHS**, vol. **IX**, Pt. 2, July 1936, pp. 19–26.

७. वाज० सं०, III 57; **DHI** p. 491 पर उद्धृत; तैत्ति० ग्रा०, १, ६.१०.४-५।
८. तैत्ति० आ०, X 18, **DHI**, p. 491 पर उद्धृत।
९. केन०, III २५; मुण्ड० I २.४; **DHI**, p. 491 पर उद्धृत।
१०. **DHI**., p. 491; **HDS**., Vol. II, pt. 2, p. 738.
११. अग्रवाल वासुदेवशरण, **पाणिनिकालीन भारतवर्ष**, पृ० ३५०।
१२. **DHI**., p. 86.
१३. **DHI**., p. 87, Fn. 2.
१४. **DHI**., p. 87.
१५. **ललितविस्तर**, देवकुलोपनयनपरिवर्त्त, पृ० ८४।
१६. **दिव्यावदान**, २·७·३८, पृ० ४६३-४।
१७. **DHI**., p. 133.
१८. **DHI**., p. 134.
१९. **DHI**., p. 118.
२०. **DHI**., p. 136.
२१. **DHI**., pp. 134-35.
२२. **DAK**., pl. VIII. 165.
२३. **DAK**., pl. VIII. 166.
२४. **DAK**., pl. VII. 134, p. 83
२५. **DAK**., pl. VII, 141.
२६. **DAK**., pl. VII. 142.
२७. **DAK**., pl. VII. 143.
२८. **DAK**., pl. VIII. 148.
२९. **DAK**., p. 85.
३०. **DAK**., pp. 85–90.
३१. **DHI**., p. 137.
३२. म० सं० सं० ५६. ४२०७; ल० सं० सं० जे ८५।
३३. आरडोक्शो के विचार के लिए, **DAK**., pp. ७४–७५।
३४. **DAK**., pl. XII 237–40,
३५. **DAK**., p. 97, Fig. 13 Seal 3.
३६. Ingholt Herald, **Gandharan Art in Pakistan**, New York, 1957, Fgs. 342–45.
३७. वही, p. 147–148; जोशी नी० पु०, 'समृद्धि के देवता कुबेर और लक्ष्मी', 'आज', वाराणसी, १० नवम्बर, १९६९।
३८. **DHI**., p. 194; **Archl. S. I. AR**., 1903–4, pl. XL, XLI, pp. 107 ff.; 1911–12, pl. XVIII.
३९. **DHI**., p. 194.
४०. **Archl. S. I. AR**., 1913—14, pp. 129—30, pl. XLVI.

४१. **DHI.**, p. 198.

४२. Agrawala V. S., **Cat.**, **JUPHS.**, Vol. XXII, p. 202.

४३. 'छतरी' अलंकरण की चर्चा के लिए Joshi N. P., Two Matrka Plaques in the State Museum, Lucknow, **BMA**; Vol. I, March 1968, pp. 22-23

४४. उदाहरण के लिए मंजूश्रीमूलकल्प में 'नटा', 'नरवीरा' और 'यक्षकुमारिका' के ध्यान देखिए—डॉ० मोतीचन्द्र, **Bulletin of the Prince of Walse Museum, Bombay,** No. 3, pp. 55, 56, 57 etc.

४५. **वा० रामायण,** सुन्दर 7·14, p. 878.
नियुज्यमानाश्च गजाः सुहस्ताः सकेसराश्चोत्पलपद्महस्ताः ।
बभूव देवी कृता सुहस्ता लक्ष्मीस्तथा पद्मिनि पद्महस्ता ।।

४६. इलाहाबाद सं० सं० ६५।

४७. रघुवंश, १०.६२।

४८. मथुरा-संग्रहालय की एक मृण्मूर्त्ति, १९६५ की उपलब्धि।

४९. **श्रीकृष्ण सन्देश**, मासिक पत्रिका, मथुरा, वर्ष २, अंक १, पृ० १११।

५०. म० सं० सं० १४.४१०, ल० सं० सं० ओ. २१०।

५१. **M S.**, pl. 69.

५२. **HIIA.**, Fig. 74.

५३. **मत्स्यपुराण,** (मोर-प्रति), २६०.१६, पृ० ७२३; पद्मपुराण (मोर-प्रति), खण्ड १, ४.५९-६२, पृ० २४।

५४. म० सं० सं० ६०·४८१३।

५५. म० सं० सं० १९.१५८३; २७-२८.१६६५; ल०सं०सं० A. ११४।

५६. **M. S.**, pl. 34.

५७. जोशी नी० पु०, 'देवी एकानंशा की कुषाणकालीन मूर्त्तियाँ', **BMA.**, अंक १, मार्च, १९६८, पृ० २३—२९।

५८. **वायुपुराण** (मोर-प्रति), अनुषंग०, ९६.२१२-१३, पृ० ४७८; **ब्रह्मवैवर्त्तपुराण** (मोर-प्रति), श्रीकृष्ण-जन्मखण्ड, ७.१२६, पृ० ५७७।

५९. **ब्रह्मवैवर्त्त०** वही, ७.१२९, पृ० ५७७; ११२.४०-४३, ृ० ११०८; ११३.९-२३ प० ११११।

६०. जैनहरिवंश को छोड़कर प्रथम दी हुई सूची के लगभग अधिकतर ग्रन्थ इसी मत का प्रतिपादन करते हैं।

६१. **हरिवंश**, विष्णु०, ४.३६, पृ० २२४ (आकाश में पहुँची); ४.४६, पृ० २२५ (पृथ्वी पर जीवित रही)।

६२. **हरिवंश,** विष्णु० २.२७, पृ० २१७।

६३. वही, ३.१, पृ० २१९।

३४. वही, १२०.२, पृ० ६९५।

६५. **विष्णुपुराण** (गीता प्रेस), ५·१·७०, पृ० ३७७।

६६. वही।

६७. वही।

६८. **वायुपुराण**, (मोर-प्रति), उपोद्घातपाद, ६.६४, पृ० ४६ ।
६९. **कूर्मपुराण** (मोर-प्रति) २४.७४, पृ० ११२ ।
७० **स्कन्दपुराण** (मोर-प्रति) अवन्ति०, १९.२७, पृ० ५३ ।
७१. वही, अवन्ति०, १६.६,८ पृ० ५२ ।
७२. **पद्मपुराण**, (मोर०) उत्तर०, २४५.२५,३०, पृ० ८७० ।
७३. वही (मोर०), ब्रह्म० १३.२६-२८, पृ० ब्रह्मखण्ड का २३५ ।
७४. अग्रवाल वासुदेवशरण, **प्राचीन भारतीय लोकधर्म**, पृ० ७,१०, निद्रा और आर्या की गणना लोकदेवियों की सूची में की गई है। आर्या का उत्सव 'अज्जमह' कहलाता था। कोटवती ऐसी ही दूसरी लोकदेवी थी। डॉ० अग्रवाल उसे दक्षिण भारत की कोट्टकीरिया से मिलाते हैं। हरिवंश (विष्णु० १२६.२६, पृ० ७२७) के अनुसार, बाणासुर की कुलदेवी के रूप में कोटवी का प्राकट्य होता है, जो उसे श्रीकृष्ण से बचाने के लिए पहुँचती है। यही ग्रन्थ हमें दूसरे स्थान (विष्णु० १२६.११२, पृ० ७३२) पर बतलाता है कि कोटवती का सम्बन्ध उमा से भी था। उसे कार्त्तिकेय की माँ के नाम से पुकारा गया है, **हरिवंश** (विष्णु० १२६.१२२, पृ० ७३३)। यही नाम एकानंशा को भी दिया गया है (हरिवंश, विष्णु०, १२०.२०-२१, पृ० ६६६)। हरिवंश में ही दूसरे स्थान पर आर्या या एकानंशा के पर्याय के रूप में कौटीर्या नामक देवी को गिनाया गया है (विष्णु० १२०.१६, पृ० ६६६) जिसका सम्बन्ध बालकों से था।

७५. **हरिवंश,** विष्णु०, २.४१, पृ० २१८ ।
७६. वही, २.५१, पृ० २१९ ।
७७. वही, २.५४, पृ० २१९ ।
७८. वही, २.४५, पृ० २१८ ।
७९. वही, २.४७-४८, पृ० २१८ ।
८०. वही, ४.४६ पृ० २२५ ।
८१. वही ।
८२. वही, ३.१-३७, पृ० २१९-२०; १२०.१-४७, पृ० ६६५-६८ ।
८३. **विष्णुपुराण** (गीता प्रेस), ५ ३.२६, पृ० ३८२; १.८२-८३, पृ० ३७८ । **ब्रह्मपुराण** (मोर०) (१८१.३८-५३, पृ० १०७२-३) में भी यही अध्याय उद्धृत है ।
८४. **अग्निपुराण** (मोर०) १२.९-१३, पृ० १९-२० ।
८५. कूर्म पुराण (मोर०) २४.७४, पृ० ११२ ।
८६. 'कौमुदीमहोत्सव' में उल्लिखित एकानंशा से सम्बन्धित श्रीअमलानन्द घोष, भूतपूर्व महानिदेशक, पुरातत्त्व-विभाग द्वारा एक लेख प्रकाशित किया गया है--A Note on Ekanamsa, **Indian Culture** Vol. IV, no. 2, pp. 271-72। इस नोट की ओर पुरातत्त्व-विभाग के मुख्य अभियन्ता श्री आर० सेनगुप्त ने मेरा ध्यान आकृष्ट किया, तथा मेरी प्रार्थना पर श्रीघोष ने अपने लेख की प्रति टंकित कराकर मुझे भेजी, एतदर्थ मैं दोनों महानुभावों का कृतज्ञ हूँ।

८७. 'एकानंशा' शुद्ध रूप है । इसके अतिरिक्त वायुपुराण, (मोर०) ९६.२१५ पृ० ४७८ में 'एकादशा', देवीभागवत (मोर०) (१.३६) 'एकनन्दा', अंगविज्जा में 'एकणासा' तथा महाभारत के दक्षिणी पाठ एवं कौमुदीमहोत्सव में उसे 'एकानंगा' कहा है । स्कन्दपुराण के पुरुषोत्तमक्षेत्र-माहात्म्य (१९१०) में कृष्ण-बलराम की बहन को सुभद्रा कहा है ।

८८. **कौमुदी महोत्सव,** सं० रामकृष्णकवि तथा रामनाथ शास्त्री, मद्रास, १९२९, अंक ५, पृ० ३८ ।

89. वही, अंक १ ।

९०. **बृहत्संहिता** ५७.३७-३९ ।

९१. जोशी नी० पु०, देवी एकानंशा की कुषाणकालीन प्रतिमाएँ, **BMA.**, अंक १, मार्च, १९६८, पृ० २४-२९, म० सं० सं० यू० ४५; १५.९१२, तथा पं० गोविन्द चरण से प्राप्त मूर्त्ति सं० ६७.५२९ ।

९२. देखिए, पीछे 'शिव', पृ० ५२ ।

९३. **Journal of Indian Museums**, Vol. XXI-XXIV, 1965-68, Fig. 28, p. 76.

९४. देखिए, ऊपर ९१, पृ० २८ ।

९५. **हरिवंश,** विष्णु० १०१.१८, पृ० ६१८ :

दद‍ृशुस्तास्त्रियोर्मध्ये भगिनीं रामकृष्णयोः ।
रुक्मपद्मव्यग्रकरां स्त्रियं पद्मालयामिव ।।

९६. **हरिवंश,** विष्णु०, ७.७, पृ० २३२ ।

९७. Banerjee R. D., Bas-Reliefs from Badami **ASI. Memoirs**, No. 25., Pl. XI b......

९८. Agrawala R. C. Unpublished Temples of Rajasthan, **Arts Asiatiques**, Tome, XI, Facs. 2, 1965, p. 72, fig. 26.

९९. मथुरा-संग्रहालय में २९ ।
कलकत्ता-संग्रहालय (I.M.C.) में--१ ।
लखनऊ-संग्रहालय में ३ ।

१००. Hartel Herbert, **Indische Skulpturen**, I, 1960, Pl. 16.

१०१. **महाभारत**, वनपर्व, अध्याय २२४-३२, पृ० १५८८-१६१८, शल्यपर्व, ४६.३-३०, पृ० ४२६०-१, अनुशासन पर्व, ८६.३३, पृ० ५७४२ ।

१०२. Joshi N.P., Two Matrka Plaques in the State Museum, Lucknow, **BMA.**, Vol. 1, March 1968, pp. 18-23; कलकत्ता संग्रहालय सं० IMC. A. 25038.

१०३. **महाभारत**, वन०, २२८.१२, पृ० १६०० ।

१०४. वही, २२५.१२-१६, पृ० १५९३-४, अनुशासन ८६.३३, पृ० ५७४२ ।

१०५. वही, २२८.१३-१४, पृ० १६०० ।

१०६. वही, २२६.२९, पृ० १५९७ ।

१०७. अग्रवाल वासुदेवशरण, **प्राचीन भारतीय लोकधर्म**, पृ० ७, १४, इत्यादि

१०८. **महाभारत,** वन०, २२८.९-१०, पृ० १६०० ।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण, प्रथम २२६.२९।
पद्मपुराण (मोर०), सृष्टि०, ४८.७८-८१, पृ० ४८१।
अग्निपुराण (मोर०), अध्याय २९९, पृ० ६१७-१८ (बालग्रहों के अन्तर्गत लम्बी सूची) वही, १४६.६-२१, पृ० ३०१-२; ९६.९९-१०१, पृ० २०७-८; १७७.५-७, पृ० ३०३; १८५.११-१५, पृ० ३८६; २१९.८-११, पृ० ४१८; २१९.३७-३८, पृ० ४२०।
हरिवंश, विष्णु०, १०९.१४, पृ० ६४६; १०९.५३-६२, पृ० ६४८; भविष्य०, १४.३०, पृ० ७८२; १२६.२२-२३, पृ० ७२७; ६५.१४-१७, पृ० ९५२;
कूर्मपुराण (मोर०), १६.३-७, पृ० ७०; ८.१५-१८, पृ० २९, अध्याय १२ सहस्रनाम, पृ० ४१–५२।
वायुपुराण (मोर०), २०९.८५-९४, पृ० ४०।
स्कन्दपुराण (मोर०), माहेश्वरखण्ड, ३०.६३-७०, पृ० ३६०।

१०९. **अग्निपुराण** १४६.२१, पृ० ३०२।

११०. **हरिवंश,** विष्णु०, १०९.१४, पृ० ६४६; भविष्य० १४.३०, पृ० ७८२।

१११. आज भी लोगों में 'जीवन्तिका', 'जीवती', 'जिउतिया' आदि नामों से एक देवी का पूजन श्रावण एवं भाद्रपद महीनों में चलता है। यह देवी अनेक शिशुओं से परिवेष्टित लिखी जाती है।

११२. **महाभारत,** वन०, २२८.८-९, पृ० १५९९।

११३. **अग्निपुराण** (मोर०), ९३.२७-२८, पृ० १९५।

११४. ऊपर देखिए १०२, चित्र ३।

११५. म० सं० सं० ००.एफ् २, एफ् ३२; १५.७३९; ५७.४२९९; ५४.३७९३; ६२.१९; ००. एफ् ३; ल० सं० सं० ००. जे० ८४।

११६. **HIIA**., Fig. 82; Agrawala V.S., **Cat, JUPHS**., XXII, p. 202-3.

११७. Agrawala, P. K., **Skanda-Kartikeya**, Pl. VII. म० सं० सं० ४०·२९४९

११८. **महाभारत,** वन० २२७.१५-१६, पृ० १५९९; **स्कन्दपुराण** (मोर०), माहेश्वरखण्ड, २९,१६९-७०, पृ० ३५४ दोनों ग्रन्थों में पर्याप्त श्लोक-साम्य है।

११९. **DAK**., Pl. **X**, 192-94, p. 99 **HIIA**., Pl. 30, no. 126 A.

१२०. **DAK**., Pl. 195.

१२१. **महाभारत,** वन० २३०.१-६, पृ० १६०४-५।

१२२. **महाभारत,** वन०, २२८.१२, पृ० १६००।

१२३. वही।

१२४. Agrawala, R. C., Goddess Shashthi in Mathura Sculptures, **BMA**., no. 4, December 1969, pp.1–6.

१२५. अग्रवाल वासुदेवशरण, **प्राचीन भारतीय लोकधर्म,** पृ० ५९, **काश्यपसंहिता,** बालग्रह-चिकित्साध्याय, पृ० ६७।

१२६. Agrawala P.K. **Skanda-Kartikeya**, Varanasi 1967, p. 41, figs. 9-10.

१२७. Chhabra, B.C., A Newly Discovered Stone Inscription of Skanda Gupta's reign, **Proceedings of the All India Oriental Conference**, XII Session, Vol. **III**, p. 588–9

१२८. प्रारम्भिक विवेचन के लिए देखिए, **HDS.**, Vol. II, pt. 2, p. 738–9.

१२९. **HDS.**, Vol. V, pt. I, p. 157–

"वैश्यैशूद्रैर्भक्तियुक्तैः म्लेच्छैरन्यैश्च मानवैः।"

"एवं नाना म्लेच्छगणैः पूज्यते सर्वदस्युभिः।

अङ्गवङ्गकलिङ्गैश्च किन्नरैर्बर्बरैः शकैः।।

१३०. **हरिवंश**, विष्णु० २.४१, पृ० २१८; ३.९, पृ० २२०; इत्यादि।

१३१. Coomaraswamy A. K., **Catalogue of Indian Collections,** pts. 1 & 2, pl. III, No. 21.1709, p. 46.

१३२. Agrawala, V. S., **Cot., JUPHS.**, XXII, p. 152.

१३३. **Ancient India**, Vol. VI, January 1950, pl. XXV., C.; **Marg**, Vol. XII, no. 2, March 1959. p. **12,** fig. 1.

१३४. **Ancient India**, Vol. VI, pl. XXVIII D.

१३५. Allahabad Museum no. 152., Agrawala V.S., Terracotta figurines from Ahichchhatra, **Ancient India** no. 4, pl. XLVII, no. 121

१३६. Agrawala, V. S., Terracotta figurines From Ahichchhatra, **Ancient India**, no. 4, 1948, pl. XLVII B, No. 124.

१३७. Tucci Giuseppe, An Image of Devi discovered in Swat and some Connected Problems, **East and West** Vol. 14. Nos. 3-4, September–December 1963, pp. 146–182.

१३८. **कालिकापुराण**, वंगवासी प्रति, १८. ५.४२; ५.५०, पृ० ७९।

१३९. मातामही के अर्थ में हिन्दी-भाषा में प्रयुक्त होनेवाला 'नानी' शब्द पुरानी मातृसत्ताक कुटुम्ब-पद्धति का बोध करानेवाले इसी 'नाना' से तो सम्बद्ध नहीं है। काशी के पं० वासुदेव शास्त्री पटवर्धन से वार्त्तालाप के बीच यह पता लगा कि डाबर मन्त्रों में, जो कामरूप, नेपाल, कश्मीर आदि स्थानों के औघड़, नाथ आदि सम्प्रदायों में अधिक प्रचलित हैं, अनेक देवताओं की शपथ की जाती है, जिनमें 'नूना चमाईन' नामक देवता का नाम कई बार आता है। इसका सम्बन्ध बीबी नानी या ननैया से तो नहीं है।

इन मन्त्रों की शब्दावली में 'इलि मिलि किलि' आदि का प्रयोग बहुत अधिक होता है। इसे मराठी भाषा के 'इलीमिलीगूपचिली' से मिलाया जा सकता है, जिसकी लाक्षणिक ध्वनि गोप्य या रहस्य है।

१४०. Herald Ingholt, **Gandharan Art in Pakistan**, Fig. 577.

१४१. Dani A., Shaikhan Dheri Excavations (1963-64), **Ancient Pakistan**, Bulletin of the Department of Archaeology, University of Peshawar, Vol. II, 1965-66; pp. 17–213, pl. XXI, no. 2, p. 39.

१४२. देखिए १३७, पृ० १६६ के सामने चित्र १ और २।

१४३. कालेकर ना० द०, भगवती दुर्गा, '**आज**', वाराणसी, २६ सितम्बर, १६५७; देखिए चित्र एवं रेखाचित्र।

१४४. **वायुपुराण** (मोर०), उपोद्घात०, ६.६८, पृ० ४६।

१४५. **कामसूत्र** १.४.२७ : सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः। सरस्वती च नागरकाणां विद्या-कलास्वधिदेवता, तस्याऽयतने.......नायकेन पूजोपचारकाले प्रतिपक्षे प्रतिमासं च ये नियुक्ता नागरकनटादयो नर्त्तितुं तेषां समाजः।

१४६. Agrawala, P. K., **Gupta Temple Architecture**, Varanasi, 1968, pp. 65–66

१४७. A. I., pl. 2 fig. 344 (Yamuna).

१४८. Agrawala, R. C., More Sculptures from Amjhara, Rajasthan, **Arts Asiatiques**, Tome XII, 1965 p. 175, fig. 1.

१४९. वही, p. 176 figs. 2, 3.

१५०. Agrawala, R. C., A Rare Image of Varahi and the British Museum, **Oriental Art**, Autumn 1963, p. 167.

१५१. **DHI**., p. 506.

१५२. देखिए १४८, Fig. ६; **Marg** Vol. XII, March 1959, no. 2 Rajasthani Sculptures, fig. 2 facing p. 12.

अध्याय ५

कार्त्तिकेय

हरिवंश में कलियुग के लिए ब्रह्मा के मुख से भविष्यवाणी कराई गई है कि इस युग के प्रारम्भ से लोग महेश्वर और कुमार--इन्हीं दो देवताओं का आश्रय करेंगे।[१] स्पष्ट है, यह विधान अपने समय में प्रचलित महेश्वर और कुमार की लोकप्रियता की ओर संकेत करता है। हम जानते हैं कि कुषाण-शासक वेम को उसकी मुद्राओं पर 'माहेश्वर' या महेश्वर की उपासना करनेवाला कहा गया है। उसी प्रकार दूसरे कुषाण-शासक हुविष्क की मुद्राओं पर स्कन्द, कुमार और विशाख का हम अंकन पाते हैं। कुषाणों के बादवाली यौधेय मुद्राओं पर मुरग के साथ स्वामी ब्रह्मण्यदेव के रूप में कुमार या कार्त्तिकेय का अंकन है। कुषाण और गुप्तकालीन कार्त्तिकेय की अनेक प्रतिमाएँ उत्तर भारत में मिल चुकी हैं। साहित्य में कार्त्तिकेय कुमार, स्कन्द, देव-सेनापति, गांगेय, शिव-सुत, षडानन आदि अनेक नामों से पहचाने जाते हैं, किन्तु सुब्रह्मण्य के नाम से वे केवल दक्षिण भारत में ही प्रसिद्ध हैं। आज उत्तर में कार्त्तिकेय स्वतन्त्र रूप से लोकप्रिय नहीं हैं, किन्तु प्राचीन साहित्य, अभिलेख, कला, मुद्राएँ एवं अनुश्रुतियों में इस बात के प्रचुर प्रमाण हैं कि वे ईसवी सन् के प्रारम्भ के पूर्व से लगभग मुसलमानों के आगमन-काल तक उत्तर भारत में बहुत पूजे जाते थे। सप्तमातृकाओं की सूची में कार्त्तिकेय की शक्ति के रूप में 'कौमारी' की गणना भी इसका एक अन्य प्रमाण है।

कार्त्तिकेय की कथा की कड़ी ऋग्वेद से ही जोड़ने का प्रयास किया गया है[२], जहाँ उसका अग्नि से सम्बन्ध लक्षित होता है। उसका 'कुमार' नाम भी इसी युग की देन है। उत्तर वैदिककाल में 'स्कन्द' शब्द लोकप्रिय हुआ। शनैः-शनैः कुमार के साथ सनत्, विशाख, जयन्त, वैजयन्त, गुह, महासेन, धूर्त्त, लोहितगात्र आदि अनेक नाम जुड़ते चले गये। स्कन्द का विशेष उत्सव 'स्कन्दमह' के नाम से प्रचलित रहा।[३] स्कन्द के साथ एक और बात जुड़ गई, वह थी उनको धूर्त्त और चोरों का देवता माना जाना। अथर्ववेद के एक परिशिष्ट के रूप में स्कन्दयाग या धूर्त्तकल्प के दर्शन होते हैं, जहाँ स्कन्द को 'भगवान् देवो धूर्त्तः' कहा गया है।[४] इसी प्रसंग में आई हुई सिंहसंनाह, चित्रसंनाह, शक्तिसंनाह, माताओं के साथ धूर्त्त, लोहितगात्र, अष्टादश लोचन, लाल आँखवाले मुरगों का उल्लेख इत्यादि बातें महत्त्वपूर्ण हैं, जो स्कन्द-मूर्त्तिविज्ञान पर अच्छा प्रकाश डालती हैं। धूर्त्तकल्प का काल-निर्णय सरल नहीं है, पर इतना स्पष्ट है कि इसका निर्माण स्कन्द की उत्पत्ति एवं विकास-सम्बन्धी विविध धाराओं के मिश्रण एवं स्थिरीकरण के बाद ही हुआ है।

महाभारत-काल तक पहुँचते-पहुँचते स्कन्द-विषयक विभिन्न विचारधाराएँ अपनी जड़ें गहरी जमा चुकी थीं। संक्षेप में स्कन्द की उत्पत्ति के विषय में निम्नांकित चार मत प्रचलित थे[५]:

१. स्कन्द पितामह के ज्येष्ठ पुत्र सनत्कुमार थे।

२. वे महेश्वर के पुत्र थे।
३. वे विभावसु अग्नि के पुत्र थे।
४. वे उमा, गंगा और कृत्तिकाओं के पुत्र थे।

स्कन्द के सम्बन्ध में ज्ञात विभिन्न कथाओं का अनुशीलन करने पर निम्नांकित तथ्य विचारणीय लगते हैं:

(अ) कार्त्तिकेय को चारों ओर धूर्त्तों का देवता कहा गया है।

(आ) वे शिव और पार्वती के अंगज सन्तान नहीं हैं, अपितु उनके जन्म में सौन्दर्यासक्ति, अवैध सम्बन्ध, शक्ति-प्रयोग एवं बलात्कार, विश्वासघात आदि अनेक अवांछनीय तत्त्वों का मिश्रण है।

(इ) जन्मोपरान्त उनके द्विज-योग्य संस्कार करने के लिए कोई भी ब्रह्मजन्मा ब्राह्मण प्राप्त नहीं हुआ। इस प्रखर पराक्रमी बालक को सामाजिक दृष्टि से ऊपर उठाकर देवकोटि में उच्च स्थान दिलाने का भार विश्वामित्र ने उठाया[६], जो स्वयं जन्मतः क्षत्रिय थे और अपने बल से ब्राह्मण हुए थे।

(ई) स्कन्द ने समस्त देवताओं के ऊपर अपने पराक्रम से प्रभुत्व स्थापित किया था। अन्ततः देव-सेनापति के रूप में उन्हें स्वीकार करके देवेन्द्र ने उनका अभिषेक किया और अपने पक्ष को प्रबल बनाया।[७]

(उ) असुर तारक का वध करने के उपरान्त स्कन्द की दुष्ट प्रवृत्तियाँ पुनः एक बार जागरित हुईं और उन्होंने देव-स्त्रियों को बलात् अपने वश में करना प्रारम्भ किया। स्पष्टतः उनके सामने देव-शक्ति दिङ्मूढ थी, फलतः पार्वती को एक युक्ति का सहारा लेना पड़ा। उसकी माया के कारण स्कन्द जिस किसी स्त्री को धर्षित करने का प्रयत्न करते थे, वह उन्हें पार्वती की प्रतिरूपिणी दिखलाई पड़ती थी। अन्त में, स्त्री-मात्र को मातृरूप में देखने की उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली।[८]

(ए) वे देवता-संघ में ऊँचा स्थान अवश्य पा गये, पर उसके साथ ही उनका दुष्ट प्रवृत्तियोंवाला रूप लुप्त नहीं हुआ, अपितु बाल-ग्रह के नाम से बराबर बना रहा। उन्हें पिशाच, भूत तथा शिवा एवं अशिवा माताओं का अधिपति माना गया है[९] और इस रूप में वे घर के अन्दर पूजनीय नहीं हैं, अपितु 'वास्तुबाह्य' हैं।[१०]

उपर्युक्त बातें इस बात का स्पष्ट संकेत करती हैं कि स्कन्दोपासना में समय-समय अनेक विचारधाराओं का विलयन होता गया, जिनमें आर्य एवं अनार्य विचारों का मिश्रण था। यह वैचित्र्य स्कन्द की प्रतिमाओं में भी दिखलाई पड़ता है। उनकी मूर्त्तियों में हम देशी और विदेशी वेश-भूषा के दर्शन पाते हैं।

प्राचीन मुद्राओं पर स्कन्द-प्रतिमाएँ :

कुछ विद्वानों के मतानुसार आहत मुद्राओं पर जो दण्ड-कमण्डलु धारण करनेवाली पुरुष-प्रतिमा मिलती है, वह शिव की मूर्त्ति है, किन्तु दूसरा मत उसे शक्ति और ढाल

लिये योद्धा कुमार या स्कन्द का रूप मानता है।[११] वस्तुतः, यह विवादास्पद है। उसी प्रकार उज्जयिनी की पूर्व-कुषाणकालीन मुद्राओं पर अंकित त्रिमुख दण्ड-कमण्डलुधारिणी प्रतिमा भी सन्देह से परे नहीं है।[१२] कार्त्तिकेय की पूर्ण निश्चय के साथ की हुई सर्व-प्रथम पहचान यौधेय सिक्कों की सहायता से हुई है, जहाँ उन्हें षण्मुख-रूप में शक्ति लिये हुए दिखलाया गया है। इन सिक्कों पर एक ओर कार्त्तिकेय और दूसरी ओर देवी षष्ठी को दिखलाया गया है।[१३] षष्ठी और कार्त्तिकेय के परस्पर सम्बन्ध की चर्चा हम पहले कर चुके हैं।[१४] कुषाण-मुद्राओं पर स्कन्द, कुमार और विशाख के रूप में इस देवता का अंकन मिलता है।[१५] उत्तर भारत के कतिपय जनपदीय शासकों द्वारा चलाये गये कुछ सिक्कों पर 'कुक्कुट' स्तम्भ और मुरगे के साथ ताल-वृक्ष के दर्शन होते हैं। **डॉ० बनर्जी** ने इन्हें स्कन्दोपासना का ही प्रतीक माना है।[१६] गुप्तकाल में सम्राट् कुमारगुप्त स्कन्द का उपासक था। बिलसाद-लेख के अनुसार न केवल उसने स्वामी महासेन का मन्दिर ही बनवाया था[१७], अपितु अपनी स्वर्णमुद्राओं पर भी इष्ट देवता को अंकित किया था।[१८]

मिट्टी की मुहरों पर स्कन्द[१९]:

इस क्षेत्र में गुप्तकाल से स्कन्द के दर्शन होते हैं। भीटा और बसाढ़ से मिली मुहरों पर पंख फैलाया हुआ मोर दिखलाई पड़ता है। भीटावाली सील पर 'स्कन्दशूरस्य' ये अक्षर भी बने हैं। राजघाट (वाराणसी) से प्राप्त एक सील पर 'महाशी(शू)रस्य' इस नाम के साथ दो शक्तिधर पुरुष बने हैं।

गान्धार-कला में कार्त्तिकेय-प्रतिमाएँ :

यह हम पहले ही देख चुके हैं कि पश्चिमोत्तर भारत में शिव की प्रतिमाओं का प्राधान्य था, वहाँ की शक्ति-प्रतिमाओं पर भी हम विचार कर चुके हैं। कार्त्तिकेय की मूर्त्तियाँ भी उस प्रदेश के लिए अनोखी नहीं थीं। इस प्रकार की निम्नांकित प्रतिमाएँ हमें ज्ञात हैं:

१. तक्षशिला से प्राप्त शक्ति-कुक्कुटधारी कार्त्तिकेय की प्रतिमा, जिसके पैरों में ऊँचे जूते पहनाये गये हैं। पुराणों में वर्णित स्कन्द और सूर्य के अनुचर दण्ड की समानता का ध्यान कर **श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल** कार्त्तिकेय के जूतों का सूर्य के जूतों से मेल बैठाते हैं।[२०] यद्यपि इस तथ्य की सम्भावना को नहीं हटाया जा सकता, तथापि यह तो माना ही जा सकता है कि गान्धार स्कन्द के ये जूते केवल विदेशी प्रभाव के सूचक रहे हों, जैसा गान्धार-कला की कुबेर हारीति या फॅरो-आरडोक्सो की कुछ मूर्त्तियों से स्पष्ट होता है।[२१]

२. ब्रिटिश-म्यूजियम, लन्दन में सुरक्षित शक्ति-कुक्कुटधारी कार्त्तिकेय। यहाँ मस्तक के पीछे बने प्रभामण्डल के अतिरिक्त देव-सेनापति द्वारा पहना हुआ कवच उल्लेखनीय है। जूते नहीं हैं।[२२] अधोवस्त्र के रूप में धोती है।

३. इसीसे बहुत कुछ मिलती-जुलती प्रतिमा रोम के नेशनल म्यूजियम ऑव ओरिएण्टल आर्ट में है। शक्ति, कुक्कुट और कवच तो यहाँ भी हैं, पर धोती के स्थान पर पाजामा दिखलाई पड़ता है।

४. लन्दन के विक्टोरिया ऐण्ड अल्बर्ट म्यूजियम में भी एक छोटी-सी स्कन्द-प्रतिमा है। इनके बायें हाथ में कुक्कुट तथा दाहिने में शक्ति है। हाथों पर उत्तरीय है तथा कमर में हलकी-सी धोती पड़ी है। इस प्रतिमा की विशेषता यह है कि स्कन्द के मस्तक के पीछे अग्नि की ज्वालाएँ जहाँ अग्नि और स्कन्द के परस्पर सम्बन्ध को सूचित करती हैं, वहीं दूसरी ओर पश्चिमोत्तर भारत की कला की एक विशेषता भी है, जो कुषाण-राजाओं की कतिपय सुवर्ण-मुद्राओं में स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती है।

५. गान्धार-कला के स्कन्द की एक प्रतिमा बड़ौदा के संग्रहालय में भी विद्यमान है। यहाँ शक्ति तो है, किन्तु मुरगा नहीं है। कार्त्तिकेय कवच पहने हैं और मस्तक के पीछे देवत्व का सूचक प्रभामण्डल है।

६. लखनऊ के राज्य-संग्रहालय में भी गान्धार स्कन्द की एक मूर्त्ति है[२३] (चित्र-सं०–१०४)। यह मोर के ऊपर बैठी होने के कारण उपर्युक्त सभी मूर्त्तियों से भिन्न है। दाहिने हाथ में शक्ति थी, जो अब टूट गई है, केवल दण्ड का एक भाग बचा है। बायें हाथ में मुरगा है तथा मस्तक के पीछे प्रभामण्डल है। कुमार का वेश भारतीय है।

इस प्रकार, यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर-पश्चिम भारत में स्कन्द पर्याप्त रूप से ज्ञात थे। उनका आयुध शक्ति और खिलौना कुक्कुट भी ज्ञात था, किन्तु ध्यान देने की बात है कि ये अधिकतर मूर्त्तियाँ एकमुख ही हैं, षण्मुख नहीं और दूसरे वाहन के रूप में मोर का प्रयोग केवल एक में ही मिलता है।

कुषाण-काल की अन्य प्रतिमाएँ और उनकी विशेषता :

मूर्त्तिकला के क्षेत्र में ईसवी सन् के प्रारम्भ के पहले की कोई कार्त्तिकेय-प्रतिमा अबतक ज्ञात नहीं है। किन्तु, प्राप्य मूर्त्तियों की संख्या के आधार पर यह अवश्य कह सकते हैं कि कुषाण और गुप्तकाल में स्कन्दोपासना बहुत जोरों पर थी। अबतक हमें इस समय की कम-से-कम बीस मूर्त्तियों का ज्ञान है।[२४] इनमें पुरातत्त्व-संग्रहालय, मथुरा में रखी एक ऐसी भी मूर्त्ति है, जिसपर शक-वर्ष ११, ई० सं० ८९ का अभिलेख भी विद्यमान है (चित्र-सं० १०२, १०३)। इस अभिलेख में विश्वदेव और विश्वसोम नामक दो भाइयों द्वारा कार्त्तिकेय-प्रतिमा के संस्थापन की बात कही गई है।[२५] कुषाण-काल में कार्त्तिकेय बहुधा खड़े दिखलाये गये हैं। कभी हम इन्हें अग्नि के साथ भी देखते हैं (म० सं० सं० ४०. २८८३)। कुक्कुट या मुरगा उनका अपना खिलौना है, जो सूर्य के सारथि अरुण[२६] अथवा दूसरे मतानुसार समुद्र[२७] के द्वारा इन्हें दिया गया था। इस कारण से कार्त्तिकेय के ध्वज पर कुक्कुट की कल्पना की गई है। कानपुर जिले से कभी प्राप्त हुए लालाभगत-स्तम्भ पर, जिसका अब पता नहीं है, बड़े ही सुन्दर कुक्कुट-स्तम्भ के दर्शन होते हैं।[२८]

इस बात की भी सम्भावना व्यक्त की गई है कि लालाभगतवाला स्तम्भ कुमार का कुक्कुट-स्तम्भ ही रहा होगा।[२९]

अग्नि के अतिरिक्त मथुरा-कला में माताओं के साथ भी कार्त्तिकेय, उनका मेष तथा कूण्डा आदि भी दिखलाई पड़ते हैं। इस विषय की तथा देवी षष्ठी के साथ कार्त्तिकेय की विस्तृत चर्चा हम पहले कर चुके हैं।

कुषाणकालीन कार्त्तिकेय की निम्नांकित विशेषताएँ गिनाई जा सकती हैं :

१. इस काल में स्कन्द को हम एक मस्तक और दो हाथोंवाला ही पाते हैं।
२. कभी-कभी उसके मस्तक पर मुकुट होता है, पर बहुधा वह अनुपस्थित रहता है। सँवारे हुए बाल या तो जूड़े के रूप में मस्तक पर बँधे रहते हैं या पीछे की ओर फेरे रहते हैं। (रे० चि० ९८-९९)।
३. दोनों कन्धों पर लहराती हुई केशों की लटें भी कुषाण-स्कन्द की एक विशेषता है। (चित्र-सं० १०२)
४. स्कन्द का अत्यावश्यक आयुध शक्ति है। कभी-कभी इसके फाल पर पुष्पमालाएँ सुशोभित रहती हैं।
५. बहुधा स्कन्द के कण्ठ से सटा हुआ एक अलंकार तथा नीचे कोण बनाकर लटकाया ग्रैवेयक दिखलाई पड़ता है। (चित्र-सं० १०२)।
६. कार्त्तिकेय और कुक्कुट का सम्बन्ध पर्याप्त निकट का है। मथुरा के केवल एक उदाहरण को छोड़कर (म० सं० सं० ३२.२३३२, रे० चि० ९७) अन्यत्र दोनों एक साथ नहीं दिखलाई पड़ते, किन्तु गान्धार में कई स्थानों पर दोनों के एकत्र दर्शन हुए हैं (चित्र-सं० १०४)।
७. स्कन्द की मुखाकृति आदि रूप-योजना किसी कुमार के उपयुक्त ही बनाई जाती है।
८. कार्त्तिकेय के गले में कभी-कभी यज्ञोपवीत दिखलाई पड़ता है (ल० सं० सं० ९२१), जिसके गुप्तकाल में भी दर्शन होते हैं (चित्र-सं० १०५, म० सं० सं० ३२.२२७०)

गुप्तकालीन स्कन्द :

अब स्कन्द का रूप अधिक कोमल एवं सुडौल दिखलाई पड़ता है। पत्थर के अतिरिक्त इस काल की बनी मिट्टी की भी सुन्दर मूर्त्तियाँ हमें ज्ञात हैं। इनमें निम्नांकित मूर्त्तियाँ उल्लेखनीय हैं :

(क) पुरातत्त्व-संग्रहालय, मथुरा का मृण्मूर्त्ति-फलक (म० सं० सं० ३८.२७९४, म० सं० सं० ३२.२२७०)।

(ख) इसी संग्रहालय की एक प्रतिमा, जिसमें इन्द्र और ब्रह्मा द्वारा कुमार का अभिषेक किया जा रहा है (म० सं० सं० १४.४६६, रे० चि० ९६)।[३०]

(ग) भारत कला-भवन, वाराणसी की सुन्दर कार्त्तिकेय-मूर्त्ति।[३१]

(घ) पवाया से प्राप्त षडानन स्कन्द। राजा बलि का यज्ञ तथा महाकाय त्रिविक्रम का अंकन करनेवाला पवाया का गुप्तकालीन पट्ट (रे० चि० ४६) ग्वालियर-संग्रहालय में प्रदर्शित है। इसके पीछे कोने में छह सिर और बारह हाथवाले कार्त्तिकेय बने हैं, जिनका पूजन करनेवाले व्यक्ति भी स्पष्ट हैं। खण्डित होने के कारण कुमार के छह हाथ एवं तीन सिर ही देखे जा सकते हैं।

(ङ) ढलते या उत्तर-गुप्तकाल (लगभग ६-७वीं शती) की एक कांस्य-मूर्त्ति चम्बा के पर्वतीय प्रदेश से राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली के लिए प्राप्त की गई है। यहाँ कुमार के छह मस्तक हैं, पर हाथ चार ही हैं। मस्तकों के अंकन के लिए मथुरा की कुषाणकालीन शैली अपनाई गई है। इस मूर्त्ति की दूसरी विशेषता मयूर और शक्ति का मानव-रूप में अंकन है, जो अबतक कहीं भी नहीं मिला है।[३२]

गुप्तकालीन मूर्त्तियों का अनुशीलन करने पर हम इस काल की स्कन्द-मूर्त्तियों की निम्नांकित विशेषताएँ स्थिर कर सकते हैं:

१. कुमार के मस्तक पर मुकुट कम दिखलाया जाता था। बालों को सँवार कर तीन भागों में—शिखा या शिखण्डों में विभाजित कर देते थे (रे० चि० १००–१०२)। स्कन्दपुराण में कार्त्तिकेय के लिए प्रयुक्त 'जटी' और 'शिखण्डी' शब्दों[३३] का प्रयोग उपर्युक्त पद्धति की ओर संकेत करता है। 'जटी'-पद्धति की मूर्त्तियाँ हमें कुषाण-काल में भी मिलती हैं।

२. अब कुमारोचित एक नये आभरण का उदय होता है। कुषाण-काल का कोण बनानेवाला 'ग्रैवेयक' (चित्र-सं० १०२) लुप्त होकर वहाँ सुन्दर-से कठुले और बघनखे के दर्शन होने लगते हैं (चित्र-सं० १०६)। दुष्ट दृष्टियों से बच्चों को बचानेवाला यह अलंकार अब भी प्रचलित है।

३. कुमार और उसके वाहन मयूर का सान्निध्य बहुत अधिक बढ़ जाता है। कभी-कभी तो वह अपने मयूर को कुछ खिलाते हुए भी दिखलाये गये हैं (इलाहाबाद सं० सं० ६४६? रे० चि० १०६-७)।

४. कुषाण-काल की गान्धार-कला में दिखलाई पड़नेवाला मुरगा यहाँ नहीं दिखलाई पड़ता, अपितु दूसरे हाथ में कहीं-कहीं फल के दर्शन होते हैं (उदाहरणार्थ: भारत कला-भवन की प्रतिमा)।

५. शिव और विष्णु-प्रतिमाओं के समान आयुध-स्त्री के रूप में शक्ति का अंकन कदाचित् कलाकारों द्वारा प्रारम्भ कर दिया गया था, जिसका एकमेव ज्ञात उदाहरण कांस्य-प्रतिमा है।

६. यही बात वाहन के बारे में भी है। विष्णु का गरुड, शिव का वृष तथा क्वचित् अग्नि का मेष उत्तर-गुप्तकाल में पुरुष-वेश धारण कर

रहे थे। कार्त्तिकेय के मयूर ने भी वही किया, जैसा कि पूर्व-सन्दर्भित कांस्य-मूर्त्ति से स्पष्ट है।

७. गुप्तकालीन कुछ कार्त्तिकेय प्रतिमाओं में एक विशेष वस्तु दिखलाई पड़ती है। वह है––नन्हीं-सी घण्टी। इलाहाबाद की भूमरावाली मूर्त्ति (इ० सं० सं० १५०, रे० चि० १०५) में यह घण्टी मोर के गले में बँधी हुई है, किन्तु अहिच्छत्रा से प्राप्त खण्डित मृण्मूर्त्ति के कक्षबन्ध में घण्टी दिखलाई पड़ती है।[३४]

गुप्तोत्तर काल की मूर्त्तियों में भी कार्त्तिकेय की कई सुन्दर मूर्त्तियाँ बनीं। वे इस खण्ड में विवेचनीय नहीं हैं, किन्तु स्कन्दोपासना के प्रचार और लोकप्रियता का सबल साक्ष्य उपस्थित करती हैं।

सन्दर्भ-संकेत :

१. **हरिवंश**, हरिवंश-पर्व, ५३·६१, पृ० २०२।
२. 'कार्त्तिकेय' के विकास के लिए देखिए, P. K. Agrawala, **Skanda-Kartikeya**, Varanasi, 1967, Chapter 1––3, pp.1––37.
३. अग्रवाल, वासुदेवशरण, **प्राचीन भारतीय लोकधर्म**, पृ० ४५, खन्दमह।
४. Agrawala P. K., **Skanda-Kartikeya**, Appendix 2, pp. 104––7
५. वहीं, पृ० २४।
६. **महाभारत**, वन०, २२६.१०–१५, पृ० १५६६।
७. **स्कन्दपुराण** (मोर-प्रति), माहेश्वर खण्ड, ३०.१९–३८, पृ० ३५९।
८. **ब्रह्मपुराण** (मोर-प्रति), अध्याय ८१-८२, पृ० ५३६––५४०।
९. **सुश्रुत**, उत्तरतन्त्र, २७.३–५, ३७·९–११, **प्राचीन भारतीय लोकधर्म** में उद्धृत, पृ० ५०-५१।
१०. **अग्निपुराण** (मोर-प्रति), ९३.२७-२८, पृ० १९५।
११. Agrawala P.K., **Skanda-Kartikeya,** pp. 38-39.
१२. **DHI.**, pp. 117-18.
१३. Agrawala, P.K., **Skanda-Kartikeya**, p. 41, figs. 9-10
१४. देखिए पीछे, षष्ठी।
१५. **DAK.**, Pl. X. 192––94, p. 99.
१६. **DHI.**, p. 141.
१७. Sarkar, D.C., **Select Inscriptions,** no. 15, pp. 278-79
. . . . ब्रह्मण्यदेवस्य . . . . स्वामी महासेनस्य आयतने . . . . ।
१८. Agrawala, P. K., **Skanda-Kartikeya**: pp. -76-77.
१९. **DHI.**, pp. 199-200.
२०. Agrawala, R. C., Gandhar Skanda with Flames, **East and West** Vol. 18, Nos. 1-2, March—June 1968, p. 163.

२१. Joshi & Sharma, **Catalogue of Gandhar Sculptures in the State Museum, Lucknow, Lucknow,** 1969, Fig. 69.

२२. Agrawala, R. C., Gandhara Skanda with Flames **East and West**, Rome, **Vol.** 18, Nos. 1-2, 1968.
pp. 163—165 : प्रथम पाँच मूर्त्तियों का विवरण यहीं पर अवलोकनीय है। प्रथम मूर्त्ति के चित्र के लिए, Agrawala P. K., **Skanda-Kartikeya,** Pl. XIXa.

२३. Joshi & Sharma, **Catalogue of Gandhara Sculptures in the State Museum, Lucknow**, 1969, Fig. 71.

२४. AMM., E. 13, 15. 992, 15. 808, 42. 2949, 15. 629 19. 1579, 33. 2332, 15. 1179, 34. 2491, 40. 2883, 15. 1022, 29. 2019, 14. 466, S.N. 306.
SML., 0. 250, 57. 458, 49. 45, 0.237, J. 921,

२५. Nagar M. M., Some New Sculptures in the Mathura Museum, **JUPHS.**, XVI, Pt.1, pp. 65-66, fig 4.

२६. **स्कन्दपुराण** (मोर-प्रति), अवन्तिखण्ड, ४५.७०–७२, पृ० ११५।

२७. वही, माहेश्वर खण्ड, ३०.४१, पृ० ३५९-६०।

२८. **ASI.**, Annual Reports, 1929-30, pp. 132-33, Pl. G

२९. वही।

३०-३१. Agrawala, P. K., **Skanda-Kartikeya**, Pl. XVII a और b.

३२. Agrawala, R. C., A Rare Bronze of Skanda Kumara from the Panjab Hills, **Vishveshvaranand Indological Journal**, Vol. V, pt. 2 (Sept. 1967), pp. 206—8.

३३. **स्कन्दपुराण**, माहेश्वर खण्ड, ३१.१२८, पृ० ३५२।

३४. Agrawala, V. S., Terracotta Figurines from Ahichchhatra, **Ancient India** No. 4, 1948, Pl. XLII, B.

अध्याय ६

सूर्य

मानव-जीवन का स्रोत, प्रकाश और शक्ति का प्रतीक एवं प्रत्यक्ष रूप में प्राकृतिक शक्ति का प्रातिनिध्य करनेवाला सूर्य विश्व की अनेक प्राचीन संस्कृतियों में आराध्य देवता बना रहा है। सम्पूर्ण आकाश की दिन-भर में यात्रा करनेवाले सूर्य के रूप एवं प्रतीकों की अनेक प्रकार से कल्पनाएँ की गई हैं। कभी तो उसके प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ने-वाले मण्डलाकार स्वरूप को ही मुख्य माना गया है, कभी उसकी निरन्तर चलनेवाली यात्रा को ध्यान में रखकर उसके रथ, घोड़े और सारथि परिकल्पित किये गये हैं, कभी सूर्य के विविध कार्य, यथा अन्धकार का नाश, कमलादि पुष्पों का विकास, मनुष्यों के स्वास्थ्य पर पड़नेवाला प्रभाव आदि के अनुरूप सूर्य-ध्यान के विविध अंगों की कल्पनाएँ की गई हैं। भारत में आज प्रचलित सूर्योपासना के विकास में कई देशों की परम्पराएँ और उनसे हमारा लेन-देन सहायक हुआ है ।

यद्यपि भारत में सूर्योपासना के मूल वैदिक काल से ही मिलने लगते हैं, पर कुषाणों के समय से उसके कई परिवर्त्तन हुए और गुप्तकाल से यह पद्धति 'सौर सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हो गई। शिव, विष्णु एवं शक्ति के साथ सूर्य और गणपति को भी समान स्थान मिला और 'पंचदेवोपासना' के रूप में ये सभी उपासनाएँ समष्टि-रूप में दृढमूल हो गईं। इसी आधार पर पंचायतनों की कल्पना की गई है, जिसमें मुख्य देवता बीच में स्थित होता है, तथा शेष चार उसे अगल-बगल व आगे-पीछे से घेरे रहते हैं । फलतः पूजक अपनी रुचि के अनुसार विष्णु, शिव, देवी, सूर्य या गणपति के पंचायतनों में से किसी एक को चुनता है।[1] यही देवतापंचक स्वतन्त्र आयतनों या मन्दिरों के साथ जब एकत्र बनाये जाते हैं, तब उस सारे प्रासाद को पंचायतन-मन्दिर के नाम से पुकारा जाता है। उपासना की यह स्थिति गुप्तोत्तर काल से दृढ होती गई और आज भी इसी रूप में विद्यमान है । अस्तु;

सूर्योपासना के दो प्रतीक हैं--मण्डल और मूर्त्ति । आगे चलकर इन दोनों को मिलाकर एक मण्डल मूर्त्ति बनी, जिसके दो उपभेद बनते हैं--मण्डल के साथ सम्पूर्ण मूर्त्ति का चित्रण तथा मण्डल के अन्तर्गत केवल मानव-मुख का चित्रण। इनमें अन्तिम प्रकार बहुत बाद की वस्तु है, और हमारे विचार-कक्ष में नहीं आती।

मण्डल :

प्रथम मण्डल को लें । सूर्य की किरणावलि से युक्त मण्डल उसका प्रत्यक्ष स्वरूप है, जहाँ किसी अदृश्य कल्पना की आवश्यकता नहीं है। भारत का प्राचीनतम प्रतीक यही है। ऋग्वेद में इसका उल्लेख है तथा शतपथब्राह्मण इस बात को स्पष्ट करता है कि स्थण्डिल पर सूर्य का प्रातिनिध्य करने के लिए सुवर्ण का गोल टुकड़ा रखा जाय।[2] साम्ब उपपुराण

में कहा गया है कि 'पहले सूर्य की प्रतिमा नहीं थी, अपितु 'मण्डल' में ही उसका पूजन होता था। जिस प्रकार आकाश में सूर्य-मण्डल विद्यमान रहता है, उसी प्रकार पहले भक्त लोग मण्डल का निर्माण कर लिया करते थे। इसके बाद जबसे सब लोगों के हित के लिए विश्वकर्मा ने पुरुषाकृति-सूर्य का निर्माण किया, तब से घरों और मन्दिरों में प्रतिमाओं की स्थापना होने लगी।[3]

साहित्य से मिलनेवाले इन उल्लेखों की पुष्टि प्राचीन मुद्राओं से भलीभाँति होती है।[४] इस क्षेत्र में आहत मुद्राएँ (Punch-marked coins) इस देश की प्राचीन मुद्राएँ मानी जाती हैं। इनपर लगभग अनिवार्य रूप से चक्र के दर्शन होते हैं, जिसे 'सूर्य-चिह्न' माना गया है। इसी प्रकार का दूसरा चिह्न 'षडार चक्र' या छह आराओं-वाला मण्डल है, जिसे भी सूर्य-चिह्न के रूप में समझा जा सकता है। इसके बाद सूर्य-मण्डल या सूर्य-बिम्ब का सुस्पष्ट अंकन जनपदीय मुद्राओं के अन्तर्गत पांचालमित्र शासक 'सूर्यमित्र', 'भानुमित्र' के सिक्कों पर मिलता है। यहाँ किरणावलि से युक्त सूर्य-बिम्ब सूचि से युक्त वेदिका-स्तम्भों के बीच एक स्थण्डिल पर संस्थापित दिखलाया गया है।[५]

सूर्य का दूसरा प्रतीक कमल माना गया है। उसके विकास का सूर्य से सम्बन्ध, सूर्य के हाथों में प्रारम्भ से ही कमल का धारण किया जाना, विकसित कमल तथा किरणावलि से युक्त सूर्य-बिम्ब की समानता, देव-मूर्तियों में प्रभामण्डलों को कमलाकृति द्वारा अंकित किया जाना आदि कई बातें इस धारणा की ओर संकेत करती हैं। **डॉ० बनर्जी** ने भी प्राचीन मुद्राओं पर अंकित कमल को सूर्य का चिह्न माना है।[६]

मूर्त्ति :

साम्बपुराण का उद्धरण देते हुए हम यह बतला चुके हैं कि मूर्त्ति-रूप में सूर्य-पूजा बाद की वस्तु है। भविष्यपुराण के अनुसार[७] श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब के कुष्ठग्रस्त होने पर शाकद्वीप से अग्नि-पूजकों के विरोध के कारण[८] आये हुए मग ब्राह्मणों ने सूर्य-पूजा का विधान बतलाया था, जिसका अनुसरण करने पर साम्ब की कुष्ठ से मुक्ति हुई थी। महाभारत के अनुसार, शाकद्वीप के एक जनपद का नाम 'मंग' था, वहीं के रहनेवाले आचार्य लोग मग कहलाये होंगे। कदाचित् विश्वकर्मा, जिनका दूसरा नाम त्वष्टा भी था, और जो देवताओं के प्रमुख शिल्पी माने जाते हैं, इसी मंग-जनपद से सम्बद्ध रहे होंगे। त्वष्टा की पुत्री संज्ञा सूर्य को ब्याही गई थी तथा संज्ञा की इच्छा के अनुसार बेडौल और अत्यन्त प्रखर सूर्य को उन्होंने खराद पर चढ़ाकर सुन्दर और सुडौल बनाया था। उनके घुटनों तक काम करने के बाद सूर्य उस कष्ट को न सह सके, फलतः प्रार्थना करने पर त्वष्टा ने सूर्य के घुटने के नीचे के भाग को अपूज्य घोषित करके सूर्य को छोड़ दिया।[९] मार्कण्डेयपुराण की इस कथा को साम्ब उपपुराण की कथा के प्रकाश में देखने पर स्पष्ट होता है कि सूर्य को सुडौल रूप या मनोहर मानव-रूप देने में विश्वकर्मा का बहुत बड़ा हाथ था। 'विश्वकर्माशिल्प'[१०] नामक ग्रन्थ में सूर्य-मूर्त्ति बनाने का विस्तृत विधान दिया है, पर वहाँ पैरों का स्वतन्त्र उल्लेख नहीं है। सूर्य के पैरों को स्पष्टतः

छिपाने की बात बृहत्संहिता में खुलकर कही गई है।[११] सूर्य के पैरों की चर्चा बड़ी महत्त्वपूर्ण है, जिस पर पुनः आगे भी विचार करना होगा।

भारतीय कला में सूर्य की प्रतिमा शुंगकाल से मिलने लगती है। बोधगया के एक वेदिका-स्तम्भ पर उसे रथारूढ अंकित किया गया है।[१२] दूसरा रथारूढ सूर्य उड़ीसा की अनन्त-गुफा के द्वार पर मिलता है।[१३] लगभग इसी काल के भारतीय-यूनानी राजाओं में प्लेटो और फिलोक्सीनास की मुद्राओं पर 'हेलिऑस' या सूर्य के दर्शन होते हैं।[१४] सूर्यवाचक 'हेलिऑस' शब्द मूलतः यूनानी है, पर किसी समय वह हेलि रूप धारण कर अपने देवता के स्वरूप के साथ ही संस्कृत-भाषा में समा गया।[१५] अस्तु; प्लेटो की रजत-मुद्रा पर चार घोड़ों के रथ पर आरूढ सूर्य को हम देखते हैं। भारतीय-यूनानी राजाओं का समय लगभग २५६ ई० पू० से ५० ई० पू० के बीच माना गया है। समकालीन बोधगया के सूर्य भी चार ही घोड़ों के रथ में हैं, सारथि भी नहीं है, किन्तु धनुष पर बाण चढ़ाये ऊषा-प्रत्यूषा के दर्शन अवश्य होते हैं। रथ के पहिये नहीं दिखलाये गये हैं। प्लेटो के सूर्य में भी यही बात है। दक्षिण भारत में भी इस काल में रथारूढ सूर्य का अंकन प्रारम्भ हो गया था। भाजा की गुफा में एक विशालकाय राक्षस को रौंदकर चलनेवाले चार घोड़ों के सूर्य-रथ का अंकन किया गया है।[१६] यहाँ सूर्य की दोनों सेविकाएँ—ऊषा, प्रत्यूषा (?)—तथा रथ के दोनों पहिये स्पष्ट हैं, किन्तु सारथि का पता नहीं है। यह भी स्मरण रखने योग्य है कि ऊपर उल्लिखित तीनों मूर्त्तियों में कुशलतापूर्वक सूर्य के अधोभाग को रथ में छिपाकर पैरों को दिखलाने या न दिखलानेवाली समस्या को टाल दिया गया है।

कदाचित् यूनानी हेलियस की देखादेखी भारतीय कलाकारों ने अपनी रुचि के अनुसार चार घोड़ों के रथवाले सूर्य को शुंगकाल में बनाना प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु ईसा की प्रथम शताब्दी के आसपास शक-कुषाणों की, और उन्हीं के साथ शाकद्वीपीय मग लोगों की, जो धारा भारत में आई होगी, उसने कुछ काल के लिए सूर्य-मूर्त्ति के निर्माण में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन ला दिया, किन्तु शीघ्र ही दोनों परम्पराएँ एक-दूसरे में घुल-मिल गईं।

कुषाणकाल के प्रारम्भ से ही सूर्य-प्रतिमाओं की संख्या बढ़ने लगी। जैसाकि **डॉ० अग्रवाल** के कॅटलॉग से प्रकट होता है, अकेले मथुरा-संग्रहालय में १९३९ ई० तक बारह कुषाणकालीन और सोलह कुषाणोत्तरकालीन प्रतिमाएँ थीं। इनमें मध्यकालीन मूर्त्तियों की गणना नहीं है। अन्य संग्रहालयों एवं संग्रहों में छोटी-बड़ी कई सूर्य-मूर्त्तियाँ हैं।

कुषाणकालीन सूर्य-मूर्त्तियों में सबसे महत्त्वपूर्ण और कदाचित् ज्ञात मूर्त्तियों में प्राचीनतम पुरातत्त्व-संग्रहालय, मथुरा की प्रतिमा है (म० सं० सं० १२.२६९, चित्र-सं० १०७) अन्य विशेषताओं के अतिरिक्त इसमें सबसे बड़ी बात, जो बाद में नहीं दिखलाई पड़ती, वह है चरण-चौकी पर ईरानी अग्नि-वेदी का बना होना। हम इस बात का ऊपर संकेत कर आये हैं कि शाकद्वीप (शक-स्थान——सीस्तान——ईरान) में अग्नि और सूर्य-उपासकों के झगड़ों के फलस्वरूप सूर्योपासक मग भारत में आये। कदाचित् उन्हीं में से किसी मेधावी ने अग्नि की अपेक्षा सूर्य का स्थान उच्चतर दिखलाने के लिए प्रस्तुत मूर्त्ति में सूर्य के

पैरों के नीचे अग्नि की वेदी दिखला दी हो। समय के साथ प्रासंगिक स्वरूप का यह विवाद भुला दिया गया होगा और तब परिणाम-स्वरूप वेदीवाली बात भी सूर्य-मूर्त्ति से हट गई।

अग्नि-वेदी के अतिरिक्त सूर्य की चपटी टोपी, कन्धों पर लहराते हुए केश, होठों पर दिखाई पड़नेवाली नोंकदार मूँछें, लम्बा कोट, कसा हुआ पैजामा तथा पैरों में पड़े ऊँचे जूते--इस प्रतिमा की विशेषताएँ हैं, जो विदेशी वेशभूषा की दृढ़ सूचक हैं। उपासक अपने उपास्य को अपने ढंग से बनाता है (यथा देहे तथा देवे)। इस न्याय से बाहर से आनेवाले मगों के आराध्य सूर्य उन्हीं के समान हों, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। सभी कुषाण-प्रतिमाओं में लगभग यही ढाँचा अपनाया गया, और कुषाणोत्तर काल में, 'उदीच्य वेष' के नाम से इसपर मुहर की गई। इस प्रतिमा की कई बातें विकास की दृष्टि से भी विवेचनीय हैं, यथा :

१. **चपटी टोपी :**
सूर्य की अन्य मूर्त्तियों में बेल-बूटेदार चपटी-टोपी तो नहीं मिलती और उसका स्थान कहीं पगड़ी (ल०सं०सं० बी. २०८) और कहीं चपटे मुकुट (चित्र-सं० १०८) ने ले लिया है, तथापि कहीं ऊँचा कलँगीदार मुकुट अबतक नहीं मिला है।

२. **मूँछें और ऊर्णा :**
कुछ मूर्त्तियों में दिखलाई पड़नेवाली सूर्य की मूँछें (लखनऊ-सं० जे. ६६८, चित्र-सं० १०८) तथा भाल पर का ऊर्णा-चिह्न (मथुरा-सं० १२.२६९, चित्र-सं० १०७) उसकी मूर्त्तिगत विशेषताएँ नहीं, अपितु प्रारम्भिक कुषाण-काल की शैलीगत विशेषताएँ हैं, जो कुछ विष्णु, बुद्ध और अन्य मूर्त्तियों में भी विद्यमान हैं। समय के साथ ये बातें लुप्त हो जाती हैं।

३. **गले का कण्ठा और मणि :**
सूर्य को 'दिनमणि' कहते हैं। सूर्य के प्रतीकों में 'सूर्यकान्त' मणि एवं स्फटिक के स्थान प्रमुख हैं। सूर्य और उनके द्वारा वृष्णियों को प्रदत्त स्यमन्तक मणि की चर्चा कई स्थानों पर आती है।[१७] सूर्य की अधिकतर मूर्त्तियों में उनका मणियुक्त कण्ठाभरण दिखलाई पड़ता है।

४. **कमल और छुरी :**
सूर्य का कमल से प्राकृतिक सम्बन्ध है और कदाचित् इसी कारण से उसे सूर्य का एक प्रतीक भी मानते हैं।[१८] कुषाण-काल की प्रारम्भिक सूर्य-मूर्त्तियों में सूर्य के दाहिने हाथ में कमल की कली है तथा बाँये में छुरी (मथुरा-सं० १२.२६९, चित्र-सं० १०७)। इसी काल की दूसरी प्रकार की मूर्त्तियों में दोनों हाथों में कमल की अर्द्ध-विकसित कलियाँ हैं (चित्र-सं० १०८)। गुप्तकाल में पहुँचते-पहुँचते ये कमल पूर्ण विकसित हो जाते हैं और बाद में सदैव के लिए सूर्य के स्थायी चिह्न बन जाते हैं। कुषाण-काल

की छुरी गुप्तकाल की तलवार में बदल जाती है और हाथ से हटकर कमर में लटकने लगती है (चित्र-सं० १०६)।

कुषाण-काल की छुरी और पद्मवाली बात को अग्निपुराण में खड्ग और पद्मधारी सूर्य के रूप में बतलाया गया है।[१९] वही पुराण कुछ श्लोकों के पहले 'द्विपद्मधृक्' सूर्य का वर्णन करता है।[२०] मत्स्यपुराण के अनुसार, सूर्य के ये कमल कन्धों पर टिके होने चाहिए[२१]। सूर्य की तलवार की बात गुप्तकाल की बृहत्संहिता में अंकित है,[२२] यद्यपि अन्य लक्षण-ग्रन्थ उसे अधिक महत्त्व नहीं देते।

५. लम्बा कोट और कमरबन्द :

कुषाण-काल में उद्भूत सूर्य की यह विशेषता बाद में भी कई प्रकार से बनी रही। 'चोलक'[२३], 'कवच'[२४], 'कंचुक'[२५] आदि नामों से गुप्तकाल में पहचाने जानेवाले सूर्य का कोट कुषाण-काल से अधिक भिन्न नहीं है। उसी प्रकार कमरबन्द का सूर्य के साथ सम्बन्ध बहुत दिनों तक चला। इस वस्तु को विष्णुधर्मोत्तरपुराण 'रशना' या 'यवीयांगा' नाम से पहचानता है।[२६] गुप्तकालीन प्रतिमाओं में इसके दर्शन होते हैं।

६. जूते :

भारतीय परम्परा के अनुसार पावित्र्य के क्षेत्र में जूते अवांछनीय हैं, किन्तु सूर्य के साथ जूतों का सम्बन्ध कम-से-कम उत्तर भारत में शिष्ट परम्परा द्वारा सम्मत है। इसके विपरीत ईरानी वेशभूषा में जूतों को सम्माननीय स्थान था। सूर्य-प्रतिमा का उद्भव उधर से होने के कारण उसके साथ जूतों का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। वैसे उत्तर-पश्चिम भारत की मूर्त्तियों में स्कन्द, फॅरो (कुबेर), आरडोक्शो (हारीति) आदि को हम जूतों के साथ पाते हैं, किन्तु उनके जूते भारतीय मूर्त्तिविज्ञान के अनुसार बनी हुई उनकी उत्तर भारत की मूर्त्तियों को प्रभावित न कर सके, किन्तु सूर्य-मूर्त्तियों के साथ वे बराबर बने रहे। फिर भी, यह सत्य है कि सूर्य के जूतों को हम आसानी से नहीं पचा सके। उसके जूतों को हमने 'जूते' नहीं कहा, यद्यपि उन्हें बनाया जूते ही। जूतों को छिपाने के लिए निम्नांकित प्रयत्न विचारणीय है :

१. बृहत्संहिता के अनुसार सूर्य-मूर्त्ति पैर से उरु या जंघा तक 'गूढ' या गुप्त रहनी चाहिए।[२७]

२. विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार सूर्य को रथ में बैठा दिखलाना चाहिए।[२८] इससे पैर आसानी से छिप जाते थे।

३. रूपक को स्पष्ट करते हुए विष्णुधर्मोत्तर बतलाता है कि असह्य तेज होने के कारण सूर्य को 'गूढ-गात्र' दिखलाना चाहिए।[२९]

४. मत्स्यपुराण का कथन है कि सूर्य के चरण तेज या प्रकाश से आवृत्त होने चाहिए।[३०] तात्पर्य यह कि अत्यन्त प्रकाशमान होने के कारण लोगों की आँखें उन्हें देख नहीं सकतीं।

५. सूर्य के पैरों को अपूज्य बतलानेवाले मार्कण्डेयपुराण के कथन का उल्लेख हम कर चुके हैं।

६. महाभारत की एक कथा के अनुसार संसार में जूतों का प्रचलन सूर्य देवता द्वारा ही हुआ। उन्होंने ही सर्वप्रथम जमदग्नि ऋषि के शाप से बचने के लिए उनकी पत्नी रेणुका को जूते और छतरी—ये दो वस्तुएँ दीं, जिनकी सहायता से ऋषि-पत्नी प्रखर धूप से अपने को बचा सकी।[३०A]

७. इतना सब होते हुए भी जूतों के प्रत्यक्ष अंकन से बचनेवाले कलाकार सूर्य को रथ में बैठा दिखलाकर कुशलतापूर्वक उसकी कमर से नीचे-वाले भाग को छिपा देते थे।

दक्षिण भारत ने सूर्य के खुले पैरों को स्पष्ट रूप से दिखलाने में कभी आनाकानी नहीं की।

रथ :

सूर्य-प्रतिमा में रथ का भी कम महत्त्व नहीं है। आकाश का यह चिर-प्रवासी रथ में बैठकर ही गगन-मण्डल में परिभ्रमण करता है। कुषाण-गुप्तकाल की एक मूर्त्ति में भारतीय ढंग से सूर्य का अंकन करते हुए उसे प्रभामण्डल से आवृत किया गया है, गगन-संचार के द्योतक दो नन्हे-से पंख उसके कन्धों पर लगे हैं तथा उसे घोड़ों के रथ में विराजमान कराया गया है (मथुरा-संग्रहालय सं०-डी. ४६)।[३१]

सूर्य का चार घोड़ोंवाला रथ या Quadriga भारतीय-यूनानी राजा प्लेटो की रजत-मुद्राओं पर भी अंकित है। मथुरा की प्रारम्भिक सूर्य-प्रतिमा में (मथुरा-सं० सं० १५.८६४, १२.२६६, चित्र १०७) सूर्य को रथारूढ तो नहीं दिखलाया है, पर आसन के अगल-बगल दो घोड़े दिखलाकर रथ का संकेत कर दिया गया है। अन्यत्र कुषाण-मूर्त्तियों में चार घोड़ोंवाले सूर्य-रथ की कमी नहीं है (मथुरा-सं० सं० डी. ४६, ल०सं०सं० बी. २०८)। छह घोड़ों की या सप्तमुख उच्चैःश्रवा की कल्पना कुषाण-काल में उदित नहीं हुई, गुप्तकालीन मूर्त्तियों में भी कदाचित् यह अधिक लोकप्रिय नहीं रही, पर मध्यकाल तक इसने अपनी जड़ें पक्की कर लीं।

अब यह भी माना जाता है कि सूर्य के रथ में दो नहीं, अपितु एक ही पहिया है। कुषाण-कालीन रथों में पहिये अंकित नहीं हैं। मथुरावाले कुषाण-गुप्तकालीन सूर्य-रथ में बीचोंबीच एक पहिया-सा दिखलाई पड़ता है (म० सं० सं० डी. ४६), पर अधिक सम्भावना इस बात की है कि

वह रथ का पहिया न होकर जूए और आँख (अक्ष) को जोड़नेवाला घुमावदार डण्डा हो।

८. **परिवार :**

विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार सूर्य का परिवार बहुत बड़ा है। सूर्य की दो पटरानियों और सारथि के अतिरिक्त उषा-प्रत्यूषा नामक सहचरियाँ, यम-रेवन्तादि चार बेटे, दण्ड-पिंगल नामक दो सेवक, अनेक ऋषिगण आदि अनेकों का उसमें समावेश है।[३२]

विदेशी प्रभाव-युक्त सूर्य-प्रतिमा में कोई भी परिवार देवता अंकित नहीं है, यहाँ तक कि सारथि का भी अभाव है। सूर्य अकेले ही हैं, भले ही वे रथ में हों या आसन पर बैठे हों। कुषाण-कला में खड़े सूर्य कम मिलते हैं। पेशावर से मिले धातुकरमण्डक पर तथा कुषाणों की मुद्राओं पर तो खड़े सूर्य हैं, किन्तु मथुरा-कला में कोई ऐसी प्रतिमा मुझे ज्ञात नहीं है। अस्तु;

बोधगया और भाजा की शुंगकालीन मूर्त्तियों में सूर्य-परिवार दिखलाई पड़ता है। बोधगया में[३३] अपने बाणों से अंधकार का विनाश करनेवाली ऊषा-प्रत्यूषा तथा सूर्य के ऊपर आक्रमण करनेवाले तम के प्रतिनिधि राक्षस विद्यमान हैं। भाजा[३४] में सूर्य का रथ तम-राक्षस को पैरों-तले रौंद रहा है। ऊषा-प्रत्यूषा भी विद्यमान हैं, किन्तु वे बाण नहीं चला रही हैं। कदाचित् अन्धकार-रूपी राक्षस के प्रतिहत होने के उपरान्त उन्होंने अपने बाणों को उतार लिया है।

परिवार की दृष्टि से प्रारम्भिक सूर्य-प्रतिमाओं में लालाभगत-स्तम्भ पर बना सूर्य भी विचारणीय है।[३५] कुषाण-काल की इस प्रतिमा में भी अन्धकार दैत्य के मस्तक पर ही सूर्य-रथ बना है तथा दोनों देवियाँ भी बनी हैं। सूर्य की, इन्हीं मूर्त्ति-लक्षणों से प्रेरित गान्धार-कला में दो प्रतिमाएँ मिली हैं[३६], जिन्हें सूर्य कहा गया है। यद्यपि प्रकाशित मूर्त्ति को पीछे बने हुए अर्द्धचन्द्र-युक्त प्रभामण्डल एवं खुले पैर के कारण सूर्य मानना कठिन है, तथापि रथ के नीचे बनी मानव-आकृति तथा रथ पर मुख्य देवता की बगल में खड़ी स्त्री-मूर्त्ति इस बात के द्योतक हैं कि प्रस्तुत मूर्त्ति के निर्माण में भी रथारूढ सूर्य-प्रतिमा को ही आधार माना गया था। गुप्तकाल में स्वतन्त्र रूप से बनाई गई सूर्य-प्रतिमाएँ अधिकतर दण्ड-पिंगल के साथ हैं, किन्तु चन्द्र के साथ बने सूर्य रथारूढ भी मिले हैं (लखनऊ-संग्रहालय, बी. २२३—एक कोना, चित्र-सं० ११०)। यहाँ रथ में होते हुए भी सूर्य पलथी मारकर बैठे हैं, पलथी में पैर छिपे हैं तथा स्कन्धस्थ कमल हैं। शर-सन्धान करनेवाली ऊषा-प्रत्यूषा परिवार-रूप में हैं, किन्तु अब घोड़ों की संख्या ७ हो गई है। इस प्रकार के रथ पर बैठे अकेले सूर्य की प्रतिमाएँ अज्ञात नहीं हैं (म० सं० सं० डी. ४८)।

६. छत्र :

सूर्य का जूतों के ही समान छत्र से भी पुराना सम्बन्ध है। महाभारत-वाली कथा का हम संकेत ऊपर कर चुके हैं, जिसमें ऋषिपत्नी रेणुका को सूर्य द्वारा जूते और छत्र दिये जाने की बात कही गई है। बोधगया भाजा तथा लालाभगतवाली सूर्य-मूर्त्तियों में छत्र को प्रधानता से दिखलाया गया है। यह बात तब अधिक महत्त्व की लगती है, जब हम देखते हैं कि इस काल तक की किसी अन्य देवता की मूर्त्ति का सम्बन्ध छत्र के साथ नहीं है।

काबुल की सूर्य-प्रतिमा :[३७]

काबुल के पास ख़ैरख़ाने नामक स्थान से मिली संगमरमर की गुप्तकालीन सूर्य-प्रतिमा इस सन्दर्भ में विचारणीय है। सूर्य रथारूढ हैं। अगल-बगल दण्ड और पिंगल हैं तथा पैरों के नीचे सारथि है। विशेषताएँ यह हैं कि रथ में केवल दो ही घोड़े हैं, जो प्राचीन परम्परा थी, तथा सूर्य के मस्तक के पीछे किसी प्रकार का प्रभामण्डल नहीं है। दोनों हाथ भग्न हैं, अतः आयुधों के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। **डॉ॰ अग्रवाल** के मतानुसार इस मूर्त्ति पर ससानी प्रभाव स्पष्ट है।

अहिच्छत्रा की प्रतीकमयी रथारूढ सूर्य-प्रतिमा :[३८]

यह मृत्फलक अपने ढंग का अनोखा है। वर्त्तुलाकार बिम्ब के मध्य में सात देवियों से युक्त एक एक-चक्र रथ बना है। प्रत्यक्ष सूर्य का कोई चिह्न नहीं है। ये सातों देवियाँ कदाचित् अभय-मुद्रा में बनी थीं। सूर्य का 'सात' की संख्या से विशेष निकट का सम्बन्ध है। उसकी किरणों में भासमान होनेवाले सात रंग, रथ के सात घोड़े आदि बातें इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य हैं।

अलंकरणों में सूर्य :

कुषाण-काल में सूर्य-मूर्त्ति इतनी लोकप्रिय थी कि अलंकारों के लिए भी सूर्य-अभिप्राय का उपयोग किया गया है। मथुरा से प्राप्त एक कुषाण-कालीन स्त्री-मस्तक के सीमन्त-फलक पर रथारूढ सूर्य बने हैं (लखनऊ-संग्रहालय-संख्या ४६.८०) [३९]

सूर्य-चन्द्र :

आकाश में प्रत्यक्ष दिखलाई पड़नेवाले ये दो ग्रह युग्म-रूप में कला में भी अवतरित हुए हैं। पेशावर से प्राप्त धातुकरण्डक पर कुषाण राजा के अगल-बगल में प्रभामण्डल और अर्द्धचन्द्र से शोभित द्विभुज सूर्य और चन्द्र बने हैं।[४०] मथुरा से प्राप्त एक विशाल शिलापट्ट पर, जो अपने मूल रूप में किसी विशाल द्वार का ऊपरी भाग रहा होगा, कभी दोनों सिरों पर रथारूढ सूर्य और चन्द्र बने थे, जिनमें अब केवल सूर्य बचा है।[४१] गढ़वा नामक स्थान से प्राप्त एक गुप्तकालीन धन्नी या सिरदल पर सूर्य-चन्द्र को इसी रूप में अंकित किया गया है (लखनऊ-संग्रहालय सं॰ बी. २२३a, b)।

सूर्य-चन्द्र की प्रतिमाओं का उपयोग काल या समय के प्रतीक के रूप में भी हुआ है। मथुरा से प्राप्त एक कुषाण-कालीन वराह-प्रतिमा (चित्र-सं॰ ५९) के ऊपर उठे हुए

दोनो हाथों में वर्त्तुलों के बीच में दो रथारूढ प्रतिमाएँ दिखलाई गई हैं। घोड़ों के रथ में बैठे होने के कारण दोनों की सूर्य-रूप में ही पहचान की गई थी[४२], किन्तु दो सूर्यों का अभिप्राय स्पष्ट नहीं था। हरिवंश[४३], एक स्थान पर चन्द्र का वर्णन करते हुए उसे सफेद घोड़ों के रथ में आरूढ बतलाता है। इस प्रकार, यह सिद्ध होता है कि कभी सूर्य की ही भाँति रथारूढ चन्द्रमा की कल्पना की गई थी तथा वराह के हाथ में दिखलाई पड़नेवाले दो रथारूढ देवता सूर्य और चन्द्र हैं, जो क्रमशः दिन और रात की आँखों के प्रतीक हैं और इसीलिए मत्स्यपुराण वराह को 'अहोरात्रेक्षणधरः' कहता है।[४४] वराह के अतिरिक्त मूसानगर (चित्र-सं० ६), रंगमहल (रे० चि० २९) आदि स्थानों से प्राप्त शिव के ऊपरी हाथों में चन्द्र-सूर्य दिखलाई पड़ते हैं, जो महाकाल के सर्वोपरि स्वामित्व के सूचक हैं।

चन्द्र :

अन्य देवताओं के समान चन्द्र की स्वतन्त्र उपासना या चन्द्र-मन्दिरों के विद्यमान रहने के प्रमाण नहीं मिलते, किन्तु चन्द्र की कतिपय प्रतिमाएँ अवश्य मिलती हैं। कुषाण राजाओं की मुद्राओं पर सूर्य के समान 'माओ' नाम से चन्द्र-प्रतिमा का अंकन हुआ है। द्विभुज चन्द्र पुरुषाकृति है तथा उसके मस्तक के पीछे चन्द्र-कोर बनी है। इसी प्रकार की चन्द्र-मूर्त्ति कनिष्क के पेशावरवाले धातुकरण्डक पर बनी है।

चन्द्र की इतरत्र मूर्त्तियाँ कम हैं। उसके सफेद घोड़ों के रथ पर आरूढ होने की हरिवंशवाली बात हम बतला चुके हैं तथा वराह-मूर्त्ति के हाथों में उसका अंकन भी देख चुके हैं। गान्धार-कला की एक रथ पर आरूढ मूर्त्ति, जिसे साधारणतया सूर्य के नाम से पहचाना जाता है[४५], लेखक के मतानुसार चन्द्र की होनी चाहिए; क्योंकि एक तो यहाँ देवता के बैठने की पद्धति सभी ज्ञात सूर्य-प्रतिमाओं से भिन्न है, दूसरे उसके पैर खुले हैं, जो देश में मान्य परम्परा के अनुसार ढके होने चाहिए, तीसरे देव-मस्तक के पीछे अर्द्धचन्द्र बना है, न कि प्रभामण्डल। घोड़े के रथवाली बात हरिवंश के प्रकाश में चन्द्र के लिए भी लागू थी। लगता यह है कि यह मूर्त्ति स्वतन्त्र प्रतिमा न होकर किसी शिल्प-खण्ड का भाग होगी, जिसके दूसरे छोर पर रथारूढ सूर्य बने हों।

गुप्तकाल में भी सूर्य के साथ चन्द्र की प्रतिमा मिलती है। उसका एक प्रकार तो दो घोड़ों के रथ में आरूढ चन्द्र का ही है। पीछे चन्द्रकोर है।[४६] गढ़वा से मिले विशाल सिरदल के छोर पर चन्द्रदेव अपनी पत्नी रोहिणी के साथ बैठे हैं (ल० सं० सं० बी. २२३)। विष्णुधर्मोत्तरपुराण के समय गुप्तकाल में शिव-पार्वती के समान विभिन्न देवताओं को उनकी पत्नियों के साथ दिखलाने की प्रथा लोकप्रिय हो गई थी। जब शची के साथ इन्द्र, सिद्धि के साथ गणेश, रिक्षुभा के साथ सूर्य, आदि अनेक जोड़ों का वर्णन है, तब चन्द्र ही भला अकेले क्यों रहते ? उनकी सत्ताईस पत्नियों में रोहिणी सबसे प्यारी थी। एतावता गढ़वा के कलाकारों ने चन्द्र-रोहिणी को साथ-साथ दिखलाया (लखनऊ-सं० सं० बी. २२३) होगा।

चन्द्र-प्रतिमाओं को छोड़ने के पूर्व एक और बात की चर्चा आवश्यक है। अबतक गिनाई हुई प्रतिमाओं में चन्द्र को पुरुष-रूप में ही अंकित किया गया है। भारतीय

ज्यौतिषशास्त्र के अनुसार चन्द्र स्त्री-ग्रह है। अँगरेजी-भाषा में भी 'चन्द्र' शब्द स्त्रीलिंग है। इसके कारण-परम्परा की मीमांसा हमें यहाँ अभीष्ट नहीं है, किन्तु मथुरा-संग्रहालय की एक मूर्त्ति (सं०सं० १५.६३५) आसनस्था देवी की है, जिसके मस्तक के पीछे चन्द्रकोर बनी है। शैली के आधार पर इसे कुषाण-गुप्तकाल की मानना होगा। इस मूर्त्ति के आधार पर कह सकते हैं कि भारतीय ज्यौतिषवाली परम्परा कभी मूर्त्तिविज्ञान के क्षेत्र में भी पहुँची थी।

सन्दर्भ-संकेत :

१. **HDS.**, Vol. 2, Pt. II, p. 717.

२. Hazra, R. C., **Studies in the Upa-puranas**, Calcutta, 1958, p. 30, fn. 7 cites **Rgveda**, I., 175·4; IV. 28. 2, 30; V. 29. 10 and Sata. P. Br., VII 4.1.10.

३. वही, **साम्बपुराण**, २९·२—६

न पुरा प्रतिमा ह्यासीत् पूज्यते मण्डले रविः।
यथैतन्मण्डलं व्योम्नि स्थीयते सवितुस्सदा ॥

—डॉ० हाजरा के मतानुसार इस अध्याय का निर्माणकाल ई०सन् ५००–८०० के बीच का है। देखिए स्टैडीज, पृ० ५७।

४. **DHI.**, pp. 138-139.

५. **DHI.**, pl. II, 8, p. 139.

६. **DHI.**, p. 138.

७. **EHI.**, vol. I. pt. 2, p. 301.

८. Ibid., pp. 301-2.

९. **मार्कण्डेयपुराण** (मोर प्रति), अध्याय ७७, पृ० २७९–८२।

१०. **EHI.**, Vol. I, pt. 2, pp. 303, 309-10.

११. **बृहत्संहिता**, ५७·४६, कुर्यादुदीच्यवेषं गूढं पादादुरोयावत्।

१२. **HIIA.**, fig. 61, pl XVII.

१३. Shah, U. P., **Studies in Jain Art**, p. 7.

१४. Srivastava, A. K., **Catalogue of Indo-Greek Coins in the State Museum, Lucknow**, 1969, pl. II, no. 11606, also line drawing no. 8

१५. **DAK.**, p. 77.

१६. **HIIA.**, fig. 24, pl. VII.

१७. **महाभारत**, सभा० १४·६० के बाद दाक्षणात्य पाठ।

१८ **अग्निपुराण** ५१·४-६, पृ० ९७ द्वादश-दल कमल पर बारह राशियों और महीनों की कल्पना है।

१९. **अग्निपुराण** ५१.१०—पद्मखड्गभृत्।

२०. वही, ५१.१—द्विपद्मधृक्।

२१. **मत्स्यपुराण** (मोर) २६०.३, पृ० ७३६, स्कन्धस्थेपुष्करे।

२२. भट्टनीलोत्पल द्वारा बृहत्संहिता की टीका में उद्धृत काश्यप वाक्य—

आदित्यस्तरुणः स्रग्वी कवची खड्गभृत्तथा।
तेजस्वी पङ्कजकरः षड्वर्गश्च किरीटवान्॥ —बृहत्संहिता, ५७।

२३. **मत्स्य०** २६०·४।

२४. **विष्णुधर्मोत्तरपुराण,** तृतीय ६७·२।

२५. **बृहत्संहिता,** ५७.४८ कञ्चुकगुप्तः।

२६. वही, तृतीय ६७.३।

२७. **बृहत्संहिता,** ५७.४६।

२८. **विष्णुधर्मोत्तर,** तृतीय ६७·११।

२९. वही, तृतीय ६६.१६।

३०. **मत्स्यपुराण,** २६०.४, चरणौतेजसावृतौ; ३०A **महाभारत,** अनु०, अध्याय ६५-६६, पृ० ५७७१—७४।

३१. **HIIA.**, fig. 103, pl. XXIX.

३२. **विष्णुधर्मोत्तर,** III. ६७.२—११।

३३. **HIIA.**, fig. 61, pl. XVII.

३४. **HIIA.**, fig. 24, pl. VII.

३५. **DHI.**, pl. XXIX, fig. 1.

३६. **DHI.**, pl. XXVIII, fig. 3, Majumdar, N. G., A **Guide to the Sculptures in the Indian Museum,** pt. 2, 1937, p. 113, nos. 154, 242.

३७. Agrawala, V. S., Gupta Art, **JUPHS.**, Vol. XVIII, 1945, pl. VII, fig. 9, p. 134 b.

३८. Agrawala, V. S., Terracotta Figurines of Ahichchhatra, **Ancient India**, Vol. IV, 1948, p. 130, pl. XLI.

३९. वाजपेयी, कृष्णदत्त, **मथुरा** में सचित्र प्रकाशित।

४०. Herald, Ingholt, **Gandharan Art in Pakistan,** 1957, fig. 495

४१. **AI.**, pt. 1, fig. 144,

४२. जोशी, नीलकण्ठ पुरुषोत्तम, **मथुरा की मूर्त्तिकला,** फलक १०१ तथा विवेचन के लिए परिशिष्ट २ देखिए।

४३. **हरिवंश,** हरिवंश-पर्व, ४४.२४, पृ० १०३।

४४. **मत्स्यपुराण** (मोर प्रति), २४७.६८।

४५. IMC, A 23236, DHI.

४६. पदपवाया से मिली त्रिविक्रम की मूर्त्ति, जिसमें त्रिविक्रम के पिछले चक्रवाले हाथ के पास चन्द्र-रथ है। मूर्त्ति के पीछे नृत्य-गान तथा एक छोर पर षण्मुख कार्त्तिकेय है।

अध्याय ७

गणेश

भारतीय मूर्त्तिशास्त्र की समस्यामूलक देव-प्रतिमाओं में एक गणेश भी हैं। विघ्नों का विनाश करनेवाले, मांगल्य के एकमात्र देवता गणेश या गणपति को आज आसेतु-हिमाचल अग्रपूजा का सम्मान प्राप्त है। पितृकार्य के अतिरिक्त अन्य प्रत्येक कार्य के आरम्भ में गणपति का स्मरण, आवाहन या पूजन अनिवार्य माना जाता है। घरों और मन्दिरों के मुख्य द्वार के सिरदल पर गणेश की नन्हीं-सी आकृति अवश्य बनी रहती है। यहाँतक भाषा में किसी कार्य के प्रारम्भ को लक्षणा से कार्य का 'श्रीगणेश' करना ही कहते हैं। परन्तु आश्चर्य है कि गणेश का यह सार्वभौम स्थान बहुत प्राचीन काल से नहीं चला आ रहा है। वेदों और उपनिषदों का प्रारम्भ गणपति-स्मरण से नहीं होता, स्मृतियाँ भी ऐसा नहीं करतीं। रामायण और महाभारत में गणेश-नमन से मंगल नहीं किया गया है, यहाँ तक कि अधिकतर पुराण भी आदिश्लोक में गणपति को नमस्कार नहीं करते। शिलालेखों में भी यही स्थिति है। गुप्तकाल तक के बहुत-से लेखों में अर्हतों को नमस्कार किया गया है, या केवल 'सिद्धम्' शब्द से काम लिया गया है। कुछ लेख ब्राह्मणधर्म के देवताओं में विष्णु, सूर्य, वराह आदि को नमस्कार करके प्रारम्भ किये गये हैं, परन्तु गणेश का उल्लेख करनेवाले लेख नगण्यप्राय हैं। ललितविस्तर आदि ग्रन्थों में जो उपास्य देवताओं की सूची मिलती है, उसमें भी गणेश का उल्लेख नहीं है।

साहित्य की ओर जब हम दृष्टिक्षेप करते हैं, तब गणेश की प्राचीनता कुछ और बढ़ जाती है। ऋग्वेद का 'गणानां त्वा गणपतिम्' वाला मन्त्र (ऋ० २.२३.१) प्रचलित परम्परा के अनुसार गणपति या गणेश के लिए प्रयुक्त माना जाता है। परन्तु, वस्तुतः यह सायण के मतानुसार ब्रह्मणस्पति के लिए है, जो देवादि गणों के पति हैं।[१] ये ब्रह्मणस्पति आज के गणपति नहीं हैं। इसी प्रकार वाजसनेयी संहिता के 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे (वा० सं० २३.१९) वाले मन्त्र का अभिप्राय अश्वमेध के घोड़े से है, न कि गणेश से।

हमारे गणपति का स्पष्ट उल्लेख मैत्रायणी संहिता की गणेश-गायत्री (एकदन्ताय विद्महे०) तथा गणपत्यथर्वशीर्ष, जिसे 'गणेशोपनिषद्' भी कहते हैं, में मिलता है। विद्वानों ने इन गायत्रीवाले भागों तथा गणेशोपनिषद् को बहुत बाद का माना है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं लगता कि ईसवीसन् के प्रारम्भ के बहुत पूर्व गणपति का साहित्य में प्रवेश हो चुका था, यद्यपि मूर्त्तिकला के क्षेत्र में ये बहुत बाद में आये। कदाचित् इनकी उपासना को शास्त्रीय धरातल एवं मान्यता प्राप्त करने में इतना समय लग गया होगा।

गणपति के प्रारम्भिक रूप और उपासना के प्रारम्भ का विचार करते हुए इसका उद्भव 'यक्ष' और 'नागों' की उपासनाओं में माना गया है।[२] **श्रीरामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर** गणपति का सम्बन्ध उन विनायकों से बतलाते हैं, जो स्वभाव से क्रूर होते हैं और विघ्नों को उत्पन्न करते हैं। उपासना करने पर वे शान्त होते हैं। गणपति का 'विघ्नेश्वर' या 'विघ्नराज' नाम, याज्ञवल्क्य-स्मृति में अम्बिका के पुत्र के रूप में 'विनायक' का उल्लेख (१.२७१) आदि बातें इसकी ओर संकेत करती हैं। पुराण-साहित्य में जैसे-जैसे गणेश का महत्त्व बढ़ता है, उनके साथ कई कथाएँ आकर जुड़ती जाती हैं और मध्यकाल तक पहुँचते-पहुँचते 'गणेशपुराण' और 'मुद्गलपुराण' जैसे गणेश से सम्बद्ध स्वतन्त्र उपपुराणों की रचना भी हो जाती है। शनैः-शनैः गाणपत्यों का स्वतन्त्र सम्प्रदाय बन जाता है और तन्त्र और योगशास्त्र में भी गणपति प्रविष्ट हो जाते हैं।

गणेश के रूप की ओर जब हम ध्यान देते हैं तो ठिंगना कद, छोटी टाँगें, लम्बा पेट तथा हाथी का मुँह और मस्तक--ये बातें विशेष रूप से दिखलाई पड़ती हैं। इनमें पहली तीन बातों का निकटतम सम्बन्ध यक्ष-प्रतिमाओं से है। सभी यक्षों के मुख अनिवार्यतः मानव के नहीं होते, पशुओं के भी होते हैं यथा गोमुख, अश्वमुख आदि। **डॉ० कुमारस्वामी** ने कई वर्षों पूर्व निसन्दिग्ध रूप से यह दिखलाया है कि गणेश-प्रतिमा का मूल अमरावती-स्तूप से मिले एक उष्णीष (Coping) पर अंकित गज-मुख यक्षों में है।[३] **डॉ० बनर्जी** के मतानुसार गणपति का विद्या से सम्बन्ध उसके और वैदिक ब्रह्मणस्पति या बृहस्पति के नाम-साम्य के कारण प्रतिष्ठित हुआ होगा।[४]

गणेश का शिव से सम्बन्ध प्राचीन काल से माना जाता है। गणपत्यथर्वशीर्ष में स्पष्टतया उसे 'शिव-सुत' कहा गया है। शिव का भी एक नाम 'गणपति' है।[५] शिव की कतिपय विशेषताओं का बोध करानेवाले नाम यथा 'त्रिलोचन', 'भालचन्द्र', 'परश्वायुध गणेश के भी नाम हैं; क्योंकि उनके ध्यान में भी ये बातें समाविष्ट हैं। शिव से सम्बद्ध होने का एक विशिष्ट प्रमाण--जिसकी ओर कम विद्वानों का ध्यान गया है--गणेश का 'लिंग-प्रदर्शन' है, जो उनकी कुछ मूर्त्तियों में बड़ा ही स्पष्ट है (चित्र-सं० ११२)। शिव और गणेश का पिता-पुत्र होना लगभग सभी पुराणों को मान्य है, यद्यपि गणेश की जन्म-कथा के विषय में कई मतान्तर हैं।[६]

अब गणेश की मूर्त्तियों पर विचार करें। प्रतिमा-लक्षणों से सम्बद्ध अधिकतर ग्रन्थ गणपति के चतुर्भुज, षड्भुज, दशभुज, अष्टादशभुज आदि अनेक ध्यानों का वर्णन करते हैं। इनका विशेष विवेचन गणेशपुराण में मिलता है। इनमें चतुर्भुज मूर्त्तियाँ अधिक लोकप्रिय रही हैं। इन सबके अतिरिक्त हमें कुछ द्विभुज गणेश-प्रतिमाएँ ज्ञात हैं। साहित्य में द्विभुज गणपति के ध्यान केवल दो स्थानों पर दिये गये हैं: बृहत्संहिता[७] में और दूसरे गणेशपुराण में कलि-पूज्य गणपति का वर्णन करते समय।[८] इनमें निस्सन्देह बृहत्संहिता का उल्लेख प्राचीन है, जिसके अनुसार गणेश के हाथ में परशु और मूली होनी चाहिए।

गणेश की अबतक की प्राप्त प्राचीनतम मूर्त्तियाँ मथुरा के लाल चित्तेदार पत्थर की बनी हैं, जो निम्नांकित हैं :

(क) संकिसा से मिले द्विभुज खड़े गणेश। बायें हाथ में मोदक-पात्र है, जिसपर गणेश की उसी ओर घूमी हुई सूँड़ टिकी है। दाहिने हाथ में ली गई वस्तु निश्चित रूप से नहीं पहचानी जाती।[९]

(ख) मथुरा-संग्रहालय की १५.७५८, १५.७६२ व १५.१०६४ संख्यक मूर्त्तियाँ। तीनों द्विभुज हैं, लम्बोदर हैं तथा सूँड़ें बाईं ओर घूमी हैं। मोदक-पात्र तथा सर्प-यज्ञोपवीत भी अवलोकनीय हैं।

ये सभी मूर्त्तियाँ तीसरी से चौथी शती के बीच या उससे कुछ पूर्व की हो सकती हैं। मोदक-पात्र तथा दो हाथों के अतिरिक्त अलंकार-शून्यता, एक ही दाँत का दिखलाया जाना, साँप का जनेऊ, प्रारम्भिक गणेश-प्रतिमाओं की विशेषताएँ मानी जा सकती हैं। एक अन्य बात, जो विशेष रूप से संकिसा की प्रतिमा तथा मथुरा की १५.७५८ संख्यक मूर्त्ति में अवलोकनीय है, वह है गणेश की नग्नता। इन दोनों मूर्त्तियों में वस्त्राभाव के अतिरिक्त लिंग का प्रामुख्य से अंकन है, यद्यपि यहाँ 'उर्ध्वमेढ्र' वाली कल्पना नहीं है।

इसके बाद की गणेश-मूर्त्तियाँ गुप्तकाल की हैं, जो उदयगिरि,[१०] अहिच्छत्रा,[११] भीतरगाँव (चित्र-सं० १११), देवगढ़,[१२] राजघाट (वाराणसी) आदि स्थानों से मिली हैं। ये प्रतिमाएँ पत्थर या मिट्टी के माध्यम से बनाई गई हैं। इनका अध्ययन करने पर हमारा ध्यान निम्नांकित बातों की ओर विशेष रूप से खिंच जाता है :

१. गणेश का मस्तक प्राकृतिक हाथी का है, उसे मुकुट या अन्य अलंकार नहीं पहनाये गये हैं। केवल गणेश ही नहीं, अपितु यह बात साधारण रूप से कही जा सकती है कि प्रारम्भिक काल की मानवेतर मुखवाली मूर्त्तियों को मुकुट, उष्णीष या अन्य प्रकारों के अलंकारों से विशेष सजाने की प्रथा लोकप्रिय नहीं थी। इस बात की जाँच, पशुमुखी मातृदेवियाँ, बकरे के मुखवाले नैगमेश, उदयगिरि के वराह तथा प्रारम्भिक नरसिंह की मूर्त्तियाँ आदि को देखकर की जा सकती है।

२. लगभग सभी गणेश बाईं ओर सूंड़ घुमाये और उसी ओर के हाथ में मोदक-पात्र लिये हुए हैं। इनका लड्डू-प्रेम भीतरगाँव (चित्र-सं० १११) और कसिया की मूर्त्तियों (लखनऊ-संग्रहालय) से भी स्पष्ट होता है।

३. उदयगिरि के गणेश द्विभुज हैं, पर अब सामान्यतः चार हाथोंवाला रूप अधिक लोकप्रिय हो गया था।

४. हाथों में धारण की जानेवाली वस्तुओं में मोदक-पात्र के अतिरिक्त दूसरों का अभी अनिवार्य स्थान नहीं बना था। भीतरगाँववाले (चित्र-सं० १११) मोदक-पात्र को ले भागनेवाले गणपति के हाथों में हमें कोई आयुध नहीं दिखलाई पड़ता। देवगढ़वाले गणेश लड्डूवाले कटोरे के अतिरिक्त परशु, दन्त और कदाचित् मूली (?) लिये हैं।

संस्कृत-विश्वविद्यालयवाले वाराणसी के गणेश बाईं ओर के ऊपरवाले हाथ में दाँत या मूली तथा दाईं ओर के नीचेवाले हाथ में बिजौरा (बीजपूरक) लिये हैं।

५. प्रारम्भिक काल और गुप्तकाल के सभी गणपति अधिकतर खड़े हैं। नृत्तगणेश आगे की चीज हैं।

६. गणेश के परिवार का यदि विचार किया जाय, तो यह स्पष्ट होता है कि प्रारम्भिक काल में गणेश का कोई परिवार नहीं मिलता। यहाँतक कि उनका वाहन चूहा भी नहीं है।
देवगढ़ की मूर्त्ति में गणेश के अगल-बगल दो छोटे यक्ष दिखलाई पड़ते हैं, जिनमें से एक लड्डुओं की टोकरी ढो रहा है।

७. इस समय के गणेश अलंकार-प्रिय नहीं लगते, परन्तु उनका सर्प-यज्ञोपवीत अवश्य ही प्राचीन है, जो कभी-कभी उदर-बन्ध में भी परिणत हो जाता है।

८. इसी प्रसंग में पुनः गणेश की नग्नता का भी विचार करना होगा। ठेठ गुप्तकालीन मूर्त्तियों में उदयगिरि के गणेश स्पष्टतया उर्ध्वमेढ़ स्थिति में बैठे हैं। काबुल के गणेश में भी यही बात है (चि० ११२)।

अफगानिस्तान की गणेश-मूर्त्तियाँ :

इसी प्रसंग में अफगानिस्तान से मिली गणपति की दो गुप्तकालीन मूर्त्तियों का उल्लेख आवश्यक है, जिन्हें हाल ही में **श्रीरत्नचन्द्र अग्रवाल** ने प्रकाशित किया है।[१४] इनमें से एक जिसे 'महाविनायक' कहा गया है, वाही-सम्राट् खिंगिल के समय की है और गुप्ताक्षरों में लिखे गये अभिलेख से युक्त है (चित्र-सं० ११२)। यह मूर्त्ति द्विभुज है तथा सूँड़ को अन्दर की ओर मोड़ लिया गया है यद्यपि झुकाव बाईं ओर है। दोनों हाथ अब खण्डित हो चुके हैं। यह मूर्त्ति अब भी काबुल में पीर रतननाथ दरगाह में पूजित है।

दूसरी मूर्त्ति भी काबुल के शोरबाजार में पूजा पा रही है, जो वहीं के सकरधर नामक स्थान पर मिली थी। इसके ऊपर कोई लेख नहीं है, किन्तु शैली के आधार पर विद्वानों ने इसे भी गुप्तकाल का ही माना है। यह चतुर्भुज है। हाथों की रचना गुप्तकालीन विष्णु के समान है और उसी प्रकार से गणेश के नीचे की ओर लटकते हुए पिछले दोनों हाथ दो नन्हें-से पुरुषों के मस्तकों पर टिके हैं, जो स्पष्टतया विष्णु के आयुध—पुरुषों का प्रातिनिध्य करते हैं। अन्य हाथों में दाहिना हाथ कमल की कली लिये है तथा बायें में मोदक-पात्र रहा होगा। गणेश के बायें कन्धे से लटकनेवाला सर्प-यज्ञोपवीत स्पष्ट है।

इन दोनों मूर्त्तियों में गणेश का उर्ध्वलिंग होना तथा व्याघ्राम्बर पहनना बहुत ही स्पष्ट रूप से दिखलाया गया है। गणेश के सर्प-यज्ञोपवीत और व्याघ्राम्बर की चर्चा विष्णुधर्मोत्तर[१५] ने 'व्याघ्रचर्माम्बरभृतः सर्पयज्ञोपवीतवान्' इन शब्दों में की है।

गाणपत्य-सम्प्रदाय का अधिक विकास गुप्तोत्तर काल में हुआ। अतः गणेश-मूर्तियों के विविध प्रकार—यथा नृत्तगणेश, हेरम्ब, महागणपति, उच्छिष्ट गणपति आदि प्रतिमाएँ विचाराधीन कालखण्ड में नहीं आतीं।

सन्दर्भ-संकेत :

१. DHI., p. 575., सम्पूर्णानन्द, गणेश, वाराणसी, सं० २००१, पृ० १।

२. DHI., pp. 356–7.

३. DHI., p. 356.

४. DHI., p. 356.

५. **महाभारत,** अनुशासन १७.४२, पृ० ५५१६।

६. सम्पूर्णानन्द, गणेश, पृ० ९।

७. **बृहत्संहिता,** ५७ प्रमथाधिपो गजमुखः प्रलम्बजठरः कुठारधारीस्यात्। एकविषाणो बिभ्रन्मूलकदण्डं············।

८. **गणेशपुराण,** उत्तरार्द्ध १.२.१–कलौ तु धूम्रवर्णोसावचश्वारुढो द्विहस्तवान्।

९. Getty, Alice, **Ganesha**, Oxford, 1936, pl. 2a.

१०. DHI., pl. XV, 1.

११. Agrawala, V. S., Terracotta Figurines from Ahichchhatra, **Ancient India**, Vol. 4.

१२. Vats, M. S., The Gupta Temple at Deogarh, ASI., Memoir no. 70, 1951, pl. X, (b)–Ganesha on pillar medallion.

१३. संस्कृतविश्वविद्यालयीय संग्रहालय, वाराणसी, चौमुखी मूर्त्ति।

१४. Agrawala, R. C., Urdhvaretas Ganesh from Afghanistan, **East and West**, Vol. 18. March–June 1968. pp. 166–68.

१५. **विष्णुधर्मोत्तर,** III., 71·13–16, Baroda Ed., 1961 by P. B. Shah, p. 198.

अध्याय ८

ब्रह्मादि विविध देवताओं की प्रतिमाएँ

किसी समय शिव और विष्णु की भाँति ब्रह्मा को भी सम्माननीय स्थान प्राप्त था और इनकी भी पूजा होती थी। ब्रह्मा की उत्पत्ति के विषय में अनेक कथाएँ विद्यमान हैं।[1] एक कथा के अनुसार आदिसर्गिक बीज तथा विष्णु-रूप योनि के संयोग से एक सोने का अण्डा बना, जिससे ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। दूसरी परम्परा यह बतलाती है कि जल-तत्व और आकाश-तत्वों से ब्रह्मा वराह-रूप में प्रकट हुए। कूर्मपुराण[2] के अनुसार ब्रह्मा प्रथम 'शरीरी' हैं और उनके चार रूप हैं—परामूर्त्ति, प्रजापति, हिरण्यगर्भ और वेदार्थवेदी भगवान्।* ब्रह्मा के द्वारा प्रजापतियों का प्राकट्य हुआ और प्रजापतियों ने सृष्टि का निर्माण किया, अतः ब्रह्मा सृष्टि के पितामह या 'दादा' कहलाये। धाता, प्रजापति, विधाता, कमलासन, चतुर्मुख, विरञ्चि आदि नाम ब्रह्मा के ही पर्याय हैं।

सृष्टि, स्थिति और लय—इन तीन प्रमुख कार्यों में प्रथम का उत्तरदायित्व ब्रह्मा के कन्धों पर है। ये रजोगुण के प्रतीक हैं। उत्पादन ही इनका मुख्य कार्य होने के कारण किसी दैत्य से इनका युद्ध अथवा इनके द्वारा उसका संहार होना—ये बातें सहसा नहीं सुनाई पड़तीं। ये सुर और असुर दोनों के लिए वन्दनीय थे। कितने ही राक्षसों, असुरों वा दैत्यों ने प्रखर तपस्या करके इनसे दुर्लभ वरदान प्राप्त किये थे। साधारणतः पौराणिक कथाओं का यह ढाँचा ही है कि असुरादिकों को ब्रह्मा के द्वारा वरों की प्राप्ति होती थी, वरों के कारण वे उन्मत्त हो जाते थे और अन्ततोगत्वा कोई-न-कोई मार्ग निकालकर देवों को विष्णु या शिव उनका खोया हुआ ऐश्वर्य वापस दिलाते थे।

इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मा की उपासना एक समय तक जोर-शोर से होती रही, पर आगे वे अपना स्थान न टिका सके। विष्णु के नाभि-कमल से उनकी उत्पत्तिवाली कथा ने सहज ही उन्हें विष्णु का पुत्र अर्थात् विष्णु की अपेक्षा न्यून सम्माननीय घोषित किया। लिंगोद्भव मूर्त्तिवाली कथा (देखिए, पीछे पृ० ५१, ५८) में शिव का स्थान ब्रह्मा से कहीं ऊँचा बतलाया गया है। इस कथा में तो उसे असत्य बोलने का भी दोष दिया गया है। यहाँ ब्रह्मा स्पष्टतया झूठा विधान करते हैं कि उन्होंने ज्वालामय शिव-लिंग के ऊपरी छोर का पता लगा लिया है। उनका शिव-विरोध एक अन्य कथा द्वारा

---

*ब्रह्मा के इन रूपों को उनके 'व्यूह' तो नहीं कहा गया है, पर वासुदेव के चार व्यूह तथा शिव की मूसानगरवाली प्रतिमा (देखिए, इसी ग्रन्थ के पृष्ठ ३५-३६) में अंकित चार मूर्त्तियों के परिप्रेक्ष्य में ब्रह्मा के चार रूपों को भी समझना अयुक्तिसंगत नहीं होगा।

भी प्रकट होता है, जिसके अनुसार ब्रह्मा को पहले पाँच मस्तक थे, पर शिव ने एक प्रसंग से उनका पंचम मस्तक काट डाला था।

तीसरी कथा इस बात का संकेत करती है कि ब्रह्मा ने एक यज्ञ के अवसर पर अपनी पत्नी सावित्री को बुलाया, पर वह शीघ्रतापूर्वक वहाँ उपस्थित न हो सकी। फलतः, ब्रह्मा चिढ़ गये और उन्होंने दूसरी पत्नी गायत्री को लेकर कार्य प्रारम्भ कर दिया। स्वभावतया इससे सावित्री रुष्ट हुई और उन्होंने ब्रह्मा को 'अपूज्य' होने का शाप दिया। ब्रह्मा के महत्त्व को गिरानेवाली इससे अधिक प्रभावशाली वह कथा है, जिसके अनुसार ब्रह्मा ने ही सावित्री को उत्पन्न किया था और उसीपर––अपनी कन्या पर ही––आसक्त हो गये थे।

पौराणिक साहित्य की ये या इस प्रकार की अन्य कथाएँ इस बात के प्रमाण हैं कि ब्रह्मा अपने एक समय के सम्माननीय स्थान से गिरते गये तथा असुरों पर अनुग्रह, असत्य-भाषण, कन्यासक्ति, संहारशक्ति की अक्षमता इत्यादि बातों के कारण लोकादर के भी पात्र नहीं रहे। आज शिव, शक्ति, गणपति, सूर्य आदि देवताओं की भाँति ब्रह्मा के स्तोत्रों का गायन करनेवाला कोई भी सम्प्रदाय नहीं है। भारत में पुष्कर (राजस्थान), खेडब्रह्म (गुजरात) आदि इने-गिने स्थानों पर ही ब्रह्मा के मन्दिर हैं।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, प्राचीनकाल में यह स्थिति नहीं थी। रामायण और महाभारतकाल में ब्रह्मा श्रेष्ठ उपास्य थे। ललितविस्तर[३], दिव्यावदान[४] आदि बौद्ध-ग्रन्थों में उपास्य देवताओं की जो सूचियाँ प्राप्य हैं, उनमें ब्रह्मा का उल्लेख है। महाकवि दण्डी के दशकुमारचरित्र में भी ब्रह्मा के मंदिर का संकेत मिलता है[५]। इस प्रकार के कतिपय उल्लेखों के होते हुए भी इतना कहना ही पड़ेगा कि ब्रह्मोपासना को ऐतिहासिक काल में लोकमान्यता का ऊँचा पद नहीं मिला था, मध्यकाल तक पहुँचते-पहुँचते यह मान्यता भी लगभग अस्तंगत हो गई।

वेदों के स्रोत, यज्ञ के पुरोहित साक्षी ब्रह्मा ब्राह्मण माने गये हैं। इनके चार मुखों से वेदचतुष्टय का प्राकट्य परिकल्पित है। ब्रह्मा के चार हाथ हैं, जिनमें यज्ञपात्र, पोथी, माला, कमण्डलु एवं वराभय मुद्राएँ रहती हैं। हंस इनका वाहन है, पर किसी शस्त्र से इनका सम्बन्ध नहीं है। इन्हें साधारणतया स्थूलकाय दिखलाते हैं। ब्रह्मा के इन संक्षिप्त लक्षणों की ओर दृष्टिपात करने के अनन्तर उत्तर-भारत में गुप्तकाल तक मिलनेवाली इनकी प्रतिमाओं का विचार करें।

गुप्तपूर्व-काल की ऐसी कोई प्रतिमा हमें ज्ञात नहीं है, जिसे निश्चय के साथ हम ब्रह्मा के रूप में पहचान सकें। प्राचीन विद्वानों में से कुछ ने मथुरा-संग्रहालय की एक कुषाणकालीन मूर्त्ति (म० सं० सं० १४.३८२) को ब्रह्मा माना था, पर अब इस मत की मान्यता में सन्देह व्यक्त किया जा चुका है।[६] मथुरा से ही मिली हुई दो गुप्तकालीन प्रतिमाएँ कलकत्ता (इण्डियन म्यूजियम संख्या ए० २५१०६, रे० चि० १०८) तथा वाराणसी (भारतकला-भवन सं० ६२६) के संग्रहालयों में हैं, पर ये खण्डित हैं; अतएव

यहाँ इनके आयुधादि का विचार संभव नहीं है। सामने से मुख केवल तीन ही दिखलाई पड़ते हैं, चौथे की कल्पना पीछे की ओर करनी होगी। दाढ़ी का अभाव है, पर कन्धे पर जनेऊ है। गुप्तकालीन ब्रह्मा के दर्शन हमें देवगढ़ के अनन्तशायी विष्णु की प्रतिमा में भी होते हैं। कमल पर बैठे ब्रह्मा उपर्युक्त प्रतिमाओं से मेल खाते हैं, पर उनके केवल दो ही हाथ हैं, एक में तो घट है और दूसरा कदाचित् अभयमुद्रा में है। इसी विषय को अंकित करनेवाला भीतरगाँव (कानपुर) से मिला इष्टिका-फलक भी हमारी विशेष सहायता नहीं करता, पर यहाँ के कमलासनस्थ ब्रह्मा केवल एक मुख के हैं।

दक्षिण-भारत में बादामी और ऐहोल की कलाकृतियों में ब्रह्मा के दर्शन होते हैं। इस ओर की कदाचित् ये ही प्राचीनतम प्रतिमाएँ हैं। इनमें बादामी का चतुर्भुज ब्रह्मा, जो इस समय बम्बई के संग्रहालय में प्रदर्शित है, मूर्त्ति-विज्ञान की दृष्टि से सर्वाङ्गपूर्ण है। प्रदक्षिणा-क्रम से उसके हाथों में माला, स्रुवा, घट व वरदमुद्रा है। कमलासन पर स्थित ब्रह्मा के पास हंस है और ऋषिगण स्तवन कर रहे हैं। ऐहोल में ब्रह्मा की दो उल्लेखनीय प्रतिमाएँ हैं। एक में तो स्रुवा के स्थान पर पाश या मौंजीबन्धन दिखलाई पड़ता है, दूसरी में हंसारूढ ब्रह्मा कूर्च लिये हुए हैं।

डॉ॰ पी॰ आर॰ श्रीनिवासन के मतानुसार दक्षिण-प्रदेश में ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते उपासना के क्षेत्र में ब्रह्मा का स्थान सुब्रह्मण्य ने ले लिया।[७]

दिक्पाल

ऊपर और नीचे की दिशाओं को छोड़ दिया जाय तो कुल दिशाओं की संख्या आठ होती है। इन आठ दिशाओं के निम्नांकित दिक्पाल माने गये हैं :

पूर्व ..	इन्द्र	आग्नेय (दक्षिण-पूर्व) ...	अग्नि
दक्षिण ..	यम	नैर्ऋत्य (दक्षिण-पश्चिम)...	निर्ऋति
पश्चिम ..	वरुण	वायव्य (उत्तर-पश्चिम) ...	वायु
उत्तर ..	कुबेर	ऐशान्य (उत्तर-पूर्व) ...	ईश, ईश्वर

प्राचीन परम्पराओं के अनुसार इन दिक्पालों के नाम और संख्या में भद हैं। जैन-शास्त्रों के दशदिक्पाल थोड़े भिन्न हैं। पर यह कहा जा सकता है कि इनमें इन्द्र, यम, अग्नि और वरुण निस्सन्देह प्राचीनतम हैं।

बौद्धों ने दिशाओं के अधिपतियों के रूप में चतुर्महाराजों को इस प्रकार माना है : पूर्व की ओर धृतराष्ट्र, दक्षिण की ओर विरूढक, पश्चिम की ओर विरूपाक्ष और उत्तर की ओर वैश्रवण।

अब दिक्पालों की प्रत्यक्ष प्रतिमाओं का विचार करें।

इन्द्र[८] :

वैदिक देवता-संघ में इन्द्र का स्थान बहुत ऊँचा था, पर पौराणिक काल में स्थिति बदल गई। इन्द्र को सोम, विश्वपुरुष एवं प्रजापति से उद्भूत माना जाता है। उसके मुख्य आयुध वज्र और अंकुश हैं। कथा है कि वृत्र नामक असुर का वध करने के लिए दधीचि ऋषि की अस्थियों से वज्र का निर्माण हुआ था। गान्धार-कलाकृतियों में बौद्ध शक्र के हाथ में दिखलाई पड़नेवाला वज्र कभी-कभी अस्थि के आकार का होता है, जो कदाचित् इस परम्परा की ओर संकेत है। प्रारम्भिक मूर्त्तियों में मानव-रूप में दिखलाई पड़नेवाले इन्द्र की पहचान, उसके ऊँचे उष्णीष या मुकुट, हाथ के वज्र अथवा ऐरावत हाथी से होती है, जो उसका वाहन है।

पुराणों के अनुसार इन्द्र देवों का अधिपति एवं स्वर्गलोक का स्वामी है। अपने पद के प्रति सदैव जागरूक रहनेवाले इन्द्र का मुख्य कार्य वर्षा कराना है। किसी समय इन्द्रपूजा का बहुत अधिक प्रचार था,[९] पर लगता है कि कृष्ण की लोकप्रियता ने उसकी समाप्ति कर दी। अब केवल चैत्र-शुक्ल-प्रतिपदा के दिन मनाये जानेवाले इन्द्र-ध्वज-उत्सव के रूप में ही उसकी मान्यता रह गई है।

इन्द्र की गुप्तपूर्व-काल की ब्राह्मण-धर्म की प्रतिमाएँ ज्ञात नहीं हैं, पर महामाया की कोख से बुद्ध का जन्म, संकिसा में बुद्ध का स्वर्ग से अवतरण, धर्मचक्र-प्रवर्त्तन के लिए बुद्ध की प्रार्थना, इन्द्राशीला गुफा का प्रसंग आदि बौद्ध-कथाओं को अंकित करनेवाले दृश्यों में इन्द्र या शक्र के प्रचुर दर्शन होते हैं।

इन्द्र की पत्नी का नाम शची है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में शची के साथ आलिंगन-मुद्रा में इन्द्र की प्रतिमा बनाने का विधान मिलता है।[१०]

दक्षिण-भारत में इन्द्र का प्राचीनतम अंकन भाजा की गुफा में मिलता है[११], जहाँ उसे हम उष्णीष धारण किये हुए पाते हैं। एलोरा की इन्द्रसभा–गुफा की गजारूढ़ इन्द्र की प्रतिमा गुप्तोत्तर काल की है,[१२] पर उसके 'देवराज' पद की पूर्ण परिचायिका है।

अग्नि[१३] :

वैदिक देवताओं में इन्द्र के बाद अग्नि का स्थान है। देवताओं को आहुतियों के रूप में अग्नि के माध्यम से ही उनके भाग की प्राप्ति होती है। अग्नि के गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि रूपों की मान्यता प्राचीन है। कर्मकाण्ड में अग्नि के जिस स्वरूप की कल्पना की गई है, उसके अनुसार उसे सात हाथ, चार सींग, सात जिह्वाएँ, दो मस्तक और तीन पैर हैं। उसके हाथों में शक्ति, अन्न, स्रुक्, स्रुवा, तोमर, पंखा तथा घृतपात्र की कल्पना की गई है। उसकी दाहिनी ओर स्वाहा तथा बाईं ओर स्वधा नामक देवियों की स्थिति है।[१४] लगता है, यह मुख्यतः रूपक है, मूर्त्ति-लक्षण नहीं; क्योंकि लक्षण-ग्रन्थों में दिये हुए वर्णन तथा अधिकतर प्रतिमाएँ उससे मेल नहीं खातीं।

अग्नि की प्रतिमाएँ कुषाणकाल से ही मिलने लगती हैं। लखनऊ (सं० सं० जे० १२३) तथा मथुरा (सं० सं० ४०.२८८०) के संग्रहालयों में इस काल के नमूने हैं। यहाँ अग्नि को विशुद्ध मानव-रूप में तुन्दिल ब्राह्मण के समान अंकित किया गया है। उसके मस्तक पर जटाएँ बँधी हैं, कंधे पर जनेऊ है और हाथ में कमण्डलु है, पर मुख्य पहचान पृष्ठशिला पर दिखलाई पड़नेवाली ज्वालाएँ हैं।

महाभारत के खिलपर्व हरिवंश में नारद की अग्नि से तुलना करते हुए कुछ ऐसे विशेषणों का प्रयोग किया गया है, जो कुषाणकालीन अग्नि-प्रतिमा की विशेषताएँ भी लगती हैं।[१५] इनमें मस्तक पर केशों की बाईं ओर बड़ी-सी गाँठ रखनेवाला (सव्यापवृत विपुल जटामण्डल), उगते सूर्य के समान आँखोंवाला (बालार्क सदृशेक्षणः) तथा जलनेवाला (ज्वलित) ये पद मुख्य हैं।

हम जानते हैं कि अग्नि का कुमार स्कन्द से भी निकट-सम्बन्ध था। कदाचित् इसीलिए कुषाणकाल से ही इन दोनों को कभी-कभी एकत्र ही अंकित करते थे (म० सं० सं० ४०.२८८३)।

यम[१६] :

यम भी वैदिक देवता हैं। ये विवस्वान् या सूर्य के पुत्र तथा यमी—कदाचित् पुराणों की यमुना—के भाई हैं। सबसे प्रथम स्वयं मरकर दूसरों को मृत्यु का रास्ता दिखलानेवाले यम धर्म के प्रतीक माने गये हैं।

यम की कुषाणकालीन प्रतिमाएँ अबतक अज्ञात हैं। विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार दण्ड, खड्ग, त्रिशूल तथा अक्षमाला यम के हाथों में होनी चाहिए।[१७]

निर्ऋति[१८] :

राक्षस-कुल के इस दिक्पाल का नामोल्लेख कदाचित् ऋग्वेद में है। आगे विष्णु-धर्मोत्तर ने इसकी प्रतिमा का भी विधान दिया है,[१९] पर गुप्तकाल तक की इसकी प्रत्यक्ष प्रतिमाओं की कोई जानकारी नहीं है।

वरुण[२०] :

वैदिक देवता-संघ में इन्द्र, अग्नि व वरुण—ये तीन देवता प्रसिद्ध रहे। पर पौराणिक काल में इन्द्र के समान वरुण की स्थिति भी अवनत हुई। अब उसकी मान्यता पश्चिम दिशा के अधिपति के रूप में ही रह गई। वरुण-पूजकों के किसी सम्प्रदाय का हमें ज्ञान नहीं है। अब उसका पूजन विशेष रूप में कर्मकाण्ड तक ही सीमित है।

वरुण का मुख्य आयुध पाश तथा वाहन मकर है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण[२१] के अनुसार वरुण किंचित् स्थूल तथा मोतियों के अलंकारों से मण्डित अंकित किये गये हैं। वरुण की कुषाणकाल अथवा उसके पहले की किसी प्रतिमा की अबतक प्राप्ति नहीं हुई

है। गुप्तकाल की भी स्थिति लगभग वैसी ही है। वरुण की सपत्नीक प्रतिमाएँ भी ज्ञात हैं (रे० चि० ११०)।

वायु[२२] :

मानव-जीवन के लिए अनिवार्यतया आवश्यक वायु का मूर्त्तिविज्ञान के क्षेत्र में कोई खास स्थान नहीं है, और न वायुदेव के किसी मन्दिर का ही पता है। कुषाणकाल में कदाचित् उसे इस क्षेत्र में छोटा-मोटा स्थान मिला था; क्योंकि इन शासकों की मुद्राओं पर 'ओएडो' के नाम से हमें वायुदेव के दर्शन होते हैं। वहाँ उसका मुख उग्र है, केश खड़े हैं तथा वह दौड़ता हुआ दिखलाई पड़ता है। वायु का यह चित्रण हरिवंश में किये गये उसके वर्णन से साम्य रखता है, जहाँ उसे 'उत्तमभूत', 'अशरीरी', 'शीघ्रग' आदि नामों से पुकारा गया है।[२३]

कुबेर[२४] :

साधारणतया उत्तरदिशा के अधिपति के रूप में कुबेर को गिनाया गया है, पर दूसरी परम्परा के अनुसार यह स्थान सोम का है। कुबेर को धनपति, धनद, वैश्रवण, अलकापति आदि अनेक नामों से पहचाना जाता है। पुलस्त्य ऋषि का पौत्र व विश्रवा का पुत्र वैश्रवण कुबेर मूलतः राक्षस है। शिव की मित्रता-सम्पादन करने के कारण इसे उत्तरदिशा का आधिपत्य, यक्षों पर अधिकार आदि बातें मिलीं।

'कुबेर' शब्द का अर्थ है निम्न या भोंड़ा शरीरवाला (कुत्सितं वेरं यस्य सः कुबेरः)। कदाचित् इसी कारण से प्रतिमा-विधान में उसे थुलथुले शरीरवाला व धनपति एवं यक्ष-स्वामी होने के नाते धन की थैली लिये एक भरे-पूरे सेठ के रूप में दिखलाते हैं। वाल्मीकीय रामायण में उसे 'एकाक्ष' भी कहा गया है[२५], पर मूर्त्तियों में उसकी यह विशेषता नहीं दिखलाई पड़ती। यक्षपति होने के कारण उसकी प्रतिमा में यक्षों के लक्षण मिलना भी तर्कसंगत है।

कुबेर की उपासना और उनके मन्दिर शुङ्गवंशी पुष्यमित्र के आचार्य भाष्यकार पतञ्जलि के समय से अर्थात् कुषाणों के पहले से ही विद्यमान थे।[२६] 'ललितविस्तर' की सूची में पूजनीय देवताओं के अन्तर्गत कुबेर (वैश्रवण) की गणना है[२७] और कुषाण-काल में उनकी प्रतिमाएँ भी अच्छी मात्रा में मिलती हैं। उनके आधार पर कुषाणकालीन कुबेर की निम्नांकित विशेषताएँ स्थिर की जा सकती हैं:—

(१) कुबेर थुलथुला शरीर और तुन्दिल अंकित किया जाता है, उसके माथे पर उष्णीष, कानों में कुण्डल तथा गले में कण्ठा पड़ा रहता है।

(२) एक प्रकार की मूर्त्तियों में उसका दाहिना हाथ अभयमुद्रा में रहता है तथा बायें में नेवले के आकार की धन की थैली होती है, जिसे नकुली (सं० नकुलक) कहते हैं। दूसरे प्रकार में, जो अधिक सामान्य है,

अभयमुद्रा के स्थान पर मद्य का पात्र रहता है (म० सं० सं० सी० २५, २६, ३१ आदि)।

(३) कुबेर की पत्नी का नाम भद्रा है। बौद्धों के यहाँ वह हारीती के नाम से पहचानी जाती है। कुछ प्रतिमाओं में कुबेर के साथ बच्चों को लिये हुए कमलधारिणी भद्रा के दर्शन होते हैं।[२८]

(४) कुबेर के साथ भद्रा के अतिरिक्त लक्ष्मी का अंकन भी कुषाण-कला में हुआ है (म० सं० सं० सी० ३०)। इस प्रतिमा में लक्ष्मी के पास कमल तथा भद्रा के हाथ में मद्य-पात्र है।

(५) एक प्रतिमा में हम कुबेर को संगीत का रस लेते हुए पाते हैं (म० सं० सं० १८.१५३८)।

(६) कुषाणकाल में कुबेर के साथ वाहन नहीं दिखलाई पड़ता। संक्षेप में मथुरा का कुषाणकालीन कुबेर एक विलासी धनिक सेठ की प्रतिकृति है।

गुप्तकाल में कुबेर की प्रतिमाओं की संख्या को देखते हुए लगता है कि उसकी लोकप्रियता में कमी आ गई थी, पर जो भी एकाकी (म० सं० सं० १५.१११८) या सपत्नीक (म० सं० सं० १५.९९१) मूर्त्तियाँ मिली हैं, उनका मूल स्रोत कुषाणकालीन कला में ही निहित है। इस सन्दर्भ में लखनऊ-संग्रहालय की पभोसा से मिली सातवीं शताब्दी की कुबेर-प्रतिमा भी उल्लेखनीय है (ल० सं० सं० जी० ५६), जहाँ नकुलक और मद्य-पात्र के साथ ही उसके पैरों के पास रखे दो घट हैं, जो इस समय तक कुबेर-प्रतिमा का एक वैशिष्ट्य बन गये थे।

इस प्रसंग में जम्भल या बौद्ध कुबेर की ओर भी किंचित् दृष्टिपात करना युक्ति-संगत होगा। जम्भल वा कुबेर-प्रतिमाओं की साधारण रचना में कोई अन्तर नहीं है, पर पैरों के पास रखे घड़ों की स्थिति में अवश्य ही भेद होता है। कुबेर-प्रतिमा में घड़े सीधे रखे रहते हैं, पर जम्भल में घट अधोमुख रहता है और उसमें से रत्नादि निकलते रहते हैं।

कुबेर के नरवाहन होनेवाली बात इन मूर्त्तियों में नहीं दिखलाई पड़ती।

ईशान या ईश :

यह शिव का ही स्वरूप है। 'ईशान' शब्द शिव का पर्याय है।

यक्ष[२९]

प्राचीन साहित्य में यक्षों की गणना भूत, किन्नर, राक्षस, गन्धर्व, नाग, दानव, किम्पुरुष आदि अमानुषिक वर्ग में की गई है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्र, पुराण-साहित्य

जातकादि पालि-ग्रन्थ तथा जैनों के आर्षग्रन्थों में एवं संस्कृत के कथा-साहित्य में यक्षों के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। आज यद्यपि यक्ष-पूजन अपने प्राचीन रूप में लुप्त हो चुका है, तथापि विभिन्न प्रकार के लोक-धर्मों के रूप में वह आज भी आसेतुहिमाचल मान्य है। महाराष्ट्र की जारवमाता, वीरेदेव, मानविणी मुंज्या, वेताल[३०] तथा उत्तरप्रदेश के बीर, ब्रह्म आदि लोक-देवता प्राचीन यक्षों के नवीन संस्करण हैं।

यक्षों की उत्पत्ति के विषय में मतभिन्नता है। रामायण[३१] के अनुसार प्रजापति ने जल का संरक्षण करने के लिए खास प्रकार के जनों का सर्जन किया और 'रक्षध्वम्' का आदेश दिया। उनमें से कुछ ने कहा 'रक्षामः' और कुछ बोल उठे 'यक्षामः'। पहले-वाला वर्ग राक्षस कहलाया और दूसरा वर्ग यक्ष नाम से प्रसिद्ध हुआ।

पहले से ही यक्षों के दो रूपों की कल्पना की गई है। एक तो लोक-मंगलकारी, अद्‌भुत सामर्थ्यवाले नयनमनोहर रूप की कल्पना है, पर दूसरे में यक्ष बड़ी-बड़ी आँखों-वाले, विवृतमुख, ह्रस्वपाद एवं भयंकर देहवाले माने गये हैं।[३२]

प्रथम अर्थ में अग्नि, इन्द्र, कृष्ण, बलराम, स्कन्द आदि सभी को यक्ष नाम से पुकारा गया है।[३३] यक्षों की ही भाँति यक्षिणियाँ भी अतीव सामर्थ्यवाली, मायाओं में पटु तथा सुन्दर रूपवाली मानी गई हैं। इसीलिए लक्ष्मी, एकानंशा जैसी देवियाँ अथवा ताड़का-जैसी मायाविनी स्त्रियाँ यक्षिणी कही गई हैं।

विकृत रूपवाले यक्षों को हास्य का भी आलम्बन माना गया है। वामनपुराण[३४] की एक कथा के अनुसार यक्ष पञ्चालिक ने एक समय जम्हुआई और उन्माद से पीड़ित शिव की ये बातें अपने ऊपर लेकर उन्हें सुख पहुँचाया और उनसे लोगों को हँसानेवाला बनने का वर प्राप्त किया था।

यक्षों के मन्दिर या 'थानों' को यक्षायतन या यक्षस्थान कहते हैं। लोकदेवता के रूप में यक्ष ब्राह्मण, बौद्ध और जैन––तीनों धर्मों में सहजरूप से प्रवेश पा गये थे, पर महाविलयन-पद्धति के अनुसार इन्हें सदा उपदेवता का स्थान मिलता रहा। ब्राह्मण-धर्म के अनुसार यक्ष-दल कुबेर के अधीन था, बौद्ध-परम्परा उन्हें चार दिशाओं के अधिपति या 'चातुर्महाराज' के रूप में दल-बल के साथ स्वीकार करती है, तो जैनों के यहाँ कितने ही यक्ष शासनदेवों के रूप में तीर्थंकरों से सम्बद्ध हैं। गुप्तकाल से यक्षों का महत्त्व कुछ कम होने लगा। अब यक्ष-प्रतिमा का विचार करें।

यक्ष-मूर्त्ति :

यक्षों के दो प्रकारों का हम ऊपर संकेत कर चुके हैं। प्रतिमा-क्षेत्र में भी वही बात स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। प्रथम प्रकार की यक्ष-यक्षिणियाँ देवकोटि में गिनी जाने के कारण भव्य एवं उदात्त वेषवाले, प्रभाव-सम्पन्न रूप में गढ़ी गई हैं। ईसवी सन् के पूर्व लगभग तीसरी शती से पहली शती तक की यक्ष-प्रतिमाएँ उत्तर-भारत में इतस्ततः फैली रही हैं। इनका शताब्दियों से परम्परागत रूप में पूजन होता रहा और आजतक मूल

प्रतिमा के हटने पर भी कितने ही स्थान पूर्व-पद्धतियों को सँजोये हुए हैं। आज इस वर्ग की चौबीस विशाल प्रतिमाओं का हमें पता चला है[१५] तथा इस संख्या में आगे भी वृद्धि होने की पूरी सम्भावना है।

यक्ष-यक्षिणियों की इन प्रतिमाओं की अधोलिखित विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं (रे० चि० ११२, ११३):—

(१) सभी प्रतिमाएँ आकार में विशाल, भलीभाँति परिपुष्ट एवं अतीव सामर्थ्यशाली देख पड़ती हैं।

(२) मस्तक पर सँवारे हुए केश अथवा उनकी भली-सी गाँठ, या उष्णीष, गले में कण्ठा, कानों में मोटे कुण्डल तथा भुजाओं पर अङ्गद, कायबन्धन से कसी धोती—यह यक्षों की वेषभूषा है। यक्षिणियों की प्रतिमाओं में सुन्दर वेणी और वस्त्रों का प्रयोग दिखलाई पड़ता है।

(३) ये मूर्त्तियाँ 'चित्र-शैली' की अर्थात् चारों ओर से दर्शनीय होती हैं।

(४) यक्ष एवं यक्षिणियाँ द्विभुज दिखाई पड़ती हैं। बहुधा इनके एक हाथ में थैली रहती है, क्वचित् शंख भी दिखलाई पड़ता है। इनके अतिरिक्त कुछ प्रतिमाओं में कमर में खोंसी हुई छुरी भी देखी जा सकती है। (देखिए, ग्वालियर-संग्रहालय का मणिभद्र यक्ष, लखनऊ-संग्रहालय की पलवल-यक्षमूर्त्ति, विदिशा का यक्ष, नोह का यक्ष इत्यादि।)

(५) इन यक्ष-प्रतिमाओं में से कई तो मणिभद्र की मूर्त्तियाँ हैं, जो कुबेर के मित्र और वैसे ही प्रभावशाली थे।

अबतक मिली हुई विशाल यक्ष-प्रतिमाएँ, जो संख्या में २४ हैं, कलिंग से सोपारा तक फैली हुई थीं। इनके अतिरिक्त बम्बई, मथुरा, लखनऊ, इलाहाबाद आदि अनेक संग्रहालयों में रखी हुई छोटे आकार की प्रतिमाएँ तो अलग ही हैं, जिनमें घण्टाकर्ण (म० सं० सं० १५.५६०), शङ्कुकर्ण (म० सं० सं० जे० २), मुद्गरपाणि (म० सं० सं० सी० १) आदि विशिष्ट यक्ष पहचाने जा सकते हैं।

दूसरे प्रकार की अर्थात् विकृत शरीरवाले यक्षों की मूर्त्तियाँ सेवक, परिवार-देवता या अलंकरणों के अभिप्रायों के रूप में अधिकतर मिलती हैं (रे० चि० ११४)। माथे पर भार ढोना भी इनके द्वारा सम्पन्न होनेवाला एक प्रमुख कार्य है। माथुरी कला में इनके कई नमूने मिलते हैं। परन्तु, साँची के एक तोरणद्वार पर बनी भार से दब जाने के कारण अत्यन्त कष्टी यक्ष की मूर्त्ति विशेष रूप से अवलोकनीय है।

गुप्तकला में यक्षों की प्रधानता कम हो गई, पर अलंकरण के अभिप्रायों के रूप में बौने एवं तुन्दिल मानवों की आकृतियाँ अधिक चलीं, जिन्हें हम कीचक और वामनक नामों से पहचानते हैं।

नाग[१६]

नाग-पूजन भारतीय लोकधर्म का प्रमुख अंग रहा है। नागों का उत्सव 'नागमह' कहलाता था। नाग-पूजन की धारा भारत में एकाधिक रूपों में प्रवाहित होती रही। यक्ष-पूजन के समान नाग-पूजन ने भी ब्राह्मण, जैन और बौद्ध—तीनों धर्मों के परिसरों में प्रवेश किया तथा नागों ने इनमें से प्रत्येक धर्म के देवता-संघों में, उपदेवता के रूप में ही सही, महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किये। भारत के शिष्ट-सम्मत सम्प्रदायों से यक्षों का कोई विरोध हुआ हो, ऐसा नहीं लगता, पर नागों के विषय में यह सत्य नहीं है। कृष्ण के द्वारा कालिय नाग का निष्कासन, गरुड और नागों की वैर-कथा, तक्षक और परीक्षित् के सम्बन्ध, जनमेजय का नागयज्ञ आदि कितने ही ऐसे प्रसंग हैं, जो नाग-विरोध की ओर संकेत करते हैं। बौद्ध और जैन-साहित्य में भी इस प्रकार की कथाएँ हैं, पर इन सबकी फलश्रुति नागों के पराभव और आर्य देवताओं की छत्रच्छाया में उनकी स्थापना में परिणत हुई है।

फर्ग्युसन और ओल्डहॅम के मतानुसार नाग लोग सर्पपूजक मानव थे।[१७] मूलतः सर्प इनका वंश-चिह्न रहा होगा, पर बाद में ये स्वयं ही नाग कहलाये। इस बात पर मूर्त्ति-विज्ञान भी थोड़ा-सा प्रकाश डालता है। नागों से सम्बद्ध देवताओं को मानव-रूप के साथ-साथ नाग-रूप में भी अंकित करने की पद्धति ईसवी सन् के कम-से-कम दो शताब्दियाँ पूर्व से तो थी ही, जिसके नमूने भरहुत, साँची, अमरावती आदि की कला-कृतियों में सुरक्षित हैं। यहाँ सर्पफणों से युक्त नाग एवं नाग-स्त्रियाँ प्रचुरता से दीख पड़ती हैं। कुषाण-काल में, मथुरा में नागपूजा का बहुत बड़ा केन्द्र था। यहाँ से निकट 'सोंख' गाँव में हाल ही में जर्मन उत्खनकों को नाग-मन्दिर एवं नाग-संस्कृति के प्रबल और प्रचुर प्रमाण मिले हैं।[१८]

कुषाण-कालीन नाग-प्रतिमाओं की अधोलिखित विशेषताएँ हैं—

१. पुरुषाकार नाग के पीछे की ओर खड़े साँप या साँप की कुण्डली दिखलाई जाती है। सर्प की फणा छत्र के समान पुरुष के सिर पर छाई रहती है।

२. पृष्ठ-भाग पर अंकित किये गये सर्प के आभोग पर विभिन्न आकार के दाने बने रहते हैं और फणाटोप स्वस्तिकादि मंगल-चिह्नों से अलंकृत रहता है। साथ ही, लपलपानेवाली साँप की जिह्वाएँ भी प्रामुख्य से अंकित की जाती हैं।[१९]

३. मस्तक पर सुशोभित फणाओं की संख्या नाग-पुरुष या नाग-स्त्री के सामाजिक स्तर पर निर्भर करती है। सामान्य नागों को केवल एक फणा रहती है, पर इसके ऊपर तीन, पाँच या सात फणाओं का क्रम दिखलाई पड़ता है। साहित्य में शेषनाग की सहस्र फणाएँ कही गई हैं।

४. ध्यानभेद के अनुसार नाग को दो या चार हाथ होते हैं।

५. नागों का जल से निकट का सम्बन्ध है। उनके हाथ में घट तथा आसपास कमल भी दिखलाई पड़ते हैं। कुषाण-काल की कई नाग-प्रतिमाएँ पुष्करिणियों के तटों पर ही स्थापित थीं।[४०]

६. सोंख की खुदाई में एक विशेष प्रकार की नाग-मूर्त्ति मिली है, जिसमें पुरुषाकार नाग के मस्तक के पीछे नागफणा न दिखलाकर उसका समूचा मुख ही नाग का दिखलाया गया है। इसके हाथ में पोथी है। यह शिल्पखण्ड बहुत खण्डित होने के कारण इसकी निश्चित पहचान तो कठिन है, पर वैसे शेषनाग का व्याकरणशास्त्र से निकट का सम्बन्ध सुप्रसिद्ध है (म० सं० उत्खनन-सं० एस्० ओ० चार-३२७, रे० चि० ११५)।

कुषाण-काल के बाद की नाग-प्रतिमाओं में मस्तक के पीछेवाली सर्पफणा को छोड़कर ऊपर की बाकी विशेषताएँ नहीं मिलतीं।

मूर्त्तिविज्ञान की दृष्टि से नागों में संकर्षण या बलराम का विशेष स्थान है, जिसका विचार हम पहले कर चुके हैं (देखिए पृ० ८९-९०)।

गरुड

आज मुख्यतया गरुड का नाम केवल विष्णु के वाहन के रूप में जाना जाता है, पर कला के क्षेत्र में कदाचित् विष्णु के पहले ही गरुड का आगमन हो चुका था।

साहित्यिक परम्परा के अनुसार गरुड कश्यप और विनता के पुत्र थे। कद्रू, जो नागमाता थी, विनता की सौत थी। सूर्य के घोड़ों के रंग के विषय में लगी बाजी में नागों के षड्यन्त्र के कारण विनता हार गई और उसे कद्रू की दासी बनना पड़ा। विनतापुत्र गरुड की नागों से सहज शत्रुता थी, पर माता को दास्य से मुक्त करने के लिए नागों को देवताओं के पास रखा अमृत-कुम्भ सुलभ करा देना उनके लिए आवश्यक था। पराक्रमी गरुड देवताओं से जूझ गये। जब देवताओं का पलड़ा हलका पड़ने लगा तब बात इस प्रकार तय हुई कि गरुड नागों को अमृत का घड़ा दे दे, पर इन्द्र उसे नागों के गले उतरने के पूर्व हरण कर ले। नागों ने अमृत-कुम्भ पाकर विनता को दास्यमुक्त कर दिया, और कुम्भ को दर्भ के आसन पर रखकर किञ्चित् इधर-उधर हुए। इसी बीच इन्द्र कुम्भ को उड़ा ले गये।[४१]

गरुड को विष्णु से भी युद्ध करना पड़ा था, अन्ततोगत्वा दोनों में मेल हुआ, गरुड ने विष्णु को अपने कन्धों पर बैठाया और विष्णु ने अपने ध्वज पर गरुड को स्थान दिया।[४२]

गरुड का वर्णन करते हुए हरिवंश हमें बतलाता है कि 'काश्यप गरुड के खग होते हुए भी शिखा व चूडा थी, सुन्दर पंख उनके वस्त्र थे और वे कानों में सुवर्ण के कुण्डल पहनते थे।'[४३]

साहित्य की इन विभिन्न परम्पराओं के आधार पर गरुड की प्रतिमाओं का परीक्षण करें। शुंगकाल से ही मिलनेवाली इन मूर्त्तियों की निम्नांकित विशेषताएँ हैं :—

१. पक्षी के रूप में होते हुए भी गरुड को--मुख्यतया शुंग और कुषाण-कालीन गरुड को—मानव के समान दो कान हैं, जिनमें कुण्डल पड़े हैं।

२. कतिपय कृतियों में उसके पंजे मनुष्य के हाथों के समान दिखलाये गये हैं, जिनसे उसने सर्प को या मानव-स्त्रीरूपिणी नागी को पकड़ा है (ल० सं० सं० ५९·१७०; म० सं० सं० ४१·२९१५)। गरुड के मुख का सर्प हरिवंश में उल्लिखित है, पर नागी के लिए कोई साहित्यिक प्रमाण अबतक सामने नहीं आये हैं।

३. सर्प और गरुड़ की शत्रुता भी कुषाण-कलाकारों की आँखों से छिपी नहीं है (ल० सं० सं० जे० ५४७)।

४. इस कला में गरुड के माथे पर चूडा या कलँगी भी दिखलाई पड़ती है।

कुषाणोत्तर काल की कला में गरुड की उपर्युक्त विशेषताएँ—हाथ में नागवाली बात छोड़कर--लुप्त हो जाती हैं।

गुप्त-मुद्राओं पर गरुड़ पंख फैलाये पक्षी के रूप में दिखलाई पड़ता है, पर प्रस्तर-कला में वह अधिकतर मनुष्य के रूप में विद्यमान है, जैसा कि देवगढ़ के गजेन्द्र-मोक्षवाले दृश्य में देखा जा सकता है।[४४] विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार[४५] मानव-रूप में अंकित गरुड की नाक नोंकदार होनी चाहिए। यदि वह अकेला हो तो उसके दो हाथ तो अञ्जलि-मुद्रा में हों, और शेष दो में कुम्भ और छत्र बने हों। यदि उसकी पीठ पर विष्णु भी आरूढ़ हों तो छत्र तथा कुम्भ को हटाकर उसके पिछले हाथों से विष्णु के पैरों को सहारा देते हुए उसे बनाना चाहिए।

नन्दी वृष

शिव और उनका वाहन बैल—इन दोनों का सम्बन्ध पर्याप्त पुराना है। कतिपय अपवादों को छोड़ दें तो इनका वाह्य-वाहक सम्बन्ध सबको स्वीकार है। सिन्धु-सभ्यतावाली मुहरों पर अंकित ककुद्मान वृष यद्यपि स्वयं अपने में पूज्य था या पशुपति शिव से सम्बद्ध होने के कारण पूजनीय था, यह विषय अभी भी विवादास्पद है, तथापि वेम जैसे प्रारम्भिक कुषाण-शासकों के समय तक तो शिव और वृष का नैकट्य सुनिश्चित रूप से स्थापित हो चुका था, जैसा कि स्वयं वेम की मुद्राओं से स्पष्ट है।

वृष की स्थापना शिवलिंग के सामने की जाती है। साधारणतः विना बैल के शिवलिंग का पूजन अवैध माना जाता है। यही कारण है कि आसेतुहिमाचल शिव-मन्दिर के प्रांगण में वृष के दर्शन अवश्य होते हैं।

अब हम बहुधा शिव के बैल को नन्दी के नाम से पहचानते हैं और साहित्य में भी इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं,[४६] पर इसके साथ ही, हमें यह भी नहीं भूलना होगा कि नन्दी शिव का एक मुख्य गण भी है, जिसे लिंगपुराण के अनुसार तीन आँखें,

चार हाथ तथा चन्द्रांकित मुकुट भी है। इसकी पत्नी का नाम है सुयशा।[४७] रामायण के अनुसार नन्दी वानरमुख है।[४८]

शिवपुराण में शंकर के नन्दी वृष की कथा विस्तारशः मिलती है। इसके पिता का नाम शिलाद मुनि था। आगे चलकर तपश्चरण करके यह शिव का वाहन बना।

कुषाण और गुप्तकालीन कला-कृतियों में शिव के एकाकी या सपत्नीक रूपों में उनके साथ वृष के दर्शन होते हैं। यह वृष पशुरूप में अथवा कतिपय गुप्त-कलाकृतियों में वृषमुख मानव के रूप में दिखलाई पड़ता है (इस प्रसंग में पीछे देखिए पृ० ३८-३९)।

आयुध-पुरुष और आयुध-स्त्रियाँ

पिछले पृष्ठों में स्थान-स्थान पर आयुध-पुरुषों की चर्चा हुई है। यहाँ संक्षिप्त रूप से, पर साकल्य का ध्यान रखते हुए, विषय का प्रस्तुतीकरण किया जा रहा है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण तथा उत्तरकायिकागम नामक ग्रन्थों में वज्र, दण्ड, खड्ग, पाश, अंकुश, त्रिशूल, पद्म, चक्र, गदा और शक्ति एवं ध्वज, शङ्ख, भिन्दी (भिन्दीपाल, एक शस्त्र), बाण व धनुष को मानव-रूप में अंकित करने का विधान किया गया है।[४९] इनमें गदा, शक्ति और धनुष को स्त्री-रूप में तथा अवशिष्ट आयुधों को पुरुष-रूप में उत्कीर्ण करने की बात है।

कला के क्षेत्र में आयुधों का मानव-रूप में अंकन गुप्त-काल से प्रारम्भ हुआ, जो बाद तक चलता रहा। दक्षिण की अपेक्षा उत्तर-भारतीय कला में आयुध-पुरुषों की अधिकता है। यदि मध्यकालीन मूर्त्तियों को भी विचार-सीमा में ले लिया जाय तो अधोलिखित आयुधों को मानव-रूप में देखा जा सकता है :—

१. गदा	..	कम-से-कम एक अपवाद के अतिरिक्त[५०] स्त्री-रूप में।
२. चक्र	..	पुरुष-रूप में।
३. शङ्ख	..	बहुधा पुरुष-रूप में, लेखक को बम्बई संग्रहालय (प्रिन्स ऑफ वेल्स संग्रहालय-सं० ७१) की केवल हरिहर की एक ऐसी मूर्त्ति ज्ञात है, जिसमें विष्णु की ओर शङ्ख को लिये एक स्त्री खड़ी है।
४. पद्म	..	पुरुष-रूप में, पर इस अंकन की संख्या कम है।
५. खड्ग	..	देवगढ़ की अनन्तशायी प्रतिमा में खड्ग-पुरुष के के दर्शन होते हैं, पर इसका अंकन कम ही होता रहा।
६. त्रिशूल	..	पुरुष-रूप में; पर लखनऊ-संग्रहालय की एक सिंह-वाहिनी देवी की प्रतिमा में त्रिशूल-स्त्री दिखलाई पड़ती है।[५१] इसके अतिरिक्त दक्षिण-भारत के कुछ नमूनों में त्रिशूल के मध्यभाग पर देवी के दर्शन होते हैं।[५२]

७. खट्वाङ्ग	..	यह इनी-गिनी प्रतिमाओं में ही, पर पुरुष-रूप में दिखलाई पड़ता है।[५३]
८. शक्ति	..	कार्त्तिकेय-प्रतिमाओं में स्त्री-रूप में दिखलाई देती है।
९. धनुष और बाण	..	शास्त्रीय विधानों के अनुसार धनुष को स्त्री-रूप में तथा बाण को पुरुष-रूप में अंकित करना चाहिए, पर मनवा (जिला—सीतापुर, उत्तरप्रदेश) से प्राप्त विश्वरूप विष्णु की प्रतिमा में दोनों को पुरुष-रूप में ही अंकित किया गया है (ल० सं० सं० एच् १२४)।
१०. वज्र	..	कुछ विद्वानों का मत है कि कुषाणों के पूर्ववर्त्ती शासक मउएस (Maues) के सिक्कों पर वज्र-पुरुष के दर्शन होते हैं।[५४] परन्तु इस बात को स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है; क्योंकि मउएस के शासनकाल तक आयुध-पुरुषों के अंकन की बात ही सामने नहीं आई थी।

ईहामृग, किन्नर, सुपर्ण आदि

कितनी ही कला-कृतियों में अलंकरणार्थ प्रयुक्त अभिप्रायों के रूप में मानव-पशु, मानव-पक्षी, पक्षी-पशु, पशु-जलचर—इस प्रकार की अनेक मिश्रित आकृतियाँ दिखलाई पड़ती हैं (रे० चि० १११)। कहीं-कहीं पर तो एकाधिक जन्तुओं का मिश्रण दिखलाई पड़ता है। कल्पना-सृष्टि के इन विविध जन्तुओं को रामायण 'ईहामृग' कहता है[५५] तो जैनग्रन्थ रायपसेणियसुत्त इनके 'ऋषभ-तुरग', 'नर-मकर', विहग-व्याल', 'किन्नर', 'रुरुसरभ', 'चमर-कुंजर' आदि अनेक नामों को भी गिनाता है।[५६] मथुरा-कला में शुंग एवं कुषाण-काल में इस प्रकार के ईहामृगों की विपुलता है, गुप्त-कला में इनकी शैली बदल जाती है।

सन्दर्भ-संकेत :

१. **EHI.,** Vol. II, pt. 2, P. 501; **DHI.**, p. 514, Sivaramamurti C, Geographical and Chronological Factors etc., **Ancient India,** No. 6, p. 35.

२. **कूर्मपुराण**, पूर्वार्द्ध ४.३८, पृ० १९; पृ० ४.४८.५१, पृ० १९-२०।

३. **ललितविस्तर**, आठ, पृ० ८४, ब्रह्म।

४. **दिव्यावदान**, २, ७; मैत्रकन्यकावदान, पृ० ४९४; **सद्धर्मपुण्डरीक**, मिथिला इन्स्टीच्यूट, दरभंगा, १९६०, परिवर्त्त २३, पृ० २४७ ब्रह्मरूप।

५. दण्डी, **दशकुमारचरितम्**।

६. Agrawala, R. C. : Four-faced Siva and Four-faced Vishnu at Mathura, **Vishveshvaranand Indological Journal,** Hoshiarpur, Vol. III, Pt. 1, March 1965, pp. 107-8.

७. Lippe, A., Divine Images in Stone and Bronze (South India, Chola Dynasty, C 850–1250), **Metropolitan Museum Journal,** 4, 1971, p. 42.

८. **EHI.,** Vol. II, Pt. 2, pp 516–21; Sivaramamurti : Geographical and Chronological Factors etc., **Ancient India,** 6, pp. 22–23.

९. अग्रवाल, वासुदेवशरण : **भारतीय लोकधर्म,** इन्द्रमह, पृ० २८–४२।

१०. **विष्णुधर्मोत्तर०,** तीन, ५०. २–५; **मत्स्य०,** २५६. ६६–६६।

११. **Bulletin of the Prince of Walse Museum,** Bombay, No. 1, pp. 15–21, Fig. 6.

१२. Louis, Fredric : **Indian Temples and Sculptures,** London 1959, pl. 152.

१३. **EHI.,** Vol. II, Pt. 2, pp. 521–23.

१४. सप्तहस्तश्चतुःशृङ्गः सप्तजिह्वो द्विशीर्षकः।
त्रिपाद् प्रसन्नवदनः सुखासीनः शुचिस्मितः॥
स्वाहां तु दक्षिणेपार्श्वे देवीं वामे स्वधां तथा।
बिभ्रद्दक्षिणहस्तैस्तु शक्तिमन्नं स्रुचं स्रुवम्॥
तोमरं व्यजनं वामैर्घृतपात्रं च धारयन्।
मेषारूढो जटावद्धो गौरवर्णः महौजसः॥
धूम्रध्वजो लोहिताक्षः सप्तार्चिः सर्वकामदः।
आत्माभिमुखमासीनः एवं रूपो हुताशनः॥
—वर्त्तमान कर्मकाण्ड में प्रचलित ध्यानमन्त्र

१५. **महाभारत,** हरिवंश, हरिवंशपर्व, ५४.७, पृ० २०३।

१६. **EHI.,** Vol. II, Pt. 2, p. 525.

१७. **विष्णुधर्मोत्तर०,** तीन, ५१.७–१४, बृहत्संहिता, ५७.५७।

१८. **EHI.,** Vol. II, Pt. 2, pp. 527–29.

१९. **विष्णुधर्मोत्तर०,** तीन, ५७.१–५; मत्स्य०, २६०.१६।

२०. **EHI.,** Vol. II, Pt. 2, pp. 529–32.

२१. **विष्णुधर्मोत्तर०,** तीन, ५२.१–२०, मत्स्य०, २६०.१७-१८।

२२. **EHI.,** Vol. II, Pt. 2, p. 532.

२३. **महाभारत, हरिवंश,** हरिवंशपर्व ३४.२६, पृ० २४४;
लक्षणग्रन्थों में वायु के लिए **मत्स्य०** २६०.१८; **अग्नि०,** ५१.१५;
विष्णुधर्मोत्तर०, तीन, ५८.१–५।

२४. **EHI.,** Vol. II, Pt. 2, p. 533.

२५. **वा० रामायण,** उत्तर०, १३.३०, पृ० १४८८ (गीता प्रेस)।

२६. **DHI.,** 1956 Ed. p. 338.

२७. **ललितविस्तर**, ८, पृ० ८४।

२८. जोशी, नी० पु० : **मथुरा की मूर्त्तिकला**, फलक ४०–६६।

२९. यक्षों के सम्बन्ध में जानकारी के लिए देखिए :
Coomaraswamy, A. K., Yakshas, Pts. 1 and 2, 1929, 1931; Motichandra, Some Aspects of Yaksha worship, **Bulletin of the Prince of Walse Museum**, Bombay, 1952-53, pp. 43–62; अग्रवाल, वासुदेवशरण : **प्राचीन भारतीय लोकधर्म**, पृ० ११८–४३; इत्यादि।

३०. समर्थ रामदास स्वामी ने अपने **दासबोध** में लोकदेवताओं की एक अच्छी सूची दी है (दास., ४.५.२६)।

३१. अग्रवाल, वासुदेवशरण : **प्राचीनभारतीय लोकधर्म**, पृ० ११६।

३२. **दिव्यावदान**,३५, सुरूप०,पृ० ८६–यक्षरूपमात्मानमभिनिर्माय विकृतकरचरणनयन:
—वही,८, सुप्रिया०, पृ० ७४–यक्ष, प्रेत, पिशाच, कुभाण्ड आदि को महाभयों के कारण-स्वरूप में गिनाया गया है।
आर्यशूर, **जातकमाला**, दरभंगा, १९६६, पृ० ४४, रौद्रा प्रकृति, पृ० ४६—दंष्ट्राकराल वदनानि, रौद्रनयनानि, इत्यादि।
अग्निपुराण, ५०.३८, पृ० ६६; **पद्मपुराण**, उत्तर० १२८.१३५-६, पृ० ४५९—दुष्टजन्तु।

३३. अग्रवाल, वा० श० : **प्राचीन भारतीय लोकधर्म**, पृ० १२०–२२, **हरिवंश**, विष्णु०, १०८.३७-३८, पृ० ६५०।

३४. **वामनपुराण**, ६.४५–५५।

३५. ये प्रतिमाएँ निम्नांकित हैं :—

(१) मणिभद्रयक्ष, परखम, मथुरा (म०सं०सं० सी० १) (रे० चि० ११२)।
(२) यक्ष-प्रतिमा, बरोद (म०सं०सं० सी० २३)।
(३) मनसा देवी, मथुरा (म०सं०सं० ७२.१)।
(४) यक्षमूर्त्ति, मथुरा (म० सं० सं० ई० ९)।
(५) यक्षमूर्त्ति, सोपारा, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली।
(६) यक्षमूर्त्ति, राजघाट, भारत-कला-भवन, वाराणसी।
(७) यक्षमूर्त्ति, कौशाम्बी, अलहाबाद संग्रहालय, अलहाबाद।
(८) यक्षमूर्त्ति, नोह, राजस्थान।
(९-१०) यक्षमूर्त्ति, पटना, इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता।
(११) यक्षमूर्त्ति, नोह, राजस्थान (दूसरी मूर्त्ति)।
(१२) यक्षमूर्त्ति, बिरावी, भरतपुर-संग्रहालय, राजस्थान।
(१३) मणिभद्र यक्ष, पवाया, गूजरी महल, ग्वालियर।
(१४) यक्षप्रतिमा, पलवल, राज्य-संग्रहालय, लखनऊ (ल०सं०सं०ओ० १०७)।

(१५) यक्षप्रतिमा, भीटा, राज्य-संग्रहालय, लखनऊ (ल०सं०सं० ५६. ३९४)।
(१६) यक्षप्रतिमा, विदिशा, विदिशा संग्रहालय, विदिशा, मध्यप्रदेश, (रे० चि० ११३)।
(१७) यक्षप्रतिमा, शिशुपालगढ़, उड़ीसा।
(१८) यक्षप्रतिमा, अहिच्छत्रा, उ० प्र०।
(१९) यक्षप्रतिमा, आमीन, कुरुक्षेत्र।
(२०) यक्षप्रतिमा, पडरौना, उ० प्र० (ल०सं०सं० ५५.२८८)।
(२१) यक्षप्रतिमा, प्रतापगढ़, अलहाबाद संग्रहालय, अलहाबाद।
(२२) यक्षीप्रतिमा, विदिशा, विदिशा संग्रहालय, विदिशा।
(२३) यक्षीप्रतिमा, दीदारगंज, पटना संग्रहालय, पटना।
(२४) यक्षीप्रतिमा, विदिशा, इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता।

३६. नागों के लिए देखिए—अग्रवाल, वा० श० : **प्राचीन भारतीय लोकधर्म**, पृ० ६८–७५; अग्रवाल, वा० श० : **भारतीय कला**, पृ० २९९–३०३; Sen, A., **Animal Motifs in Ancient Indian Art**, Calcutta, 1972, pp. 41–53, इत्यादि।

३७. Sen, A., **Animal Motifs** etc., p. 43.

३८. Hartel, H., A Kushana Naga Temple at Sonkh, **Bulletin of Museums and Archaeology in U. P.**, Nos. 11-12, June–December 1973, pp. 1–6.

३९. Joshi, N. P., Use of Auspicious Symbols in the Kushana Art at Mathura, **Dr. Mirashi Felicitation Volume**, Nagpur, 1965, pp. 311–17.

४०. उदाहरण के लिए छड़गाँव से प्राप्त अभिलिखित नाग-प्रतिमा (म०सं०सं० सी० १३) को देखिए। अभिलेख स्पष्ट रूप से बतलाता है......'नागं प्रतिष्ठापयतः पुष्करिण्यां स्वका (की) याम्'।

४१. **EHI.**, **Vol.** I, Pt. 1, pp. 283–7.

४२. वही, पृ० २८४।

४३. **महाभारत, हरिवंश**, हरिवंशपर्व, ४४.४१—४४, पृ० १६४; ४८.४, पृ० १७९।

४४. Sivaramamurti, Geographical and Chronological etc., **Ancient India** 6, January 1950, pp. 21–63, Pl. XIIC.

४५. **विष्णुधर्मोत्तर०**, तीन ५४.३–६

४६. **EHI.**, **Vol.** II, Pt. 2, p. 460.

४७. वही, पृ० ४५८, **लिंग०**, पूर्वार्द्ध, अध्याय ४३-४४, पृ० ११७–२२।

४८. **वा० रामायण**, उत्तर०, १६.८–१४, पृ० १४९४; स्कन्दपुराण इसके वानर-मुख का उल्लेख करता है। तदनुसार हनूमान् नन्दी के ही अवतार हैं—**स्कन्द०**, माहेश्वर०, ८.६६–१००, पृ० ३९-४०।

४६. **EHI., Vol.** I, Pt. 2, Appendix C, pp. 77-78.

५०. Sivaramamurti, **South Indian Bronzes,** Lalit Kala Akademi, New Delhi, 1963, p. 41, Pl. 64 b.

५१. Srivastava, V. N., Some Interesting Early Indian Images etc., **Bulletin of Museums and Archaeology**, 8, p. 48, Fig. 2.

५२. देखिए ५०, फलक ६५ ए।

५३. उदाहरणार्थ हरिहरमूर्त्ति, ब्रिटिश म्यूजियम, लण्डन, सं० १८७२, ७–१, ७५ यह प्रतिमा गुप्तोत्तर काल की है।

५४. Banerjee, P. and Agrawal, R. C., Hindu Sculptures in Ancient Afghanistan, **India's Contribution**, etc.; p. 217; **DHI.**, p. 9.

५५. **वा० रामायण**, सुन्दर० ६.१३, पृ० ८८०––ईहामृगसमायुक्तैः कार्त्तस्वरहिरण्मयैः।

५६. **रायपसेणियसुत्त** ७६.५ टीका; अग्रवाल, वा० श० : **भारतीय कला**, १६६६, पृ० ८६, ६३–६७।

अध्याय ६

बुद्ध और बौद्ध देवता-संघ

आर्ष विचारधारा के अनुसार वेद-प्रामाण्य को स्वीकार न करनेवाले मत नास्तिक मत कहलाते हैं। इनमें मुख्यतया बौद्ध और जैन मत की गणना होती है। बौद्धमत आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व उत्तरप्रदेश में वाराणसी के निकट सारनाथ या ऋषिपत्तन नामक स्थान पर शाक्यों के कुल में उत्पन्न गौतम बुद्ध द्वारा प्रतिपादित किया गया था। यहाँ से यह मत द्रुतगति से भारत में फैला और आगे चलकर इसका विस्तार भारत के बाहर भी हुआ। स्वयं बुद्ध किसी प्रकार के ईश्वरवाद, अवतारतत्त्व या मूर्त्तिपूजा के पक्ष में नहीं थे। 'अपने दीपक खुद बनो' (अत्त दीपो भव) और 'अपने-आप की शरण जाओ'—यह उनका उद्‌घोष था। फलतः, बौद्धधर्म के उस काल में प्रतिमा-पूजन का कोई अस्तित्व नहीं था।

परन्तु स्वयं बुद्ध के जीवनकाल में ही बौद्धमत में सुधारणावाद के अंकुर प्रस्फुटित होने लगे थे, यद्यपि बुद्ध के महान् व्यक्तित्व के कारण वे उस समय दबे ही रहे। बुद्ध के निर्वाणोत्तर (ई० पू० ४८३) उनके मुख्य शिष्य आनन्द की अध्यक्षता में राजा अजातशत्रु के समय बौद्धों की प्रथम संगीति हुई, जिसमें बौद्ध-वाङमय को एक रूप मिला; दूसरी संगीति देवतभिक्षु की अध्यक्षता में वैशाली में हुई, जिसमें 'महासांघिक' नाम से सुधारणावादी भिक्षुओं की एक शाखा फूट पड़ी। बुद्ध की प्रतिमा की स्थापना में महासांघिकों का बहुत बड़ा योगदान है। मौर्य सम्राट् अशोक के समय बौद्धों की तीसरी सभा हुई, जिसमें थेरवाद अर्थात् प्राचीन मत पुनः प्रबल हो उठा और उसे राज्याश्रय भी प्राप्त हुआ। चौथी संगीति महत्त्व की थी। कुषाण सम्राट् कनिष्क के समय कश्मीर के कुण्डलवन नामक स्थान पर वसुमित्र की अध्यक्षता में इसका आयोजन हुआ था। इसमें सुधारणावादियों का पलड़ा भारी हो गया और बौद्ध मत स्पष्टतया दो भागों में विभक्त हो गया। सुधारणावादियों ने अपने को महायानियों के नाम से उद्‌घोषित किया और थेरवाद को हीनयान कहा जाने लगा। शनैः-शनैः उत्तर में महायान मत का प्रभाव बढ़ता गया और हीनयान अधिकतर दक्षिण में रहा।

भोले-भाले भावुक जनों के सरल हृदयों को पकड़ रखने की क्षमता सनातनी (स्थविर) बौद्धों के कोरे शून्यवाद में न रही। इसमें नागार्जुन का 'विज्ञानवाद' भी जब सफल नहीं हुआ, तब इसमें 'महासुखवाद' का नया सिद्धान्त जुड़ गया, जिसमें से तन्त्र-साधना-प्रधान 'वज्रयान' की उद्‌भूति हुई। इन परिवर्त्तनों के साथ ही बौद्धों का एक विशाल देवतासंघ भी पनपता गया।[१] इसी क्रम में मूर्त्तिपूजा की प्रतिष्ठा हो गई और शनैः-शनैः उपासना की सरल तथा जटिल दोनों प्रकार की प्रक्रियाएँ बल पकड़ती गईं। मत-मतान्तरों की स्थापना, महाविलयनवाद, वैदेशिक संस्कृतियों से सम्पर्क, परस्पर स्पर्धा की भावना, एक-

दूसरे का अनुकरण आदि अनेक हेतुओं से अगली शताब्दियों में बौद्ध-देवतासंघ इतना विशाल बन गया, जिसकी कल्पना कदाचित् स्वयं गौतम बुद्ध ने भी कभी नहीं की थी।

प्रारम्भिक बौद्ध-प्रतीक :

बौद्धमत की स्थापना और बुद्ध की मानवाकार प्रतिमा का निर्माण—इन दो बातों के बीच लगभग छह सौ वर्षों का अन्तराल है। इस काल-खण्ड में बौद्धों के मुख्य आराधना-केन्द्र बुद्ध तो रहे, पर निर्वाण-प्राप्त निराकार तथागत को पुनः साकार रूप में गढ़ने की विचार-परम्परा को अभीतक बल नहीं मिला था। पर साथ ही, यह भी प्रत्यक्ष हो रहा था कि केवल शून्य में निराकार बुद्ध की कल्पना करके उनकी उपासना करना साधारण भावुक हृदय के लिए कठिन था। फलतः बुद्ध के प्रतीकों की खोज होने लगी। बुद्ध का प्रातिनिध्य करनेवाले इन प्रतीकों का उनसे निकटतम होना आवश्यक था। स्पष्ट ही बुद्ध के पाञ्चभौतिक शरीर के अवशेष अथवा उन अवशेषों को समाहित करनेवाली वस्तु से निकटतम और क्या प्रतीक हो सकता था? इस दृष्टि से बुद्ध का सर्वोत्तम प्रतीक हुआ 'स्तूप'। हर स्तूप का सम्बन्ध बुद्ध की मृत्यु से था, जो भक्तमानस के लिए विशेष सुखकर घटना नहीं थी। ऐसी स्थिति में बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध वस्तुओं अथवा महत्त्वपूर्ण घटनाओं का स्मरण दिलानेवाली वस्तुएँ प्रतीक-रूप में सामने आईं। इस प्रकार, बोधिवृक्ष, गन्धकुटि, वज्रासन, भिक्षापात्र आदि बौद्ध-प्रतीकों की स्थापना हो गई। प्रतीक-निर्धारण होते ही बुद्ध-कथाओं का चित्रांकन भी सरल हो गया। भरहुत और साँची के स्तूपों पर अंकित बुद्ध-कथाओं में आवश्यकतानुसार बुद्ध के स्थान पर उनके किसी-न-किसी प्रतीक को ही अंकित किया गया है। प्रतीकांकन की यह पद्धति प्रत्यक्ष बुद्ध-मूर्त्ति के सामने आने तक सर्वत्र मान्य हो गई थी। बुद्ध के निम्नांकित प्रतीक इस काल के कलाकारों द्वारा स्वीकृत थे :

१. सफेद हाथी	...	बुद्धमाता के गर्भ में तथागत के प्रवेश करते ही महामाया को स्वप्न में श्वेतहस्ती के दर्शन हुए थे। फलतः, सफेद हाथी बुद्ध के जन्म का प्रतीक बना।
२. कमल	...	जन्म के बाद सद्योजात बुद्ध सात पैर चले और उस समय प्रत्येक पैर के नीचे एक-एक कमल प्रादुर्भूत हुआ था, अतएव खिले हुए कमल को भी प्रतीक होने का सम्मान मिला।
३. घोड़ा	...	तपस्साधना के लिए कुमार सिद्धार्थ ने घोड़े पर बैठकर गृह-त्याग किया था, अतः छत्रादि ऐश्वर्य से मण्डित घोड़ा 'महाभिनिष्क्रमण' का प्रतीक बना।
४. बोधिवृक्ष	...	बिहार-राज्य के गया नामक स्थान पर एक पीपल के पेड़ के नीचे ध्यान-धारणा करके कुमार सिद्धार्थ ने 'संबोधि' प्राप्त की थी और वे 'बुद्ध' बने थे।

इसीलिए वेदिका से आवेष्टित पीपल का वृक्ष 'बोधिवृक्ष' कहलाया और वह बुद्ध की ज्ञान-प्राप्ति का प्रतीक बन गया। इस प्रतीक को कला के क्षेत्र में वहुत अधिक महत्त्व मिला। इसे वेदिका के अतिरिक्त छत्र, ध्वज, माला, वस्त्र आदि से अलंकृत किया जाने लगा। कभी-कभी पवित्र बोधिवृक्ष को विशिष्ट प्रकार के भवन द्वारा घेर दिया जाता था, जिसे 'बोधिघर' के नाम से पहचानते थे (रे० चि० ११६)। शुंग-कालीन कला-कृतियों में बोधिघर के कई नमूने मिलते हैं।[२]

५. वज्रासन ... बोधिवृक्ष के नीचे जिस चबूतरे या आसन पर बैठकर सिद्धार्थ गौतम 'बुद्ध' हो गये, उसे वज्रासन के नाम से पुकारा जाता है। बोधिवृक्ष और उसके तने के पास वज्रासन रखकर कभी-कभी कलाकारों ने संबोधि की घटना का परिचय दिया है।[३]

६. गन्धकुटी ... गन्धकुटी का अर्थ है बुद्ध का निवास-स्थान या झोपड़ी। भरहुत, साँची या मथुरा की कला में गन्ध-कुटी के अंकन मिलते हैं।[४]

७. भिक्षापात्र ... बुद्ध द्वारा व्यवहृत भिक्षापात्र। मथुरा-कला में वज्रासन के साथ इसका प्रतीक-रूप में उपयोग हुआ है।[५]

८. उष्णीष ... कुमार सिद्धार्थ की पगड़ी या साफा। मथुरा-कला की एक कृति में (म० सं० सं० ५६.४२४५) इस प्रतीक के बड़े सुन्दर दर्शन होते हैं।

९. प्रभामण्डल ... बुद्ध के मस्तक के पीछे दृश्यमान होनेवाला उनका अलौकिक प्रभामण्डल भी मथुरा के कलाकारों द्वारा प्रतीक-रूप में व्यवहृत हुआ है (म० सं० सं० ३६.२६६३, के० १, ७२.५)। मथुरा के अतिरिक्त लेखक को अन्यत्र इस प्रतीक के दर्शन नहीं हुए हैं।

१०. धर्मचक्र ... बुद्ध द्वारा प्रचलित बौद्धमत-स्थापना के कार्य को 'धर्मचक्र-प्रवर्त्तन' अर्थात् धर्मचक्र का चलाया जाना कहते हैं। जिस प्रकार किसी चक्रवर्त्ती सम्राट् का चक्र (शासन, सैन्य या बल)

अबाधित रूप से संचार करता रहता है, उसी प्रकार भगवान् तथागत द्वारा प्रवर्त्तित धर्मचक्र की भी गति अबाधित है, ऐसी बौद्ध-मान्यता है। इस धर्मचक्र को तथागत ने 'मिगदाव' या सारनाथ में गति दी, जहाँ मृग विपुल संख्या में रहते थे। इसीकी स्मृति के रूप में धर्मचक्र के अगल-बगल नम्रता से बैठा हुआ एक मृग भी दिखलाया जाता है। धर्मचक्र-प्रवर्त्तन का यह प्रतीक कभी-कभी स्वयं बुद्ध की ओर भी संकेत करता है।[६]

११. पदचिह्न ... बुद्ध के चरण-चिह्न भी उनके प्रतीक हैं।[७]

१२. त्रिरत्न ... बौद्धमत की मूलभूत आधार-शिलाएँ तीन हैं—बुद्ध, धर्म और संघ। इन्हें 'त्रिरत्न' कहते हैं। कलाकारों ने इनके प्रतीक-रूप में त्रिशूल से कुछ मिलते-जुलते एक चिह्न का निर्माण किया, जो परम्परा द्वारा बुद्ध, मांगल्य, पावित्र्य आदि का द्योतक होकर बहुत अधिक सम्मानित हुआ।[८]

१३. स्तूप ... यद्यपि आज की विचारधारा में 'स्तूप' शब्द का सम्बन्ध बौद्ध और जैन मतों से ही बैठाया जाता है, तथापि स्तूप की कल्पना बुद्ध के पहले से ही विद्यमान थी। महापरिनिर्वाण-सूत्र में स्वयं बुद्ध ने तथागत, सम्यक्संबुद्ध, तथागत का श्रावक या शिष्य एवं चक्रवर्त्ती सम्राट्—इन चार लोगों को 'स्तूपार्ह' अर्थात् स्तूप बनाये जाने योग्य कहा है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है कि स्तूप यज्ञीय यूपों का मूर्त्यन्तर है।[९]

सरल भाषा में स्तूप बहुमान्य एवं अत्यन्त आदरणीय मृत व्यक्ति की समाधि है। अन्त्येष्टि के बाद पाञ्चभौतिक अवशेषों को एकत्र कर एक कलश, पेटी या करण्डक (अवशेष=धातु=धातु-करण्डक) में उन्हें स्थापित किया जाता था और उसके ऊपर उलटी हुई कटोरी के आकार के एक वास्तु का निर्माण किया जाता था। इसे 'स्तूप' कहते थे। प्रारम्भिक काल के स्तूप केवल मिट्टी के होते थे, उसके बाद उन्हें ईंटों से ढँकने लगे और तीसरी अवस्था में उन्हें शिला-खण्डों से आवृत किया जाने लगा।

स्तूप का मुख्य भाग 'अण्ड' कहलाता है। इसपर दो या तीन घेरे होते हैं, जिन्हें 'मेखला' या 'मेधि' कहते हैं। अण्ड के ऊपरी सिरे पर वेदिका से आवृत एक आयताकार या वर्गाकार स्थान होता है, जो 'हर्मिका' कहलाता है। हर्मिका पर दण्ड या छत्रयष्टि के सहारे खड़े एक, तीन या सात छत्र होते हैं। स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा के हेतु 'प्रदक्षिणापथ' रहता है, जो वेष्टनी, द्वारतोरण आदि से युक्त होता है।

तथागत के निर्वाण का प्रतीक होने के कारण स्तूप को अत्यधिक महत्त्व दिया गया, जो बुद्ध-प्रतिमा के बनने के बाद भी विद्यमान रहा। देव-प्रतिमा के समान ही स्तूप या स्तूप की लघु प्रतिकृति का निर्माण, पूजन, स्थापना आदि विशेष पुण्य के कार्य गिने जाते थे।

प्रत्येक स्तूप में धातु-करण्डक का होना असम्भव था, अतः स्तूप के तीन प्रकारों की कल्पना की गई; यथा—शारीरिक, पारिभोगिक एवं उद्देशिक। प्रत्यक्ष पाञ्चभौतिक अवशेष जिस स्तूप में निहित हों, वह 'शारीरिक', उपभोग या नित्योपयोग की वस्तुओं पर बने स्तूप 'पारिभोगिक' तथा केवल स्मृति में पत्थर, मिट्टी अथवा विभिन्न प्रकार की धातु आदि माध्यमों से पूजा-हेतु बनाये गये नन्हें आकार के स्तूप 'उद्देशिक' स्तूप कहलाते थे। मध्यकाल में इन स्तूपों पर लेखादि भी उत्कीर्ण मिलते हैं।

बुद्ध-प्रतिमा का अवतरण[१०] :

ईसवी सन् के प्रारम्भ के पहले बौद्धमतावलम्बियों में प्रतीक-पूजन तो प्रचलित था, पर प्रत्यक्ष प्रतिमा के निर्माण की बात सर्वमान्य नहीं थी। ईसवी सन् तक पहुँचते-पहुँचते प्रतिमा का अभाव तीव्रता से अनुभूत होने लगा; क्योंकि इसके कई कारण थे। अबतक व्रजक्षेत्र में भागवत-सम्प्रदाय की जड़ें जम चुकी थीं। भक्ति-सिद्धान्त का प्रसार हो रहा था। महाक्षत्रप षोडाश के समय में कृष्ण, बलरामादि पञ्चवीरों की प्रतिमाएँ तथा उनके मन्दिर अस्तित्व में आ चुके थे। विदिशा के विष्णु-मन्दिर में यूनानियों-जैसे विदेशी लोग भी भक्ति का राग अलापने लगे थे। यही नहीं, अपितु दूसरे नास्तिक मत अर्थात् जैनमत में भी शनैः-शनैः तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ कला-जगत् के क्षितिज पर उदित होने जा रही थीं। ऐसी स्थिति में बौद्धों को—कम-से-कम उनके एक वर्ग को—अपने आराध्य की प्रत्यक्ष प्रतिमा के अभाव का चुभना स्वाभाविक था। यह वर्ग सुधारणावादी बौद्धों का अर्थात् महासांघिकों का था। पर कोई भी धार्मिक आचार्य या नेता पूर्वस्थापित विचार-धारा का मुँह मोड़कर उसमें अपने बल पर क्रान्तिकारी परिवर्त्तन नहीं ला सकता। राजा या शासन द्वारा उसका पृष्ठपोषण आवश्यक होता है। सुधारणावादी बौद्धों को सत्ता का वरदहस्त कुषाण-काल में प्राप्त हुआ। इस वंश के शासक कनिष्क ने अपने सिक्कों पर अन्य प्रभावशाली देवताओं के समान ही बुद्ध की प्रतिमा को भी स्थान देने का निर्णय किया, पर प्रतिमा तो थी ही नहीं। राजाज्ञा का बल मिलते ही कुषाण-साम्राज्य के उत्तर और दक्षिण दोनों भागों के, अर्थात् गान्धार और मथुरा के कलाकार महासांघिक बौद्धों से प्रेरणा लेकर आगे बढ़े और कनिष्क के शासनकाल में गान्धार और मथुरा-कला में भगवान् बुद्ध की प्रतिमा चमकने लगी। यह विषय विवादग्रस्त है कि बुद्ध की

प्रथम मूर्त्ति के निर्माण का श्रेय व्रज के कलाकारों को मिलना चाहिए या उसका सेहरा गान्धार-शिल्पियों के मस्तक पर बाँधा जाना चाहिए। इसके साधक-बाधक प्रमाणों की यहाँ विस्तार से चर्चा न कर केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अब विद्वानों का बहुमत यह स्वीकार करने के पक्ष में है कि 'बोधिसत्त्व' नाम से बुद्ध की प्रथम प्रतिमा मथुरा के कलाकारों द्वारा निर्मित की गई। सारनाथ (वाराणसी) में भिक्षुबल ने सम्राट् कनिष्क के राज्याभिषेक के तीसरे वर्ष 'बोधिसत्त्व' अभिधान से अभयमुद्रा में खड़े बुद्ध की प्रतिमा प्रतिष्ठापित कराई थी। प्रारम्भिक बुद्ध-मूर्त्तियों को बोधिसत्त्व के नाम से पुकारकर सुधारणावादी बौद्धों ने एक साथ दो उद्देश्य पूरे किये। एक तो प्राचीन मत के अनुसार निर्वाण-प्राप्त बुद्ध को पुनः साकार रूप न देकर भक्तों की आँखों के सामने पूजनादि के लिए बुद्ध की संबोधि-प्राप्ति के पूर्व रूप अर्थात् बोधिसत्त्व को खड़ा कर दिया। इस प्रकार प्राचीन मत का आंशिक समर्थन भी हो गया और उपासना के लिए प्रतिमा भी मिल गई।

बुद्ध-प्रतिमा के निर्माण के आधार[११] :

मथुरा में बनी खड़े बुद्ध की मूर्त्ति का मुख्य आधार यक्षों की समकालीन विशाल प्रतिमाएँ थीं। बैठे हुए बुद्ध की मूर्त्ति कदाचित् भरहुत-कला में दृष्टिगोचर होनेवाली दीर्घ तापसी की प्रतिमा को देखकर बनाई गई हो। कुछ विद्वानों के मतानुसार मथुरा से प्राप्त जैन-आयागपट्टों पर अंकित तीर्थंकर-प्रतिमा भी इसका आधार हो सकती है।

बुद्ध के केश निदान-कथाओं के वर्णनों के अनुसार बनते थे। कुछ प्रतिमाओं में बुद्ध मुण्डित हैं एवं कहीं शंख के ऊपरी भाग के समान एकत्र किये बाल घुमावदार पद्धति से बाँधे गये हैं। उत्तर-कुषाण-काल में अंगुष्ठमात्र कुञ्चित केश दिखलाये गये हैं।

बुद्ध के प्रभामण्डल का उद्भव ईरानी देवताओं के प्रभामण्डल में रहा होगा। चीवर, संघाटी आदि के पहनने की पद्धति तो समकालीन भिक्षुओं के वेश से ली गई होगी, वैसे विनय में भी इसका विस्तृत वर्णन मिलता है।

गान्धार-कला का बुद्ध विशुद्ध भारतीय धारा की अपेक्षा यूनानी कला से अधिक प्रभावित है। उसके बाल, मूँछें और उत्तरीय ओढ़ने की शैली पूर्ण भारतीय ढाँचे की नहीं है। गान्धार-बुद्ध यदि खड़े हों तो अभयमुद्रा में, और यदि बैठे हों तो अभय, ध्यान तथा धर्मचक्र-प्रवर्त्तन-मुद्रा में दिखलाई पड़ते हैं। भूमिस्पर्श-मुद्रा क्वचित् ही दृष्टिगोचर होती है, वरदमुद्रा का पूर्ण अभाव है।

कुषाणकालीन बुद्ध-प्रतिमाओं की विशेषताएँ :

लोक-प्रवृत्ति, धर्माचार्यों का मार्ग-दर्शन तथा शासकीय आज्ञा—इन तीनों के संयोग से कुषाण-काल में जो बुद्ध-प्रतिमा—विशेषकर मथुरा में—निर्मित हुई, उसकी प्रमुख विशेषताओं को निम्नांकित रूप में समझा जा सकता है :

१. मुण्डित मस्तक अथवा उष्णीष पर शंख या कौड़ी जैसी बालों की घुमावदार रचना (कपर्द)। बुद्ध के प्रसंग में 'उष्णीष' शब्द से पगड़ी या साफे का तात्पर्य नहीं होता अपितु वह मस्तक के ऊपर ऊभरी हुई गोलाई है, जो

उनके शरीर का नैसर्गिक भाग है तथा जिसकी गिनती महापुरुष के बत्तीस लक्षणों के अन्तर्गत की जाती है।

२. भौंहों के बीच में ऊर्णा अर्थात् एक वर्त्तुलाकार चिह्न। यह भी महापुरुष का एक विशेष लक्षण है। **ललितविस्तर**[१२] के अनुसार मारपराजय के समय बोधिसत्त्व सिद्धार्थ की ऊर्णा से एक ज्योति प्रकट हुई थी, जिसके कारण मारभवन कम्पित हो उठे थे। कुषाणकालीन बुद्ध-प्रतिमा में यह ऊर्णा-चिह्न अनपवाद रूप से बना होता है। कहीं-कहीं पर (म० सं० सं० ए० २७) ऊर्णा के स्थान पर एक गड्ढा है। स्पष्ट है कि यहाँ किसी समय कुषाण या कुषाणोत्तर काल में ऊर्णा से प्रकट होनेवाले प्रकाश के प्रतीक-स्वरूप कोई रत्न जड़ा गया हो।

३. बुद्ध का विशाल वक्षस्थल। साधारणतया उनका बायाँ कन्धा वस्त्र से ढँका दिखलाते हैं (एकांसमुत्तरासङ्गं कृत्वा)।

४. अभयमुद्रा में दाहिना हाथ कन्धे तक उठा रहता है। खड़ी प्रतिमाओं में बायाँ हाथ वस्त्रान्त को थामे रहता है अथवा कमर के पास उसकी मुट्ठी बँधी रहती है। बैठी हुई प्रतिमाओं में वह बाईं जंघा पर टिका रहता है।

५. शरीर से सटा हुआ सिलवटदार उत्तरीय।

६. पहने हुए अधोवस्त्र को कमर से कसे रखने के लिए गाँठ बँधी हुई एक सँकरी पट्टी का प्रयोग, जो 'कायबन्धन' नाम से पुकारी जाती थी।

७. पूर्णतया खुले हुए नेत्र और मुख पर हलका स्मित।

८. भावांकन की अपेक्षा शारीरिक भाव-भंगिमाओं का अधिक सफलतापूर्ण एवं नैसर्गिक अंकन।

९. दोनों पैरों को सीधा एवं कड़ा बनाया जाना। कुछ प्रतिमाओं में पैरों के बीच में कमल-कलिकाओं का गुच्छा, सिंह, बोधिसत्त्व मैत्रेय (म० सं० सं० ३८.२७९८, सारनाथ की बोधिसत्त्व-मूर्त्ति, ल० सं० सं० ओ० ७१) एवं क्वचित् एक स्त्री-प्रतिमा अंकित रहती है।[१३]

१०. हस्तिनखों से युक्त प्रभामण्डल।

गुप्तकालीन बुद्ध-प्रतिमा और उसकी विशेषताएँ :

गुप्तों का युग प्राचीन भारतीय कला का उत्कर्ष-काल था। इस समय व्रज-जनपद में जो कलाकृतियाँ बनीं, उनमें कुछ बुद्ध-प्रतिमाओं की प्रमुखता से गणना करनी होगी (उदाहरणार्थ म० सं० सं० ए० ५; ल० सं० सं० बी० १०; कसिया (उ० प्र०) की सोये हुए बुद्ध की मूर्त्ति; राष्ट्रपति-भवन, दिल्ली की बुद्ध-प्रतिमा आदि)। इसी समय उत्तर-प्रदेश के ही जिस दूसरे स्थान का प्रमुख बौद्ध-कला-केन्द्र के रूप में उदय हुआ, वह सारनाथ था। यहाँ पर बनी धर्मचक्र-प्रवर्त्तन-मुद्रा में बैठी तथागत की प्रतिमा अपने अद्भुत भाव-सौन्दर्य के कारण भारत की एक अमर कलाकृति है। इसके अतिरिक्त सारनाथ की कला में अनेक बुद्ध एवं बौद्ध-प्रतिमाएँ कला-जगत् में उल्लेखनीय स्थान पा चुकी हैं। इन बुद्ध-मूर्त्तियों की निम्नांकित विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं :—

(क) अलौकिक शान्ति, असीम करुणा एवं मुख पर प्रसन्न स्मित का सशक्त अंकन।

(ख) मृदु एवं आकर्षक शरीर-यष्टि।

(ग) बारीक और पारदर्शक वस्त्र।

(घ) वस्त्रों की महीन चुन्नटों का यथार्थ अंकन। कुषाण-काल में ये चुन्नटें पत्थर में गढ़कर बनती थीं, पर गुप्तकाल में ये उभरी हुई दिखलाई पड़ती हैं।

(ङ) अलंकृत प्रभामण्डल। कुषाण-काल में प्रभामण्डल के किनारे पर हस्ति-नख-पंक्ति का अलंकरण बनता था, पर अब उसके साथ पत्रावली, हार-यष्टि, पुष्पलता, खिले हुए कमल, स्वस्तिक, मगर आदि कितने ही नयन-मनोहर अलंकरणों का मेल दिखलाई पड़ता है (देखिए म० सं० सं० ए० ५ का प्रभामण्डल)।

(च) मस्तक पर शोभित अंगुष्ठ-प्रमाण कुञ्चित केश अब बुद्ध-प्रतिमा का साधारण वैशिष्ट्य हो गया। अपवाद-रूप मानकुँवर की बुद्ध-प्रतिमा (ल० सं० सं० ओ० ७०) को देखना होगा, जहाँ केशों की रचना इस प्रकार की नहीं है।

(छ) कुषाणकालीन ऊर्णा-चिह्न अब केवल इनी-गिनी प्रतिमाओं में ही मिलता है।

(ज) अभयमुद्रावाला बुद्ध का दाहिना हाथ अब कन्धे तक नहीं उठता, अपितु लगभग कन्धे के साथ समकोण बनाते हुए स्थित रहता है।

(झ) हाथ के तलवों पर भी कुछ परिवर्त्तन लक्षित होते हैं। अब धर्मचक्रादि मंगलचिह्न लुप्त होकर वहाँ सामुद्रिक रेखाएँ झलकने लगती हैं।

(ञ) इसी प्रकार हाथ की पाँचों अंगुलियाँ पीछे से एक-दूसरे से जुड़ी होती हैं। इस अभिप्राय को लक्षण-ग्रन्थों में 'जालांगुलि' कहा गया है।[१४]

(ट) कानों की लम्बाई में वृद्धि, अधिक वंकिम भौंहें, अर्धोन्मीलित आँखें, कुछ मोटे होंठ, होठों के किनारों पर दिखलाई पड़नेवाले गड्ढे (सृक्का या सृक्किणी) आदि गुप्तकालीन बुद्धमुखों की विशेषताएँ हैं।

(ठ) पैरों के बीच में दिखलाई पड़नेवाले कुषाणकालीन अलंकरण भी अब लुप्त हो जाते हैं।

(ड) इसी प्रकार पैरों की स्थिति कड़ी या ठूंठनुमा न होकर उनमें स्वाभाविक लोच दिखलाई पड़ती है। फलतः बुद्ध का एक पैर बहुधा किंचित् झुका हुआ दिखलाई पड़ता है।

लक्षण-ग्रन्थों में बुद्ध :

बुद्ध-प्रतिमा के विषय में बौद्ध-ग्रन्थों में अच्छी सामग्री है। **दिव्यावदान** जैसे कथा-ग्रन्थ बुद्धरूप की चर्चा करते हैं।[१५] उसी प्रकार क्रकुच्छन्द जैसे मानुषीय बुद्धों की काय-परिमाण मूर्त्तियों के भी उल्लेख मिलते हैं।[१६] तथागत-बिम्ब को सुगन्धित जल से

स्नान कराने की बात **दिव्यावदान** के महायानसूत्र को स्वीकार है।[१७] **अवदानशतक** में महापुरुष के बत्तीस लक्षणों से अलंकृत, अस्सी अनुव्यंजनों से राजित तथा सहस्र सूर्यों की प्रभा से उज्ज्वलित बुद्ध के ध्यान का उल्लेख है।[१८]

बृहत्संहिता पद्मांकित कर-चरणवाले, 'सुनीथ' अर्थात् छोटे एवं झुके हुए केशों से सुशोभित एवं पद्मासन में बैठे हुए प्रसन्नमूर्त्ति बुद्ध का वर्णन करती है।[१९]

अग्निपुराण में बुद्ध का गौरवर्ण, लम्बे कानवाला, वस्त्रों से सुशोभित तथा वरदाभय मुद्रा के साथ ऊर्ध्वपद्म पर बैठे हुए होने की बातें कही गई हैं।[२०]

बुद्ध-प्रतिमाओं में मुद्राएँ :

साधारणतया बुद्ध की मूर्त्तियाँ निम्नांकित मुद्राओं में दिखलाई पड़ती हैं :—

१. ध्यानमुद्रा	...	पैरों की पलथी, दोनों हाथ नाभि के पास, हथेलियाँ एक-दूसरे पर रखी हुई होती हैं।
२. धर्मचक्र-प्रवर्त्तन-मुद्रा	...	पलथी, दोनों हाथ विशिष्ट प्रकार से छाती के पास मिले हुए। यहाँ हाथों की अंगुलियों की स्थिति ध्यान देने योग्य होती है।
३. भूमिस्पर्शमुद्रा	...	पलथी, बायाँ हाथ पलथी पर, दाहिने हाथ की हथेली खुली हुई, अंगुलियों से भूमिस्पर्श।
४. वरदाभय	...	खड़े या बैठी स्थिति में दाहिने हाथ का अभय-मुद्रा में तथा बायें हाथ का वरदमुद्रा में रहना। ये दोनों मुद्राएँ एक साथ ही दिखलाई पड़ती हों, ऐसी बात नहीं। दाहिना हाथ अभय-मुद्रा में तथा बायें में वस्त्रान्त या भिक्षापात्र भी दिखलाते हैं।
५. महानिर्वाण-मुद्रा	...	दो शालवृक्षों के बीच में लगी शय्या पर दाहिना हाथ सिरहाने लेकर उसी करवट लेटे हुए बुद्ध। इसी मुद्रा में उन्होंने महानिर्वाण प्राप्त किया था।

बौद्ध-देवता-संघ :

बुद्ध-प्रतिमा के अवतरण के लगभग साथ-ही-साथ 'भक्ति'-सिद्धान्त से अनुप्रेरित उपासकों में अन्यान्य बौद्ध-देवताओं की मूर्त्तियों का भी शनैः-शनैः प्रसार बढ़ने लगा। बौद्ध-कथाओं के अंकन में पहले ब्रह्मा, शक्र (इन्द्र), मार (कामदेव), नाग, मारकन्याओं आदि की मूर्त्तियाँ तो बनती ही थीं, पर अब बोधिसत्त्व, अवलोकितेश्वर, ध्यानी बुद्ध, मानुषी बुद्ध आदि भी मूर्त्तरूप में सामने आने लगे। बौद्ध-देवता-संघ की रचना और विस्तार के विषय में कुछ लिखने के पूर्व एक बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि बौद्ध-देवता-संघ अत्यन्त जटिल एवं अत्यन्त विस्तृत है। बौद्धमत देश-विदेश में फैला है, रहन-

सहन की विभिन्न पद्धतियों एवं विचार-सरणियों के फलस्वरूप उसमें अनेक लोक-देवताओं का मूल रूप अथवा परिवर्त्तित रूप में प्रवेश हुआ है, देश-विदेश के पारस्परिक सम्बन्धों ने भी देवता-संघ की वृद्धि में योगदान दिया है और इस प्रकार यह सारा विचार भरे-पूरे स्वतन्त्र ग्रन्थ का लेख्य विषय होने का सम्मान पा चुका है। स्पष्टतः प्रस्तुत पुस्तक की सीमाओं में बँधकर हम इसके साथ अंशतः भी न्याय नहीं कर सकेंगे। एतावता यहाँ सैद्धान्तिक मत-भिन्नताओं को अलग रखकर हम केवल अत्यन्त महत्त्व की प्रतिमाओं का वर्णनार्थ इस प्रकार चुनाव करेंगे कि हमारे साधारण वाचक एवं मूर्त्ति-विज्ञान के प्रारम्भिक विद्यार्थियों को विषय का मोटे रूप में आकलन करने में कठिनाई न हो।

ध्यानी बुद्ध :

बौद्धों के यहाँ सृष्टि के मूल उद्गम-स्थान के रूप में, अर्थात् विश्वपिता और विश्वमाता के नाते से आदिबुद्ध और आदिप्रज्ञा या प्रज्ञापारमिता की कल्पना की गई है।[२१] यह पुरुष और प्रकृति की कल्पना से बहुत-कुछ मेल खाती है। इनके साथ ध्यानी बुद्ध भी सामने आते हैं।[२२] इनकी संख्या पाँच है। ये पाँचों सदैव ध्यान में ही लगे रहते हैं और संसार के व्यापार में इनका कोई योगदान नहीं होता, पर इनकी दिशाएँ, बोधिसत्त्व, प्रतिनिधि-तत्त्व आदि निश्चित हैं, जिन्हें पृष्ठ २०२ पर दिये शब्दचित्र (चार्ट) से समझा जा सकता है।

वैरोचनादि पाँचों ध्यानी बुद्ध स्वतन्त्र रूप से क्वचित् ही अंकित किये जाते हैं। ये बहुधा पाँच के समूह में बोधिसत्त्वादि प्रतिमाओं की पृष्ठशिला पर अथवा सम्बद्ध देवताओं के मुकुटों पर बने रहते हैं। इसका नियम यह है कि देवता के पितृस्थानीय ध्यानी बुद्ध केन्द्र में तथा शेष चार अगल-बगल रहते हैं। ये पाँचों सदैव वज्रासन में ही अंकित किये जाते हैं। इनके वाहन, चिह्नादि निम्नांकित हैं :—

ध्यानी बुद्ध	वाहन	मस्तक पर चिह्न	वर्ग	शक्ति
१. वैरोचन	भयंकर सर्प अजदहा	चक्र	क	वज्रधात्वीश्वरी
२. अक्षोभ्य	हाथी	वज्र	च	लोचना
३. रत्नसम्भव	सिंह	रत्न	त	मामकी
४. अमिताभ	मोर	कमल	ट	पाण्डरा
५. अमोघसिद्धि	गरुड	विश्ववज्र या दोहरा वज्र	प	तारा

ध्यानी बुद्धों के दर्शन कुषाणकालीन कला से ही होने लगते हैं। इनमें से कुछ, जैसे अमोघ-सिद्धि और रत्नसम्भव बोधिसत्त्वों के मुकुटों पर दिखलाई पड़ते हैं (ल० सं० सं० बी० ८२, म० सं० सं० २३६७; म० सं० सं० १९४४)।

बोधिसत्त्व[२३] :

निरन्तर ध्यानमग्न रहने के कारण ध्यानी बुद्ध कोई सांसारिक व्यापार नहीं करते। उस कार्य का सम्पादन करने के लिए प्रत्येक के एक-एक बोधिसत्त्व की कल्पना की गई है। मैत्रेयादि बोधिसत्त्वों का कुषाणकाल से ही अंकन होने लगा था।[२४] लखनऊ संग्रहालय के एक वेदिका--स्तम्भ पर मैत्रेय की एक सुन्दर प्रतिमा है, जिसके मस्तक पर अमोघसिद्धि बनी है (बी० ८२)। मैत्रेय अभयमुद्रा में रहते हैं, दूसरे हाथ में अमृतपात्र या घट रहता है।[२५] इसी प्रकार बोधिसत्त्व सिद्धार्थ ध्यान-मुद्रा में दिखलाये जाते हैं। इनके दर्शन कुषाणकालीन मथुरा-कला (ल० सं० सं० बी ८२ का पृष्ठभाग, ल० सं० सं० बी २०८) तथा गान्धार कलाकृतियों में होते हैं (हेरेल्ड इंघाल्ट, **गान्धार आर्ट इन पाकिस्तान**, पृ० २७६–८७)। सभी बोधिसत्त्व वस्त्रालंकारों से मण्डित रहते हैं।

कुछ कलाकृतियों में—विशेषत: मध्यकालीन कला में—पाँच के स्थान पर आठ बोधिसत्त्वों का समूह रहता है। यहाँ प्रारम्भिक समूह में से रत्नपाणि और विश्वपाणि का अंकन न कर आकाशगर्भ, क्षितिगर्भ, सर्व-निर्वाण विष्कंभिन्, मञ्जुश्री और मैत्रेय की योजना की जाती है। इनमें मैत्रेय तो पुराने हैं, शेष चार नये हैं, पर सबसे अधिक महत्त्व मिला है मञ्जुश्री को।

बौद्धमत के अनुसार आजतक तीन युग समाप्त हो चुके हैं और वर्त्तमान अवलोकितेश्वर की चौथी सर्जना है। इस युग के मानुषी बुद्ध शाक्यमुनि गौतम हैं। उनके निर्वाण के पाँच हजार वर्ष बाद विश्वपाणि बोधिसत्त्व पञ्चम सर्जन करेंगे और उस समय मानुषी बुद्ध होंगे मैत्रेय।

देवी :

बौद्धों के यहाँ देवियों की संख्या बहुत बड़ी है और कौन किसकी शक्ति है, इसका निर्णय अत्यन्त ही जटिल है। कतिपय देवियाँ बोधिसत्त्वों के समान स्तर पर सम्मान पाती हैं। वे भी ध्यानी बुद्धों से ही उद्भूत हैं। इनमें तारा का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। ये ताराएँ पाँच वर्णों की हैं, जो एक-एक बोधिसत्त्व से सम्बद्ध हैं। आगे की सारणी इस विस्तार को पर्याप्त स्पष्ट करती है।

ध्यानी बुद्ध और उनके देवता :

आदिबुद्ध+आदिप्रज्ञा (प्रज्ञापारमिता)

ध्यानी बुद्ध	वर्ण	दिशा	प्रातिनिधिक तत्त्व	तन्मात्रा	मुद्रा	ध्यानी बोधिसत्त्व	मानुषी बुद्ध	देवी
वैरोचन	श्वेत	मध्य	आकाश	शब्द	उत्तरबोधि या धर्मचक्र-प्रवर्त्तन	समन्तभद्र	ऋकच्छन्द	–श्वेततारा, –उष्णीष-विजया, –जांगुली तारा— –मारीची
अक्षोभ्य	नीला	पूर्व	वायु	स्पर्श	भूमिस्पर्श	वज्रपाणि	कनकमुनि	–नीलतारा, –एकजटा
रत्नसम्भव	पीला	दक्षिण	अग्नि	रूप	वरद	रत्नपाणि	काश्यप	–पीततारा –वसुधारा –वज्रतारा
अमिताभ	लाल	पश्चिम	जल	रस	समाहित ध्यान	अवलोकितेश्वर	गौतम	–रक्ततारा/कुरुकुल्ला –सितातपत्रा –भृकुटी
अमोघसिद्धि	हरा	उत्तर	पृथ्वी	गन्ध	अभय	विश्वपाणि	मैत्रेय	–हरिततारा, –पर्णशबरी

उपर्युक्त शब्दचित्र में प्रदर्शित बोधिसत्त्वादि के अतिरिक्त कई देवी-देवता अपने अलग-अलग स्थान बौद्ध-संघ में बनाये हुए हैं। इनका दूसरा वर्ग संरक्षण करनेवाले देवी-देवताओं का है, जिसमें यमान्तक, जम्भल, हेवज्र, हेरुक, महामाया, संवर, कालचक्र तथा पंचरक्षा की गिनती होती है।

इसके बाद क्रम से धर्मपाल नामक देव-समुदाय की ओर दृष्टिपात करना होगा, जिसमें, कुबेर, यम, हयग्रीव, महाकाल, यमान्तक आदि क्रूरमुख देवगणों का समावेश होता है।

अन्तिम वर्ग में कुबेर-पत्नी हारीति तथा नागार्जुन, पद्मसम्भवादि आचार्यों की गणना होती है। इन सबके अतिरिक्त डाकिनी, पिशाच, भैरव आदि के अनेक समुदाय बौद्ध-देवता-संघ में भरे हुए हैं, जिनकी संख्या अनन्त एवं अकल्पनीय है। अतएव इन सबको दूर से ही प्रणाम कर ग्रन्थ की मर्यादाओं को देखते हुए अपने को कुछ महत्त्वपूर्ण बौद्ध-प्रतिमाओं तक ही सीमित रखना उचित होगा।

इन प्रतिमाओं के दर्शन करने के पूर्व उस प्रसिद्ध बौद्धमन्त्र की ओर ध्यान देना आवश्यक है, जो इनमें से कई प्रतिमाओं की चरण-चौकियों पर, पृष्ठशिलाओं पर या अन्यत्र भी उत्कीर्ण रहता है। यह मन्त्र है—

ये धर्मा हेतु प्रभवा हेतुं तेषां तथागतोह्यवदत् ।
तेषां च यो निरोधः एव मवादीत् महाश्रमणः ।।

"महाश्रमण का वचन यही है कि सब धर्मों का एक कारण होता है, उस कारण को तथागत ने स्पष्ट किया है और इन कारणों का निरोध भी बतलाया गया है।"

अवलोकितेश्वर[२६] :

अवलोकित, लोकनाथ, लोकेश्वर आदि नामों से पहचाने जानेवाले बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर की बौद्धों में बड़ी मान्यता है। अत्यन्त दयाशील या 'महाकारुणिक' होना उनका प्रमुख गुण है। ध्यानी बुद्ध अमिताभ और देवी पाण्डरा से सम्बद्ध ये वर्त्तमान कल्प अर्थात् भद्रकल्प के बोधिसत्त्व हैं। ये अपने निर्वाण का त्याग कर दूसरों के सुख के लिए चिरन्तन प्रयत्न करते रहते हैं। अवलोकितेश्वर के लगभग १०८ रूपों की कल्पना की गई है, जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं:—

षडक्षरी लोकेश्वर[२७] : इनका वर्ण श्वेत है तथा हाथ चार हैं। साधारण दो नमस्कार-मुद्रा में जुड़े रहते हैं तथा पिछले दो में माला एवं कमल रहते हैं। अगल-बगल मणिधर और षडक्षरी महाविद्या भी रहती हैं। षडक्षरी लोकेश्वर की प्रतिमाएँ गुप्तकाल से ही मिलने लगती हैं तथा बाद में भी इनके दर्शन होते रहते हैं (मध्यकालीन षडक्षरी, सारनाथ सं० सं० ५१४)।

सिंहनाद लोकेश्वर[२८] : महाराजलीला-आसन में सिंह के ऊपर बैठे हुए श्वेतवर्ण के सिंहनाद अलंकारों से अभिमण्डित रहते हैं। इनकी दाहिनी ओर साँप लिपटा हुआ त्रिशूल तथा बाईं ओर कमल के ऊपर रखी तलवार होनी चाहिए। कला की दृष्टि से सिंहनाद की एक अत्युत्तम मूर्त्ति महोबा से प्राप्त हुई है (ल० सं० सं० ओ० २२४), जिसका डाक-विभाग ने अपने टिकटों के लिए भी कभी उपयोग किया था।

खसर्पण लोकेश्वर[२९] : वर्ण श्वेत, चिह्न कमल, वरदमुद्रा, ललितासन या पर्यङ्कासन में स्थित खसर्पण के अगल-बगल में तारा, सुधनकुमार, भृकुटी और हयग्रीव रहते हैं। यहाँ तारा का रंग हरा होता है तथा सुधनकुमार पुस्तक लिये हुए राजकुमार-सा रहता है। चार हाथवाली भृकुटी के मस्तक पर जटा-मुकुट तथा हाथों में त्रिदण्ड (त्रिशूल), कमण्डलु व माला रहती है। ठिगने कद का हयग्रीव लम्बोदर तथा उग्र चेहरे का होता है। खसर्पण की प्रतिमाएँ महायान मत में बड़ी लोकप्रिय हैं (ल० सं० सं० जी० २१९)।

लोकनाथ[३०] : खसर्पण और लोकनाथ में बड़ी समानता है। अन्तर केवल इतना ही है कि लोकनाथ अकेले या केवल तारा व हयग्रीव के साथ दिखलाई पड़ते हैं, जबकि खसर्पण के साथ सुधनकुमार और भृकुटी भी रहते हैं। लोकनाथ की एक नयन-मनोहर गुप्तकालीन प्रतिमा सारनाथ संग्रहालय में है [सारनाथ सं० सं० बी० (डी०) १]।

अन्य देवगण :

नीलकण्ठ[३१] : इसे ब्राह्मणधर्म के शिव का बौद्ध संस्करण कहा जा सकता है। समाधिमुद्रा में पीले रंग के वज्रपर्यंकासन पर स्थित नीलकण्ठ के अगल-बगल दो साँप रहते हैं। रत्नपात्र इनका चिह्न है। समुद्र से उत्पन्न भयंकर विष से चराचर विश्व को बचाने के लिए शंकर ने विष को स्वयं ग्रहण किया और उसे पेट में स्थान न देकर कंठ में ही धारण किया। यह ब्राह्मणधर्म की कथा सर्वश्रुत है। इसी से शिव नीलकण्ठ कहलाये।

बौद्ध नीलकण्ठ ध्यानी बुद्ध अमिताभ से उद्भूत हैं। इनकी प्रतिमाएँ गुप्तकाल से ही मिलने लगती हैं [सारनाथ सं० सं० ५१३ या बी० (डी०) ४ (रे० चि० ११७)]।

सुखावती लोकेश्वर[३२] : श्वेत वर्ण, तीन मुख, छह हाथ तथा साथ में तारा। ललितासन में बैठे इस लोकेश्वर की प्रतिमाएँ नेपाल में बहुत अधिक मिलती हैं।

सिद्धैकवीर : सनाल कमल को हाथ में लिये सिद्धैकवीर मञ्जुश्री के एक रूप हैं, जो दो ताराओं के बीच दिखलाई पड़ते हैं [सारनाथ सं०सं० बी० (डी०) ६]।

हयग्रीव[३३] : वैष्णव हयग्रीव का बौद्ध रूप। इनका सम्बन्ध अमिताभ व अक्षोभ्य से है। तीन सिर और आठ हाथवाले हयग्रीव का चेहरा उग्र होता है तथा सबसे ऊपर घोड़े का सिर रहता है। इसके अतिरिक्त इनके कई अन्य ध्यान भी प्रचलित रहे हैं। नेपाल और तिब्बत के घोड़े के व्यापारी हयग्रीव की अधिक पूजा करते हैं।

हेरुक[३४] : बौद्धसंघ में हेरुक भी पर्याप्त लोकप्रिय हैं। साधारणतः ये अपनी शक्ति प्रज्ञा के साथ संयुक्तावस्था या 'यब्-युम्' स्थिति में नाचते हुए या अर्धपर्यंकासन में दिखलाई पड़ते हैं। इनका रंग नीला तथा मुख उग्र होता है। वज्र और कपाल इनके चिह्न हैं, कभी-कभी खट्वाङ्ग के भी दर्शन होते हैं। अकेले होने पर हेरुक द्विभुज रहता है।
शक्ति के नाम-भेद से हेरुक के भी नाम बदलते हैं, यथा चित्रसेना के साथ बुद्ध कपाल, डाकिनी वज्रवाराही के साथ वज्रडाक, प्रज्ञा वज्रवाराही के साथ संवर आदि।

यमारि[३५] : यह बौद्धसंघ में यम का दमन करनेवाले देवता के रूप में प्रसिद्ध है। इसका वाहन भैंसा होता है और मुख भी भैंसे का ही होता है। तिब्बती परम्परा के अनुसार वृष मस्तक यम के उन्मत्त होने पर इस देवता ने उसका पराभव किया था। यह मञ्जुश्री का एक रूप है। इसे अकेले या अपनी शक्ति प्रज्ञा के साथ दिखलाते हैं। साधनमाला के अनुसार इसके दो भेद हैं—रक्त यमारि और कृष्ण यमारि।

जम्भल[३६] : यह अक्षोभ्य और रत्नसम्भव दोनों से सम्बद्ध है। बौद्धों का यह धनपति कुबेर है। कुबेर के समान ही इसके पास फल और नकुलक या धन की थैली होती है। कहीं नकुल के मुख से रत्न निकलते दिखलाई पड़ते हैं। जम्भल का रंग सुनहरा है। आसीन स्थिति में इसके पैरों के पास अधोमुख घट रहता है, जिसमें से धनराशि निकलती हुई दिखलाई पड़ती है। मध्यकाल में जम्भल की अनेक साधनाएँ मिलती हैं। जम्भल की शक्ति वसुधारा है।

मंजुश्री[३७] : महायान संप्रदाय में मञ्जुश्री का स्थान बहुत ऊँचा है। ये मनुष्य से देवताओं की कोटि में पहुँचे हैं। इनका समय ईसा की चौथी शताब्दी के पहले रहा होगा; क्योंकि, ल० सन् ३८४–४१७ के बीच चीनी भाषा में भाषान्तरित 'सुखावती-व्यूह' नामक ग्रन्थ में इनका उल्लेख मिलता है। कालीह्रद नामक एक बड़े भारी जलाशय को वर्त्तमान नेपाल के सुन्दर भूमिखण्ड में परिवर्त्तित करने का श्रेय बौद्ध-परम्परा के अनुसार मञ्जुश्री को दिया जाता है। बोधिसत्त्व मञ्जुश्री के मुख्य चिह्न हैं— प्रज्ञापारमिता ग्रन्थ और अज्ञान एवं तम का विनाश करनेवाला खड्ग। वे बुद्धि, प्रज्ञा, वाक्पटुता तथा विद्या के दाता माने गये हैं। **साधनमाला** में उनकी उनतालीस साधनाएँ तथा चालीस ध्यान गिनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त भारत के बाहर भी उनके कई ध्यान बने हैं। राजवेष धारण किये मञ्जुश्री का सम्बन्ध ध्यानी बुद्ध अमिताभ व अक्षोभ्य से जोड़ा गया है। वे बहुधा एक हाथ में खड्ग तथा दूसरे में पुस्तक लेकर सिंहारूढ दिखलाई पड़ते हैं।

जांगुली[३८] : यह देवी सर्पदंश से मनुष्य का संरक्षण करती है। सर्प इसका मुख्य चिह्न है और एक स्वरूप में वाहन भी। इसका ब्राह्मणधर्म की मनसा से निकट का साम्य है, अपितु मनसा के एक तान्त्रिक ध्यान में उसे जांगुली कहा भी गया है।

प्रज्ञापारमिता[३९] : बौद्धों के यहाँ इसका स्थान बहुत ऊँचा है। मूलतः प्रज्ञा-पारमिता एक शास्त्र का नाम है, जिसे परम्परा के अनुसार नागार्जुन ने नागों से प्राप्त किया था। आर्य असंग ने साधना बनाकर इसे देवी का रूप दिया। श्वेत या पीत वर्ण की प्रज्ञापारमिता वज्रपर्यंक आसन में बैठी होती है। कमल पर रखी पोथी इसका मुख्य चिह्न है।

वसुधारा[४०] : मछलियों को धारण करनेवाली कुषाण-कालीन वसुधारा का पीछे विचार हो चुका है (देखिए पृ० १२२)। बौद्धों की यह वसुधारा उससे भिन्न है। यहाँ यह जम्भल की पत्नी है तथा इसका सम्बन्ध अक्षोभ्य एवं रत्नसम्भव दोनों से माना जाता है। पीतवर्ण की इस देवी का मुख्य चिह्न अनाज की बाली है।

मारीची[४१] : वैरोचन से उद्भूत देवताओं में उषा या सूर्य से मिलती-जुलती मारीची सबसे महत्त्वपूर्ण है। सूर्य-रथ के सात घोड़ों की

भाँति इसके रथ में सात वराह रहते हैं। इसका सारथि राहु केवल मस्तक-रूप में बना रहता है। मारीची के छह रूपों की कल्पना की गई है। साधारणतः सप्त वराह रथ में स्थित मारीची के तीन मुख और आठ हाथ होते हैं।

उष्णीषविजया[४२] : कमलासन बुद्ध को अपने हाथ में धारण करनेवाली श्वेत वर्ण की तीन मुखोंवाली यह अष्टभुजा देवी विद्यादेवी सरस्वती के बहुत ही निकट है।

तारा[४१] : बौद्धों की देवियों में तारा और उसकी अनेक साधनाओं का विस्तार और महत्त्व बहुत बड़ा है। तारा के सामान्य रूप में उसके बाँये हाथ में उत्पल होता है और दाहिना हाथ वरद मुद्रा में रहता है। रंगभेद से तारा के सात प्रकार हैं—हरित (दो प्रकार), श्वेत (दो प्रकार), पीत, नील व रक्त। पत्थर की तारा-प्रतिमाओं में यद्यपि वर्ण नहीं रहता, तथापि परिवार-देवताओं की सहायता से उसका निश्चय हो सकता है।

समारोप

बौद्ध देवता-संघ का विस्तार, जैसा कि हम कह चुके हैं, बहुत बड़ा है। गुप्तकाल तक के कालखण्ड की अपेक्षा मध्यकाल में यह बहुत बढ़ा। उपर्युक्त संक्षिप्त विहंगावलोकन में हमने अपने को विशेष रूप से किसी युग से आबद्ध नहीं किया है।

सन्दर्भ-संकेत :

१. Sivaramamurti, **Amaravati Sculptures in the Madras Government Museum**, Madras, 1942, pp. 14—17.

२. Coomaraswamy A. K., Early Indian Architecture, **Eastern Art**, Philadelphia, Bodhi-ghara, Vol. II, 1930.

३. Marshall, **Monuments of Sanchi**, 1939, Pls. 18, 19; Barua B., **Barhut**, Fig. 50, 30 etc.

४. **Barhut**, Fig. 45; **Monuments of Sanchi**, Pl. 34.

५. Smith V., **Jain Stupa and Other Antiquities from Mathura**, Allahabad 1901, Pl. LXXII, Fig. 1; ल० सं० सं० जे० ३६५

६. Joshi N. P., **Mathura Sculptures**, Pl. 9.

७. Takata Osamu and Ueno Teruo, **The Art of India** (जापानी भाषा में), Figs. 168, 170.

८. **महापरिनिर्वाणसूत्र**, सं० भिक्षु कित्तिमा, सारनाथ, सूत्र १९५, पृ० १११-१२।

९. अग्रवाल, वासुदेवशरण, **प्राचीन भारतीय कला**, वाराणसी, पृ० १६०-६१, स्तूप-शिल्प की विस्तृत चर्चा के लिए इसी ग्रन्थ के पृ० १५७—२१७, साथ ही ऊपर की संख्या १ के पृ० १७—२६।

१०-११. बुद्ध-प्रतिमा के अवतरण एवं आधार के लिए Coomaraswamy **A. K.**, Origin of the Buddha Image, **Art Bulletin IX. 4**, New York 1927; अग्रवाल, वासुदेवशरण, **प्राचीन भारतीय कला**, पृ० २८५—९८।

१२. **ललितविस्तर** (७, पृ० ७४) के अनुसार महापुरुष के बत्तीस लक्षण निम्नांकित हैं: (१) उष्णीषशीर्षः, (२) प्रदक्षिणावर्त्त केशः, (३) समविपुल ललाटः, (४) ऊर्णा.......भ्रुवोर्मध्ये हिमरजत प्रकाशा......., (५) गोपक्ष्म नेत्रः, (६) अभिनील नेत्रः, (७) समचत्वारिंशद्दन्तः, (८) अविरल दन्तः, (९) शुक्लदन्तः, (१०) ब्रह्मस्वरः, (११) रसरसाग्रवान्, (१२) प्रभूतजिह्वः, (१३) सिंहहनुः, (१४) सुसंवृत्तस्कन्धः, (१५) सप्तच्छदोच्छितांसः, (१६) चितांतरांसः, (१७) सूक्ष्मसुवर्णवर्णच्छविः, (१८) स्थितोऽनवनत प्रलम्बबाहुः, (१९) सिंहपूर्वार्धकायः, (२०) न्यग्रोधपरिमण्डलः, (२१) एकैकरोमः, (२२) ऊर्ध्वाग्राभिप्रदक्षिणावर्त्त रोमः, (२४) सुविर्वित्ततोरुः, (२५) एणेयमृगराजजङ्घः, (२६) दीर्घाङ्गुलिः, (२७) आयतपार्ष्णिपादः, (२८) उत्सङ्गपादः, (२९) मृदुतरुणहस्तपादः, (३०) जालाङ्गुलिहस्तपादः, (३१) दीर्घाङ्गुलि अधः क्रमतलयोः चक्रे जाते चित्रे सहस्रारे सनेमिके सनाभिः, (३२) सुप्रतिष्ठित समपादः।

इन लक्षणों की भिन्न प्रकार की सूचियाँ भी अन्यत्र मिलती हैं। सामुद्रिकों के अनुसार छत्र, कमल, धनुष, वज्र, कच्छप, अंकुश, कूप, स्वस्तिक, तोरण, सरोवर, सिंह, वृक्ष, चक्र, शंख, हाथी, समुद्र, कलश, प्रासाद, पैरों पर यव, यज्ञस्तम्भ, स्तूप, कमण्डलु, पर्वत, चामर, दर्पण, बैल, ध्वज, अभिषेक लक्ष्मी, माला और मोर महापुरुष-लक्षण हैं।

१३. हुविष्क के ४५वें वर्ष की बनी बुद्ध-प्रतिमा—**Journal of the Bombay Branch of Royal Asiatic Society**, XX, 1902, p. 269.

१४. देखिए ऊपर १२ का ३०।

१५. **दिव्यावदान**, २१, सहसोद्गतावदान, पृ० १८५; २८, वीतशोकावदान, पृ० २७७; ३७, रुद्रायणावदान, पृ० ४६६; सुप्रभातावदान, पृ० १७६।

१६. वही, २७, कुणालावदान, पृ० २७१।

१७. वही, ३४, दानाधिकरण महायानसूत्रम्, पृ० ४२६।

१८. **अवदानशतक**, ३ कुसिकावदान, पृ० ९।

१९. **बृहत्संहिता**, ५७.४४, **DHI.**, p. 581.

२०. **अग्निपुराण**, ४९.८, पृ० ९३।

२१. Bhattacharya B., **The Indian Buddhist Iconography**, p. XXVIII Bhattasali, Iconography of the **Buddhist and Brahmanical Sculptures** etc., p. 16.

२२. वही, पृ० २—७।

२३. Bhattacharya B., **Indian Buddhist Iconography**, pp. 8-9.

२४. Agrawala V. S., Dhyani Buddhas and Bodhisattvas etc., **JUPHS**, XI, Pt. 2, 1938, pp. 1–13.

२५. वही, पृ० १३-१४

२६. ऊपर २३ के पृ० ३२—५२।

२७. वही, पृ० ३३।

२८. वही, पृ० ३५।

२९. वही, पृ० ३६।

३०. वही, पृ० ३८।

३१. वही, पृ० ४८।

३२. वही, पृ० ५०।

३३. वही, पृ० ६८।

३४. वही, पृ० ६१।

३५. वही, पृ० ६९।

३६. वही, पृ० ११४।

३७. वही, पृ० १००-१०१, पृ० १५५ पादटिप्पणी।

३८. वही, पृ० ७८।

३९. वही, पृ० ८४।

४०. वही, पृ० ८९।

४१. वही, पृ० ९३।

४२. वही, पृ० १००।

४३. वही, पृ० १३५—१४०।

अध्याय १०

जैन-प्रतिमाएँ

ब्राह्मणधर्म की श्रुति एवं स्मृतियों को मान्यता न देने के कारण जैनमत भी नास्तिक मत कहलाता है। 'जिन' या तीर्थङ्करों के अनुयायी जैन तथा जिनों द्वारा प्रतिपादित धर्म जैनधर्म है। यद्यपि जैनधर्म ईश्वर के सृष्टि-निर्माता होने पर अथवा उसके अतुल सामर्थ्य पर अगाध विश्वास का मूलतः प्रतिपादन नहीं करता, तथापि वह 'देववाद' के परिसर से बाहर है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आज जैनमत में देव-प्रतिमा-पूजन का भरपूर प्रचार है। अन्तर इतना ही है कि जैनों के घरों में प्रतिमाएँ तो रहती हैं, किन्तु उनका पूजन, उपासना आदि मुख्यतया जैनालयों में या जैन-मंदिरों में ही की जाती हैं।

तीर्थङ्कर ईश्वर के अवतार नहीं माने जाते, अपितु वे ऐसे लोकोत्तर सामर्थ्य के पुरुष होते हैं, जो तपस्या के बल पर काम-क्रोधादि विकारों को वश में करके कर्ममल को हटाकर अपनी आत्मा को परिशुद्ध कर लेते हैं। ऐसे पुरुषों को तीर्थंकर, केवली, अर्हत्, अरिहन्त आदि नामों से पहिचाना जाता है। तीर्थंकरों की कुल संख्या चौबीस है। इनमें आदिनाथ या ऋषभनाथ तो प्रथम तीर्थङ्कर हैं और वर्धमान या महावीर अन्तिम। आज की ऐतिहासिक विचारधारा के अनुसार इनमें से केवल तीन को—नेमि, पार्श्व तथा महावीर को—सत्यसृष्टि के पुरुष होना स्वीकार किया जाता है। महावीर का समय आज से ठीक २५०० वर्ष पहले का है।

जैनमत के अनुसार, आत्मा कर्म से बद्ध रहता है। तपस्या से कर्म का नाश मुक्ति है। मुक्तों को ही 'सिद्ध' कहा जाता है। सिद्धों के पाँच प्रकार हैं—अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनमें स्पष्टतः अर्हन्त सर्वश्रेष्ठ हैं। जैन गृहस्थ 'श्रावक' और स्त्रियाँ 'श्राविकाएँ' कही जाती हैं।

जैन-कला का आरम्भ :

कुछ जैन विद्वानों के मतानुसार जैन-कला का आरम्भ सिन्धु-सभ्यता से माना जाना चाहिए, किन्तु यह मत सर्वग्राह्य नहीं है। साहित्यिक उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि तीर्थङ्कर की प्रतिमा का निर्माण महावीर के जीवन-काल में ही प्रारम्भ हो चुका था।[1] महावीर की जीवितावस्था में बनी यह प्रतिमा 'जीवन्तस्वामी' के नाम से पुकारी गई और इस प्रकार की बाद की प्रतिमाओं को भी यह नाम मिलता रहा।

तीर्थङ्कर की सर्वप्राचीन प्रतिमा बिहार के लोहानीपुर (पटना) नामक स्थान से मिली है, जो मौर्यकाल की है। शुंगकाल की कोई तीर्थङ्कर-प्रतिमा अबतक जानकारी में नहीं है। प्रारम्भिक कुषाणकाल के मथुरा से मिले कुछ आयागपट्टों पर क्वचित् तीर्थङ्कर-प्रतिमा के दर्शन होते हैं, पर इसी युग के मध्य में तीर्थङ्कर-प्रतिमाओं की संख्या और प्रकारों में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है।

कुषाण-कालीन तीर्थङ्कर-प्रतिमाओं की विशेषताएँ :

कुषाण-कालीन जैनकला का सर्वोत्कृष्ट दर्शन मथुरा में ही होता है। मथुरा के सुप्रसिद्ध कंकाली टीलेवाले स्थान पर कुषाणों के पहले से ही जैनों का बहुत बड़ा अधिष्ठान था। यहाँ का स्तूप देवनिर्मित माना जाता था। उस स्थान पर किये गये उत्खननों से आरम्भिक जैन-कला के भाण्डार मिले हैं, जिनका बहुत बड़ा भाग लखनऊ के राज्य-संग्रहालय में आज सुरक्षित है। यहाँ की तीर्थङ्कर-प्रतिमाओं की निम्नांकित विशेषताएँ दर्शनीय हैं :—

१. जिन-प्रतिमाएँ केवल दो ही स्थितियों में होती हैं—खड़ी या ध्यानस्थ। खड़ी स्थिति को 'खड्गासन' या 'कायोत्सर्ग-मुद्रा'[२] कहते हैं और दूसरी स्थिति ध्यान मुद्रा है।

२. तीर्थङ्कर का मस्तक या तो मुण्डित होता है या अंगुष्ठ-मात्र कुञ्चित केशों से आच्छादित।

३. कान छोटे होते हैं। गुप्तकाल में वे कन्धों तक लटकने लगते हैं।

४. मुख पर किंचित् स्मित के अतिरिक्त किसी विशेष भाव का अंकन नहीं रहता।

५. ध्यानमुद्रा में स्थित तीर्थङ्कर की हथेलियों पर चक्र तथा पैर के तलुओं पर त्रिरत्न और चक्र के दर्शन होते हैं। साथ ही अंगुलियों के अग्र भाग पर श्रीवत्सादि मंगल-चिह्न बने रहते हैं।[३]

६. महापुरुष के लक्षण-रूप में छाती पर श्रीवत्स तथा भौंहों के बीच में ऊर्णा-चिह्न दिखलाई पड़ता है।

७. तीर्थङ्कर व साधु की प्रतिमाएँ पूर्णतया दिगम्बर रहती हैं। केवल 'अर्ध-फलक'[४] सम्प्रदाय के साधु इसके लिए अपवाद हैं।

८. ध्यानस्थ तीर्थङकर का आसन बहुधा सिंहों के मस्तक पर स्थित रहता है। यह तीर्थङकर के चक्रवर्त्तित्व का प्रतीक है।

९. कुषाण-कालीन तीर्थङकर-मूर्त्तियों का दूसरा वर्ग 'चौमुखी या 'सर्वतोभद्र' प्रतिमाओं का है। इस प्रकार की प्रतिमा में चारों दिशाओं की ओर मुँह किये चार तीर्थङकर दिखलाये जाते हैं। इनमें बहुधा एक आदिनाथ और दूसरा पार्श्वनाथ होता है। शेष नेमि व महावीर होंगे, ऐसी कल्पना की जा सकती है[५]।

लाञ्छन :

सभी तीर्थङकरों की प्रतिमाएँ लगभग एक-सी होने के कारण उनकी पृथक् पहचान का मुख्य साधन प्रत्येक प्रतिमा की चरणचौकी पर बने विशेष चिह्न या लाञ्छन होते हैं। प्रारम्भिक जैनकला में लाञ्छनों के दर्शन नहीं होते। कुषाण-काल में आदिनाथ की पहचान

उनके कन्धों पर झूलनेवाले बालों से, पार्श्वनाथ की सर्पफणा से तथा नेमिनाथ की उनके अगल-बगल स्थित वासुदेव बलभद्र से हो जाती है, किन्तु अन्य तीर्थङ्करों की जानकारी के लिए प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण अभिलेखों पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

गुप्तकाल में लाञ्छनों का प्रारम्भ तो हो गया, पर उनका सार्वजनिक प्रयोग नहीं होता था। राजगीर (बिहार) से प्राप्त नेमिनाथ की अभिलिखित प्रतिमा की चरणचौकी पर तीर्थङ्कर का लाञ्छन 'शंख' बना है।[६] वैसे श्वेताम्बर या दिगम्बर-साहित्य में सातवीं-आठवीं शताब्दी तक लाञ्छनों के उल्लेख नहीं मिलते।[७]

गुप्तकालीन तीर्थङ्कर-प्रतिमा :

मथुरा-कला में कुषाण-काल की अपेक्षा गुप्तकालीन तीर्थङ्करों की संख्या कम है। अब 'ऊर्णा' चिह्न लुप्त हो जाता है तथा मुख पर प्रसन्नता दृश्यमान होने लगती है। कान कन्धों तक लटकते हैं, और प्रभामण्डल के अलंकरणों में भी वैविध्य का समावेश होता है।

इसी प्रकार परिवार-देवताओं में भी वृद्धि होती है। मालाधारी गन्धर्व, चौरी लिये हुए सेवक, पूजा-सामग्री को लेकर उड़नेवाले देवगण (ल० सं० सं० जे० ११८, जे० ११६, जे० १२१; म० सं० सं० १२.२६८, बी०६, बी०७ आदि) आदि का अंकन होने लगता है। उत्तर-गुप्तकाल से आठ की संख्या में ग्रह भी सामने आते हैं (म० सं० सं० बी० ७५), आगे चलकर इनकी संख्या नौ बनती है। तीर्थङ्करों के विशिष्ट शासन देवियों और यक्षों का अभी अभाव है।

कुषाण-काल के जैन-प्रतीक :

१. **आयागपट्ट** : तीर्थङ्कर-प्रतिमाओं के लोकप्रिय होने के पूर्व कम-से-कम व्रजक्षेत्र में आयागपट्ट बहुमान्य जैन-प्रतीक थे। आयागपट्ट लगभग दो-सवा दो फुट लम्बा एक वर्गाकार शिलापट्ट होता है, जिसके सम्मुख भाग पर स्तूप, धर्मचक्र, स्वस्तिक, तीर्थङ्कर-प्रतिमा, त्रिरत्न आदि के साथ ही अष्टमंगल-चिह्न, अभिलेख आदि भी उत्कीर्ण रहते हैं। इन शिलापट्टों को अभिलेखों में आयागपट्ट कहा गया है तथा अर्हतों की पूजा के लिए इनका उपयोग बतलाया गया है। मथुरा से ऐसे अनेक आयागपट्ट मिले हैं (म० सं० सं० क्यू० २; ल० सं० सं० जे० २४८, जे० २५०, जे० २५२, जे० २५३, इत्यादि)।

२. **स्तूप** : बौद्धों की भाँति जैनों के भी स्तूप बनते थे, पर उत्तरकाल में बौद्ध स्तूपों का यहाँ और बाहर अधिक विस्तार हुआ, उनकी तुलना में जैन-विस्तार नगण्य रहा। साहित्य एवं

पुरातत्त्व के आधार पर कहा जा सकता है कि पाटलिपुत्र (पटना), पेशावर, पावा, कोटिकापुर आदि स्थानों पर तथा कलिंग देश में जैन-स्तूप रहे[८], पर इनमें सबसे अधिक प्रसिद्धि मथुरा के स्तूप की थी, जो आज के कंकाली टीला नामक स्थान पर विद्यमान था। ईसवी सन् की प्रारम्भिक शती से ही यह 'देवनिर्मित' महास्तूप अपनी शान से जगमगा रहा था। यहीं से हमें सैकड़ों की संख्या में गिनी जानेवाली कलाकृतियाँ मिली हैं।

३. चैत्यवृक्ष : बोधिवृक्ष के समान ही जैन-परम्परा में अनेक वृक्षों को बड़ा पावित्र्य मिला[९], पर इस प्रतीक का भी बहुत अधिक प्रसार नहीं हुआ। प्रारम्भिक जैनकला में वेष्टनी-युक्त चैत्यवृक्ष के दर्शन होते हैं, आगे चलकर कतिपय मूर्त्तियों में तीर्थङ्करों के मस्तक पर ये दिखलाई पड़ते हैं।

४. चैत्यस्तम्भ : मथुरा से प्राप्त एक शुंगकालीन कलाकृति में (लं० सं० सं० जे० २६८) चैत्यस्तम्भ की पूजा का दृश्य अंकित है। यहाँ सिंहशीर्ष-युक्त एक स्तम्भ, वेदिका से घिरा हुआ है, जिसकी कुछ स्त्री-पुरुष प्रदक्षिणा कर रहे हैं। स्तूपों के आँगन में भी चैत्यस्तम्भों का निर्माण होता था। एक आयागपट्ट पर स्तूप और उसके चैत्यस्तम्भों के दर्शन होते हैं (ल० सं० सं० जे० २५५)।

तीर्थङ्कर-प्रतिमा में अंकित अन्य अभिप्राय :

इन पंक्तियों में जिन अभिप्रायों की चर्चा की जा रही है, वे गुप्तकाल तक की प्रतिमाओं में अधिक नहीं दिखलाई पड़ते, पर बाद में उनका सार्वत्रिक प्रचार होता है। इनमें से कई स्वतंत्र रूप से प्राचीन कला में भी दिखलाई पड़ते हैं। अतः यहाँ इन अभिप्रायों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। इन अभिप्रायों की जैन-साहित्य में भी प्रचुर चर्चा मिलती है। उदाहरणार्थ बृहत्कल्पसूत्र के मासकल्प-प्रकृति-सूत्र[१०] में निम्नांकित अभिप्रायों का उल्लेख मिलता है :

१. **चेइयद्रुम (चैत्यद्रुम)** : तीर्थङ्कर के मस्तक पर शोभित वृक्ष।

२. **पेढछंदग (पीठ देवच्छंद)** : पृष्ठशिला पर बनी रथिका।

३. **छत्त (छत्र)** : जिन-मस्तक पर शोभित छत्र।

४. **चामराओ (चौरियाँ)** : तीर्थङ्कर के अगल-बगल स्थित चामरधारी यक्ष या सेवक। मध्यकालीन कला में यहाँ प्रतीक-रूप में कहीं-कहीं पर केवल दो चामर ही दिखलाये जाते हैं।

५. **आसण (आसन)** : जिन का मुख्य आसन।

६. **अन्न करणिज्जं (अन्यत्करणीयम्)** : अन्य अभिप्राय जैसे शासनदेव, धर्मचक्र, नवग्रह आदि।

७. **देवदुन्दुभि** : तीर्थङ्कर के मस्तक पर लगे छत्र के ऊपर एक या एकाधिक देव ढोल बजाते हुए दिखलाई पड़ते हैं। कभी-कभी यह अभिप्राय बहुत अधिक आलंकारिक होता है।

८. **देव, विद्याधर आदि** : छत्र के अगल-बगल हाथी पर बैठे इन्द्रादि देव, मालाधारी विद्याधर आदि दिखलाई पड़ते हैं।

९. **यक्ष, शासनदेवी आदि** : तीर्थङ्कर के आसन के पास, चरणचौकी पर या अन्यत्र उस तीर्थङ्कर के यक्ष और शासनदेवी की मूर्त्तियाँ रहती हैं, पर इनका होना वैकल्पिक है।

१०. **पञ्चपरमेष्ठिन्**[११] : कई तीर्थङ्कर-प्रतिमाओं में मुख्य जिन के अगल-बगल उनके समान ही अन्य चार मूर्त्तियाँ खड़ी या बैठी दिखलाई पड़ती हैं। ये पाँचों मिलकर पञ्चपरमेष्ठिन् अर्थात् अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु का समूह बनाते हैं।

११. **धर्मचक्र** : धर्मचक्रप्रवर्त्तन का बौद्ध-प्रतीक अर्थात् दो हिरनों के बीच रखा चक्र मध्यकालीन कला में जैनों ने भी स्वीकार किया।

१२. **लाञ्छन** : तीर्थङ्कर का लाञ्छन बहुधा चरणचौकी पर बना होता है।

१३. **चतुर्विंशतिका या चौबीसी** : सभी जिनों को एक साथ अंकित करनेवाली प्रतिमा चौबीसी कहलाती है। साधारणतया चौबीसी में मुख्य तीर्थङ्कर आदिनाथ होते हैं। अपवाद-रूप में पार्श्वनाथ भी दिखलाई पड़ते हैं।[१२]

तीर्थङ्कर, उनके लाञ्छन आदि

संख्या	तीर्थङ्कर	वर्ण	लाञ्छन	वृक्ष	दिगम्बर		श्वेताम्बर	
					यक्ष	शासनदेवी	यक्ष	शासनदेवी
१.	ऋषभनाथ	सुनहरा	बैल	वरगद	गोमुख	चक्रेश्वरी	गोमुख	चक्रेश्वरी
२.	अजितनाथ	"	हाथी	शाल	महायक्ष	रोहिणी	महायक्ष	अजितबला
३.	सम्भवनाथ	"	घोड़ा	प्रियाल	त्रिमुख	प्रज्ञप्ति	त्रिमुख	दुरितारि
४.	अभिनन्दननाथ	"	बन्दर	प्रियंगु	यक्षेश्वर	वज्रश्रृंखला	नायक	कालिका
५.	सुमतिनाथ	"	श्वे० क्रौंच दि०—चक्रवाक	शाल	तुम्बरु	पुरुषदत्ता	तुम्बरु	महाकाली
६.	पद्मप्रभनाथ	लाल	कमल	छत्रा (?)	कुसुम	मनोवेगा	कुसुम	श्यामा
७.	सुपार्श्वनाथ	श्वे०—सुनहरा दि०—हरा	श्वे०—स्वस्तिक दि०—नन्द्यावर्त्त	शिरीष	वरनन्दी	काली	मातंग	शान्ता
८.	चन्द्रप्रभनाथ	श्वेत	चन्द्रमा	नाग	विजय	ज्वालामालिनी	विजय	भृकुटी
९.	सुविधि/पुष्पदन्तनाथ	"	मकर/खेंकड़ा	शालि	अजित	महाकाली	अजित	सुतारका
१०.	शीतलनाथ	सुनहरा	श्वे०—श्रीवत्स दि०—स्वस्तिक, श्रीवृक्ष	प्रियंगु	ब्रह्मा	मानवी	ब्रह्मा	अशोका
११.	श्रेयांसनाथ	"	श्वे०—गेंडा दि०—गरुड	तंडुक	ईश्वर	गौरी	यक्षेट	मानवी

संख्या	तीर्थङ्कर	वर्ण	लाञ्छन	वृक्ष	दिगम्बर		श्वेताम्बर	
					यक्ष	शासनदेवी	यक्ष	शासनदेवी
१२.	वासुपूज्यनाथ	लाल	भैंसा	पाटल	कुमार	गान्धारी	कुमार	चण्डा
१३.	विमलनाथ	सुनहरा	वराह	जम्बू	षण्मुख	वैरोटी	षण्मुख	विदिता
१४.	अनन्तनाथ	,,	श्वे०—श्येन दि०—रीछ	अशोक	पाताल	अनन्तमति	पाताल	अंकुशा
१५.	धर्मनाथ	,,	वज्र	दधिपर्ण	किन्नर	मानसी	किन्नर	कन्दर्पा
१६.	शान्तिनाथ	,,	मृग	नन्दी	किम्पुरुष	महामानसी	गरुड	निर्वाणी
१७.	कुन्थुनाथ	,,	बकरा	भिलक	गन्धर्व	विजया	गन्धर्व	बला
१८.	अरनाथ	,,	श्वे०—नन्द्यावर्त्त दि०—मीन	आम्र	खेन्द्र	अजिता	यक्षेन्द्र	धणा
१९.	श्वे०—मल्लि (स्त्री) दि०—मल्लिनाथ	नीला	कुम्भ	अशोक	कुबेर	अपराजिता	कुबेर	धरणप्रिया
२०.	मुनिसुव्रत	काला	कछुआ	चम्पक	वरुण	बहुरूपिणी	वरुण	नरदत्ता
२१.	नमि/निमि	श्वे०—पीत दि०—हरा	श्वे०—नीलोत्पल दि०—अशोकवृक्ष	बकुल	भृकुटी	चामुण्डी चामुण्डा	भृकुटी	गन्धारी
२२.	(अरिष्ट) नेमि	श्याम	शंख	वेतस	सर्वाह्ण	कूष्माण्डिनी	गोमेध	अम्बिका
२३.	पार्श्वनाथ	नील	सर्प	धातकी	पार्श्व धरणेन्द्र	पद्मावती	पार्श्व धरणेन्द्र	पद्मावती
२४.	महावीर	पीत सुनहरा	सिंह	शाल	मातंग	सिद्धायिका	मातंग	सिद्धायिका

इन तीर्थङ्करों के जन्म-स्थान और निर्वाण-स्थान अधिकतर उत्तरप्रदेश और बिहार में थे, यथा उपर्युक्त तालिका के अनुसार[13]—

तीर्थङ्कर-संख्या	जन्म-स्थान	निर्वाण-स्थान
१. ऋषभ	.. विनीतनगर	.. दि०—कैलाश; श्वे०—अष्टापद
२. अजित	.. अयोध्या	.. सम्मेद शिखर
३. सम्भव	.. श्रावस्ती	.. "
४. अभिनन्दन	.. अयोध्या	.. "
५. सुमति	.. "	.. "
६. पद्मप्रभ	.. कौशाम्बी	.. "
७. सुपार्श्व	.. वाराणसी	.. "
८. चन्द्रप्रभ	.. चन्द्रपुरी	.. "
९. सुविधि	.. काकंदीनगर	.. "
१०. शीतल	.. भद्रपुर	.. "
११. श्रेयांस	.. सिंहपुर	.. "
१२. वासुपूज्य	.. चम्पापुरी	.. चम्पापुरी
१३. विमल	.. काम्पिल्यपुर	.. सम्मेद शिखर
१४. अवन्त	.. अयोध्या	.. "
१५. धर्म	.. रत्नपुरी	.. "
१६. शान्ति	.. हस्तिनापुर	.. "
१७. कुन्थु	.. "	"
१८. अर	.. "	"
१९. मल्लि	.. मिथिला	.. "
२०. सुव्रत	.. राजगृह	.. "
२१. नमि	.. मिथिला	.. "
२२. नेमि	.. शौरियपुर	.. गिरिनगर
२३. पार्श्व	.. वाराणसी	.. सम्मेद शिखिर
२४. महावीर	.. कुण्डग्राम (वैशाली)	पावापुरी

जैन देव और देवियाँ

तीर्थङ्कर स्वयं कभी किसी प्रतिमा का पूजन नहीं करते, पर मानव-स्वभाव के अनुसार भक्तगण उनका प्रतिमा-रूप में पूजन करते हैं। अतः जैन देवता-संघ का उद्गम मूलतः तीर्थङ्कर-प्रतिमा से मानना चाहिए। चौबीस तीर्थङ्कर और उनकी शासनदेवी आदि से हम पिछले पृष्ठों में परिचित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त जैन-शास्त्रों के अनुसार जैन-उपास्यों के कई वर्ग हैं और उनका भी विस्तार बहुत बड़ा है। उदाहरण के लिए केवल कुछ वर्ग नीचे गिनाये जा रहे हैं[१४]:

तीर्थङ्कर	२४
भरतादि चक्रवर्त्ती	१२
त्रिपृष्ठादि नारायण या वासुदेव ..	९
अश्वग्रीव आदि प्रतिनारायण	९
विजयादि बलभद्र	९
कुल शलाका-पुरुष	६३
भीमादि नारद	९
भीमबली इत्यादि रुद्र	११
बाहुबली आदि कामदेव	२४
तीर्थङ्करों के पिता	२४
तीर्थङ्करों की माताएँ	२४
प्रतिश्वाति आदि कुलकार	१४
कुल	१०६

अन्य वर्ग के देवसंघ में[१५] भवनवासिन् (असुरादि), व्यन्तर (भूत-पिशाच आदि), ज्योतिष्क (चन्द्र-सूर्य आदि) तथा वैमानिक आदि देवगणों की गिनती की जाती है। इन सबके अतिरिक्त श्रुतदेवी (१६), मातृकाएँ (८), क्षेत्रपाल, भैरव, हरिनेगमेशी, श्रीदेवी आदि की भी प्रतिमाएँ जैनकला में मिलती हैं। जैन देवता-संघ का विकास मध्यकाल में ही अधिक हुआ। प्रारम्भिक जैन-कला में हमें इनके दर्शन नहीं होते। इन सबका विस्तृत विचार प्रस्तुत ग्रन्थ की परिधि में सम्भव नहीं है, अतः यहाँ हम प्रारम्भिक जैन-कला में दृष्टिगोचर होनेवाले कतिपय देवताओं का ही संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

१. नेगमेश या हरि-नेगमेशिन[१६] : बकरे के मुखवाला यह देवता जैनों के यहाँ देवों के पैदल सेना का प्रमुख है। इसने ब्राह्मणी देवनन्दा के गर्भ से महावीर वर्धमान को क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में संक्रमित किया था। प्रतिमाओं को देखने से ऐसा लगता है कि कुषाणों के समय व्रज जनपद में नेगमेश का पूजन पर्याप्त लोकप्रिय था (ल० सं० सं० जे० ६२६; म० सं० सं० ३४.२५४७, १५. १११५)। नेगमेश का मुख तो बकरे का होता है, पर हाथों में कोई आयुध या साथ में वाहन नहीं होता। इसके शरीर से खेलनेवाले बच्चे ही इसकी मुख्य विशेषता हैं। कुषाणकाल के बाद नेगमेश के दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं। ब्राह्मण-धर्म के कार्त्तिकेय से इसका पर्याप्त निकट का सम्बन्ध लगता है।

२. रेवती : यह नेगमेश की शक्ति है। इसका भी मुख बकरे का ही होता है। मथुरा-संग्रहालय की एक प्रतिमा (म० सं० सं० ई० ४) में इसे हम शिशु के साथ पाते हैं।

३. नारायण और बलदेव : बाईसवें तीर्थङ्कर नेमि के साथ नारायण और बलदेव कुषाणकाल से ही दिखलाई पड़ते हैं (म० सं० सं० ३४.२५०२; ल० सं० सं० जे० ४७, जे० ११७ आदि)। प्रतिमा-विज्ञान की दृष्टि से इनमें तथा ब्राह्मणधर्म के विष्णु और बलराम में कोई अन्तर नहीं है। नेमिनाथ की कुछ कुषाणकालीन मूर्त्तियों में फणाटोप के साथ द्विभुज बलदेव हाथ जोड़े हुए दिखलाई पड़ते हैं (देखिए पीछे पृष्ठ ६०)

४. सरस्वती : विद्यादेवी सरस्वती की आजतक की ज्ञात सभी प्रतिमाओं में प्राचीन मूर्त्ति जैन-परिसर की है। मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त इस प्रतिमा की चर्चा हम शक्ति का विचार करते समय पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं (ल० सं० सं० जे० २४, देखिए पृ० १३८)।

५. गजलक्ष्मी : इसे अभिषेक लक्ष्मी भी कहते हैं। शुंगकाल से ही यह देवी बौद्ध, जैन और ब्राह्मण—इन तीनों सम्प्रदायों को मान्य थी।

तीर्थङ्कर- माता के स्वप्नों में अभिषेक लक्ष्मी की भी गणना है। इसकी प्रतिमाओं की चर्चा हम शक्ति का विचार करते समय कर चुके हैं (देखिए पृ० १२१–२२)।

६. **चक्रेश्वरी** : यह प्रथम तीर्थङ्कर की शासन-यक्षी है। इसके पास चक्र अवश्य होता है और वाहन गरुड है। प्रारम्भिक जैनकला में अबतक इसके दर्शन नहीं हुए हैं, पर मध्यकालीन कला में इसकी दो से बीस हाथ तक की प्रतिमाएँ मिली हैं।[१७]

७. **अम्बिका** : तीर्थङ्कर नेमि की इस शासन-यक्षी की मध्यकालीन जैनकला में कई प्रतिमाएँ मिलती हैं। लक्षण-ग्रन्थों के अनुसार इसका वाहन सिंह है। इसके हाथों में मुख्यतया आम की फलदार टहनी अथवा आम्रलुम्बी तथा बालक होते हैं। पाश और अंकुश इसके अन्य आयुध हैं। कला में इसके द्विभुज (ल० सं० सं० जी ३३) तथा चतुर्भुज (ल० सं० सं० जी० ३१२) रूपों में दर्शन होते हैं।

ब्राह्मण-धर्म की स्कन्दमाता से इसका मेल बैठाया जा सकता है।

८. **पद्मावती** : पार्श्वनाथ की इस शासनदेवी की मुख्य पहचान इसके मस्तक पर शोभित फणाटोप है। बहुधा यह चतुर्भुज होती है (ल० सं० सं० जी० ३१६), पर दिगम्बर सम्प्रदाय में इसके छह और चौबीस हाथोंवाले ध्यान भी हैं।[१८]

९. **क्षेत्रपाल** : इसकी समानता ब्राह्मण-धर्म के भैरव से स्थापित की जा सकती है। जैनों के यहाँ भी इसकी गणना भैरव और योगिनियों में ही की गई है। भयंकर मुखाकृति, श्याम वर्ण, बर्बर केश, पैरों में खडाऊँ, हाथों में मुद्गर, डमरू, अंकुश एवं साथ में कुत्ता इसके प्रधान लक्षण हैं।[१९] मथुरा-संग्रहालय में द्विभुज क्षेत्रपाल की एक प्राचीन मूर्ति है (म० सं० सं० ६०.४८६), जिसके दाहिने हाथ में दण्ड है और बायें हाथ में साथ चलनेवाले कुत्ते की रस्सी है।

१०. **गोम्मटेश्वर** : गोम्मटेश्वर की तीर्थङ्करों में गणना नहीं होती, पर मध्यकालीन जैन-परम्पराओं में इस सिद्धपुरुष को बड़ा सम्मान मिला। कर्नाटक के श्रावणवेलगोला में स्थित अति विशाल प्रतिमा गोम्मटेश्वर की ही है। कायोत्सर्ग-मुद्रा में तपस्या करते हुए इस सिद्धपुरुष के शरीर से लिपटकर लताएँ ऊपर तक बढ़ती हुई चली गई। अतः शरीर को आवेष्टित करनेवाली लता-वल्लरियाँ गोम्मटेश्वर की प्रमुख पहचान हैं।[२०]

११. आदिमिथुन या जुगलिया : प्रत्येक धर्म में सृष्टि का प्रारम्भ करनेवाले आदिमिथुन को किसी-न-किसी रूप में मान्यता है। कई जैन-कलाकृतियों में एक विशाल वृक्ष के नीचे एक भद्रपुरुष और युवती सुखासन में बैठे हुए दिखलाई पड़ते हैं। चरणशिला पर क्रीड़ा करते हुए कई बालक, वृक्ष के तने पर गोह जैसा कोई जन्तु तथा ऊपरी सिरे पर जिन-बिम्ब के दर्शन होते हैं। (ल० सं० सं० ओ० ३३३)।

समारोप

जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, यद्यपि जैन-कला का आरम्भ मौर्यकाल से ही हो चुका था, फिर भी उसकी प्रतिमाओं का भाण्डार पाषाण, धातु, रत्न, काष्ठ आदि विविध माध्यमों के सहारे मध्यकाल में खूब पनपा। इस समय इसमें अनेक देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ बनीं तथा प्रतिमाशास्त्र के अध्ययन के लिए विपुल सामग्री हमारे सामने आई, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ की मर्यादा को देखते हुए हमें उनके केवल स्मरण-मात्र से ही सन्तोष करना चाहिए।

सन्दर्भ-संकेत :

१. शाह उमाकान्त, **Studies in Jain Art**, Banaras, 1955, pp. 4-5.

२. 'कायोत्सर्ग' जैन-साधना-पद्धति का मुख्य अंग है। **कायोत्सर्गशतक** के अनुसार साधारण कायोत्सर्ग खड़े, बैठे या लेटने की स्थिति में हुआ करता है, पर जैन-परम्परा का विधान है कि जैन-मुनि को सदैव खड़ी स्थिति में ही कायोत्सर्ग करना चाहिए। आदिनाथ ने खड़ी स्थिति में ही कायोत्सर्ग किया था। इसके अतिरिक्त कुछ परिमित काल के लिए भी कायोत्सर्ग-स्थिति स्वीकार की जाती है। 'अभिनव कायोत्सर्ग' केवल एक वर्ष के लिए होता है।
—मुनि नथमल, कायोत्सर्ग मुद्रा के अंकन और जैन-परम्परा, **पुरातत्त्व-स्मारिका**, रामपुर में शीघ्र प्रकाशनीय लेख, पृ० २५।

३. Joshi N P., Use of Auspicious Symbols etc. **Dr. Mirashi Felicitation Volume**, Nagpur, 1965, pp. 311—17.

४. Shah, U. P., ऊपर की संख्या १, फलक ३६, चित्र ८८ (ल० सं० सं० जे० १०५)। इस सम्प्रदाय के साधुओं की मूर्त्तियों में पेट की ओर घूमे बायें हाथ पर वस्त्र की सँकरी पट्टी इस प्रकार पड़ी रहती है कि उससे साधु की नग्नता छिप जाती है।

५. Mitra Debala, Monuments and Sculpture, 300 B. C. to A. D. 300, **Jain Art and Architecture**, Vol. 1, Bhartiya Jnanapith, 1974.

६. **Jain Art and Architecture,** Vol. 1, p. 66. pl. 53.

७. ऊपर संख्या १, पृ० ६१

८. जोशी, नी० पु० : जैन-स्तूप और पुरातत्त्व, **भगवान् महावीर स्मृति-ग्रन्थ,** आगरा, १९४८-४९, पृ० १८३—८७।

९. ऊपर संख्या १, पृ० ६५—७६।

१०. **बृहत्कल्पसूत्र** मासकल्पे प्रकृतिसूत्र १.११.८०, भावनगर, १९३६, पृ० ३६६; Joshi N. P., Some Interesting Passages from Bṛhat-Kalpasutra, **Bulletin of Museums and Archaeology in U. P., VIII,** December 1971, pp. 55-56.

११. ऊपर संख्या १, पृ० ९६

१२. उदाहरणार्थ कारीतलाई (जि० जबलपुर, मध्यप्रदेश) से प्राप्त कुछ कलचुरी कलाकृतियाँ—बालचन्द्र जैन, कारीतलाई की जैन-कलाकृतियाँ, **पुरातत्त्व-स्मारिका,** (रामपुर से प्रकाश्य)।

१३. ऊपर संख्या ६, पृ० १४—१६

१४. Shah U. P., Beginnings of Jain Iconography, **Bulletin of Museums and Archaeology** No VIII, June 1972, p. 10.

१५. Buhler, J. G., **On the Indian Sect of the Jains,** London 1903, pp. 72—74.

१६. Bhattacharya, B. C., **Jain Iconography,** Punjab Oriental Series No. XXVI. pp. 178–81

१७. Shah U. P., Iconography of Chakreshvri etc., **Journal of the Oriental Institute,** XX, No. 3, March 1971, pp. 280—313.

१८. ऊपर देखिए १४, पृ० १३।

१९. Shah U. P., Kshetrapala in Jain Iconography **श्रीमहावीर स्मृति-ग्रन्थ,** आगरा, १९४८-४९, पृ० २२१—२६।

२०. एलोरा में भी गोम्मटेश्वर की एक बड़ी सुन्दर मूर्त्ति है—**Jain Art and Architecture** Vol. I, 1974, pl. 118 B.

*

शब्दानुक्रमणिका

अ

आ

ऊ

ऋ

ए

ऐ

क

क

ख

ग

ध

न

प

य

र

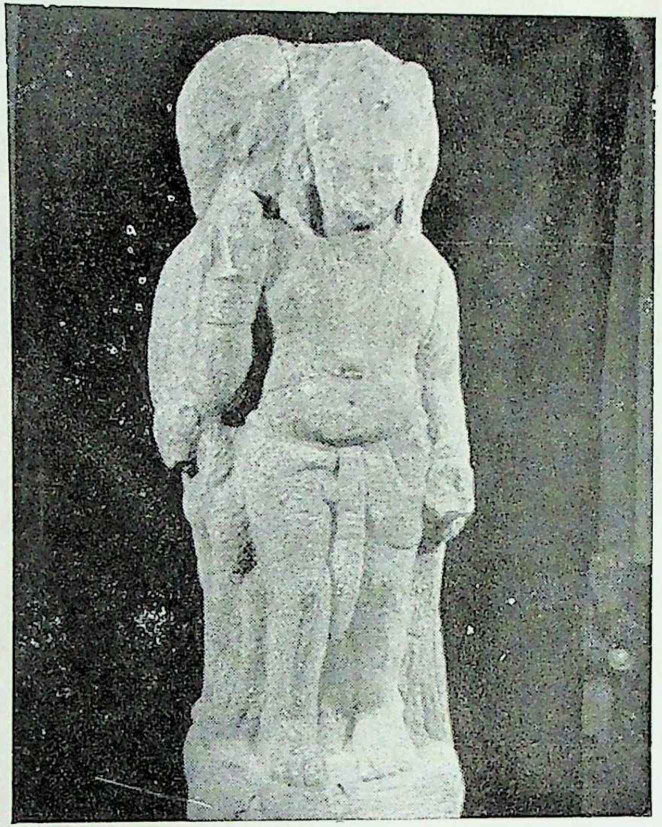
ल

ह

●●



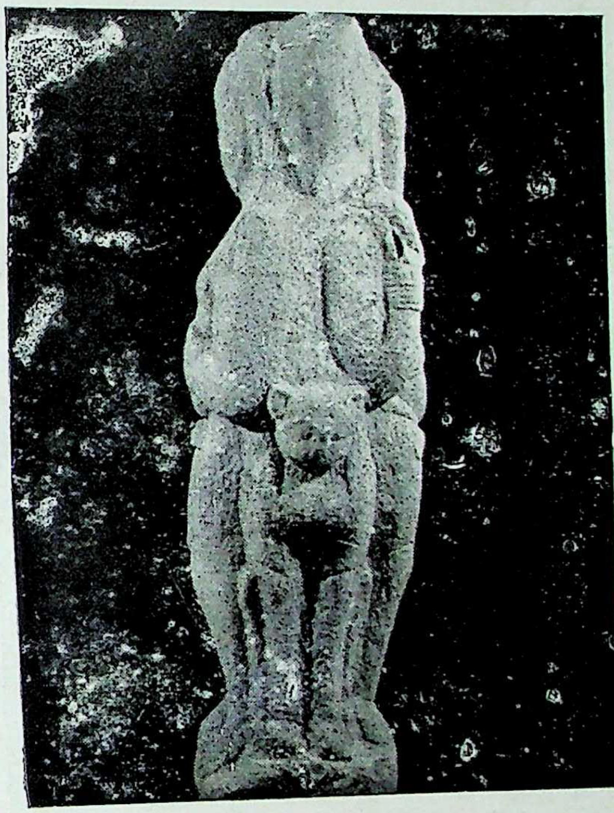
चित्र-१ : चतुर्मुख यक्ष, शिव



चित्र-२ : चतुर्मुख यक्ष, विष्णु (?)



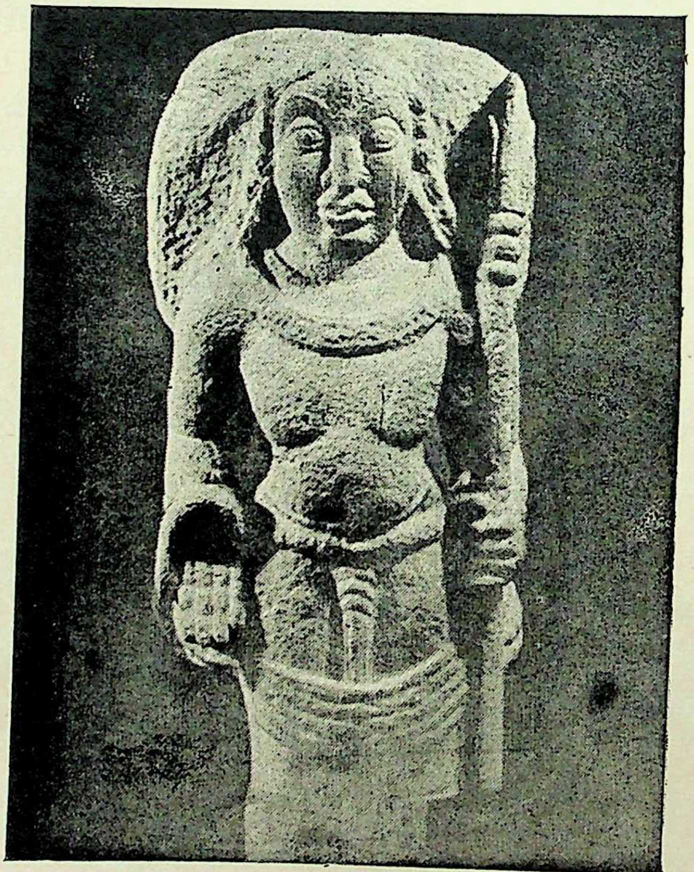
चित्र-३ : चतुर्मुख यक्ष, वराह



चित्र सं० १४ : चतुर्मुख यक्ष, सिंह, मानव-मुख



चित्र-सं० ७ : शिव, मृण्मूर्त्ति-फलक



चित्र-सं० ८ : शिव—वरद मुद्रा में खड़े (पृ० ३३)



चित्र-सं० ९ : अर्धचन्द्र एवं घुँघरदार बालोंवाला शिव-मस्तक



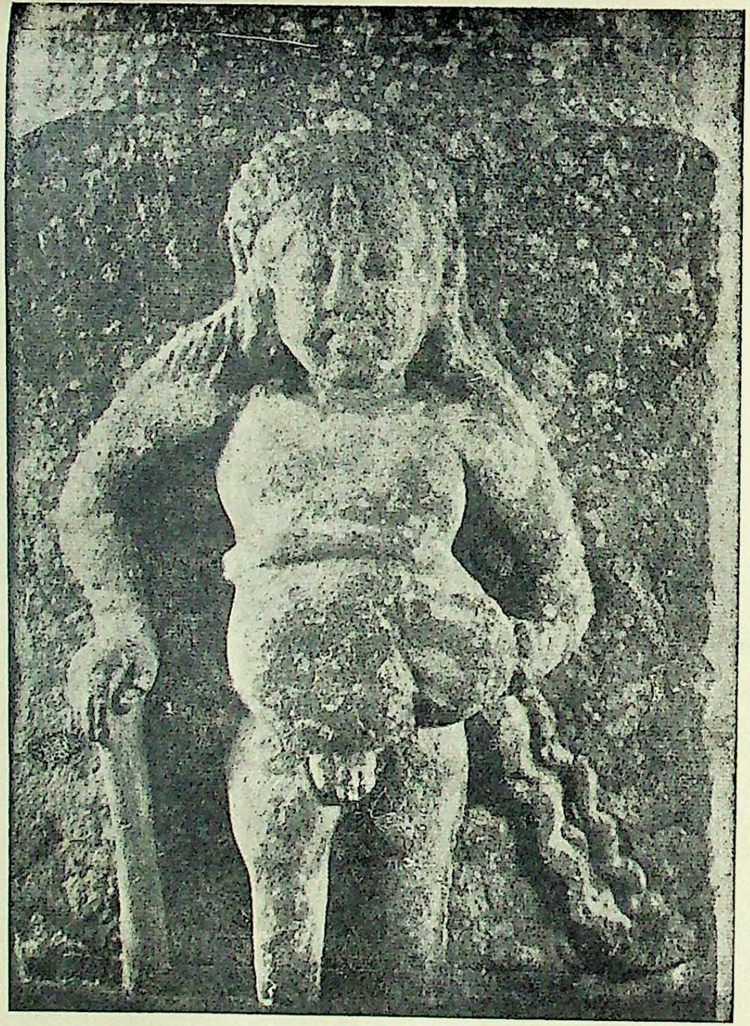
चित्र-सं० १० : चौमुँहे लिंग में अघोर-मुख शिव (कौशाम्बी)



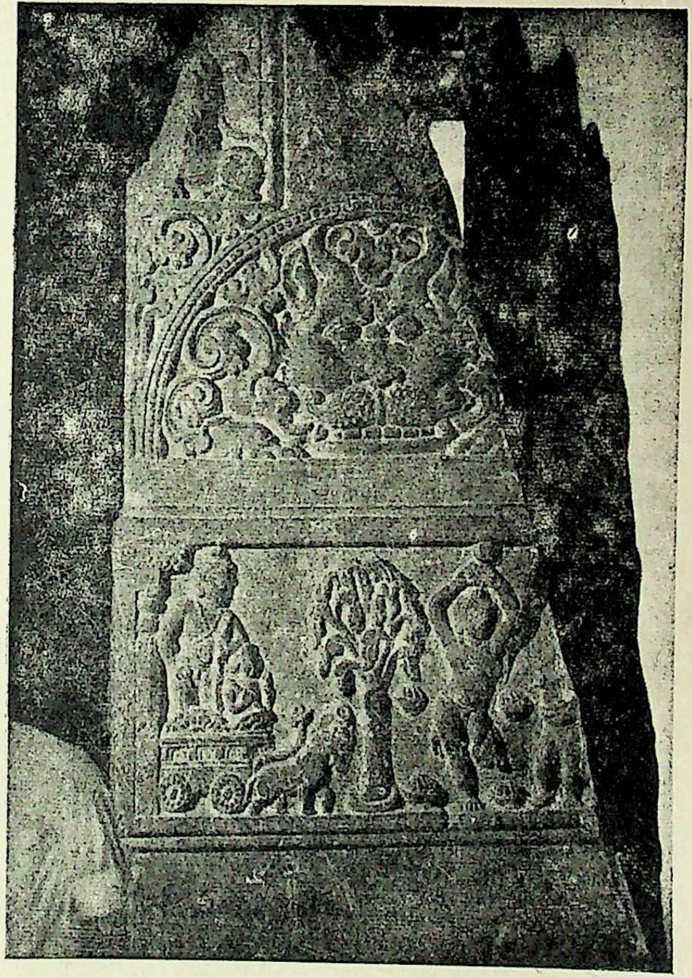
चित्र-सं० ११ : पटियादार-घूँघरोंवाला शिवमस्तक (स्टेला द्वारा प्रकाशित)(पृ० ३४)



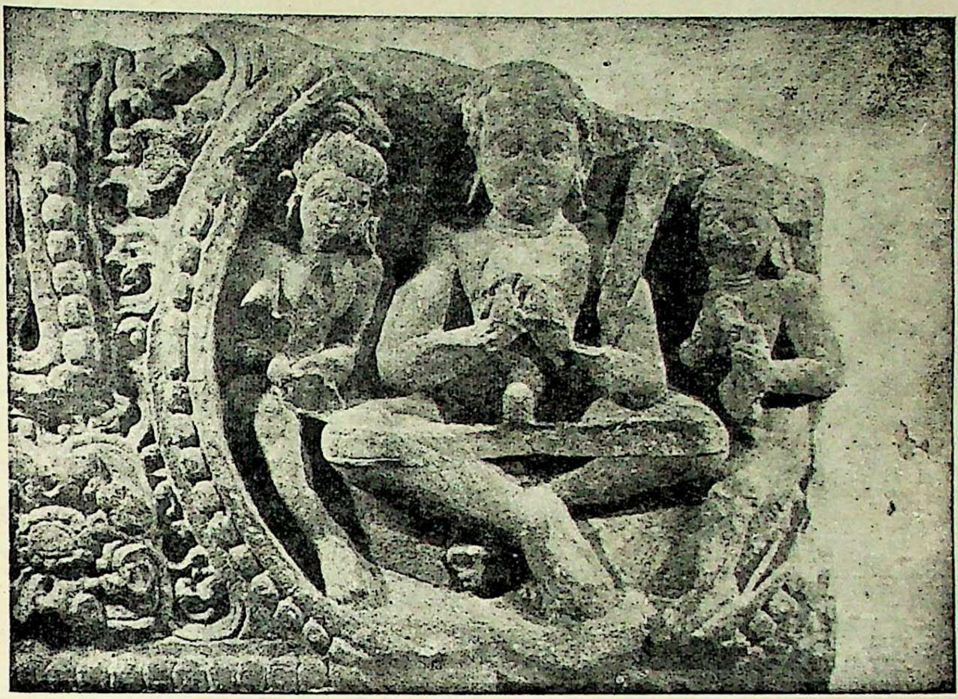
चित्र-सं० १२ : जटाजूटधारी शिवमस्तक (मृत्फलक, अहिच्छत्रा) (पृ० ३२)



चित्र-सं० १३ : लकुलीश, मथुरा (म० सं० २९-१९३१) (पृ० ३९)



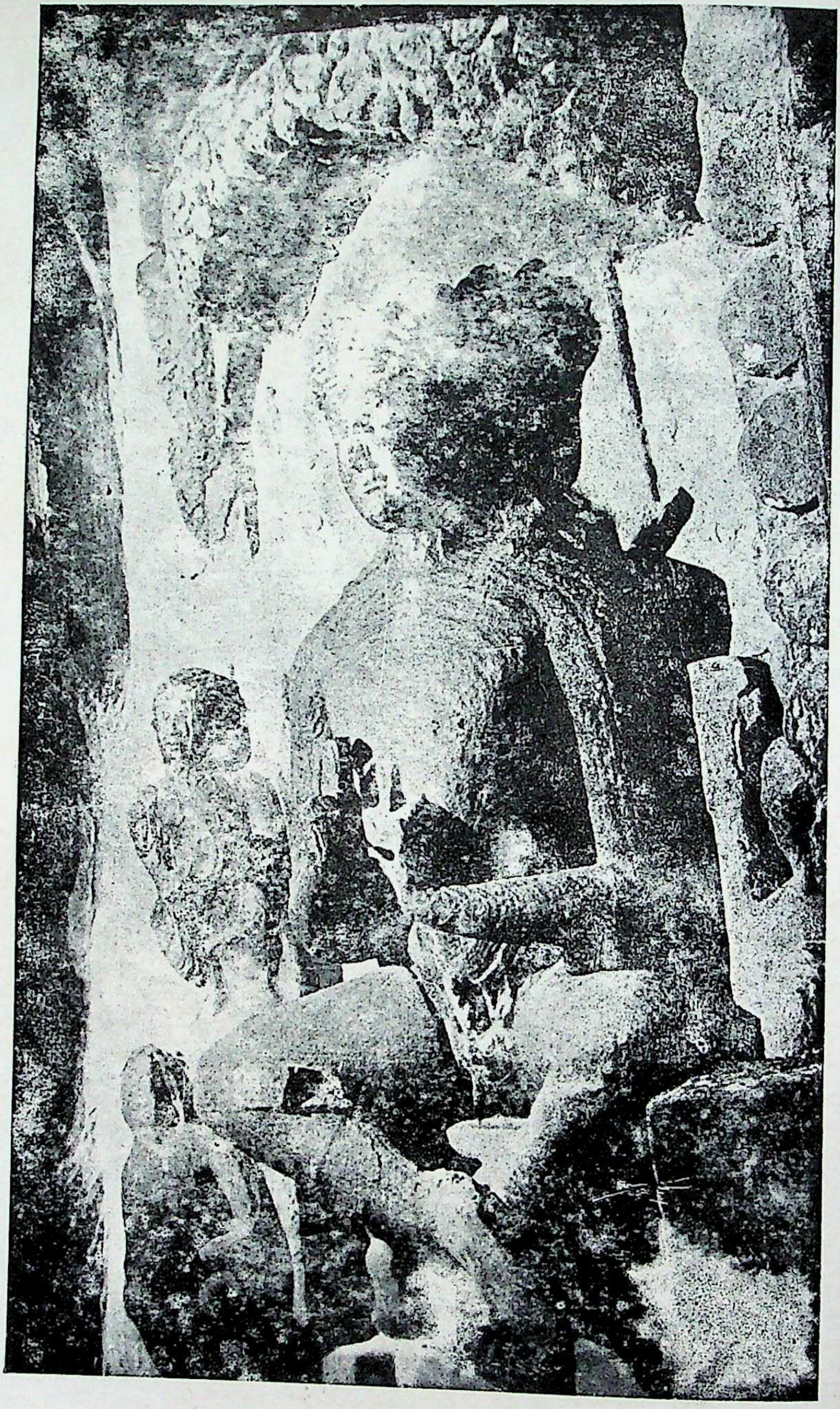
चित्र-सं० १४ : किरातार्जुनीय (अर्जुन का पञ्चाग्नि-साधन) (A. २५१०६) (पृ० ४४)



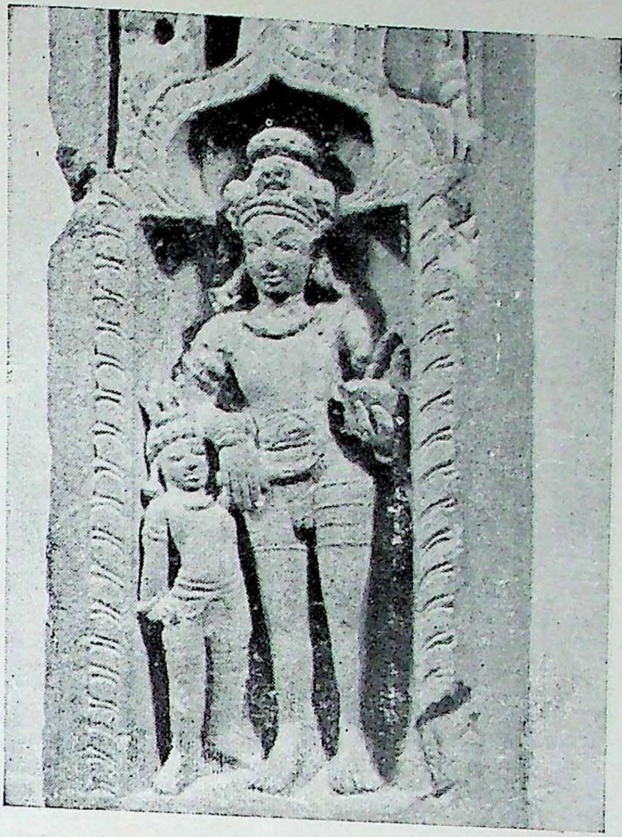
चित्र-सं० १५ : लकुलीश (म० सं० ४५.३२११) (पृ० ३९)



चित्र-सं० १६ : शिव-पार्वती, कौशाम्बी (पृ० ३८)



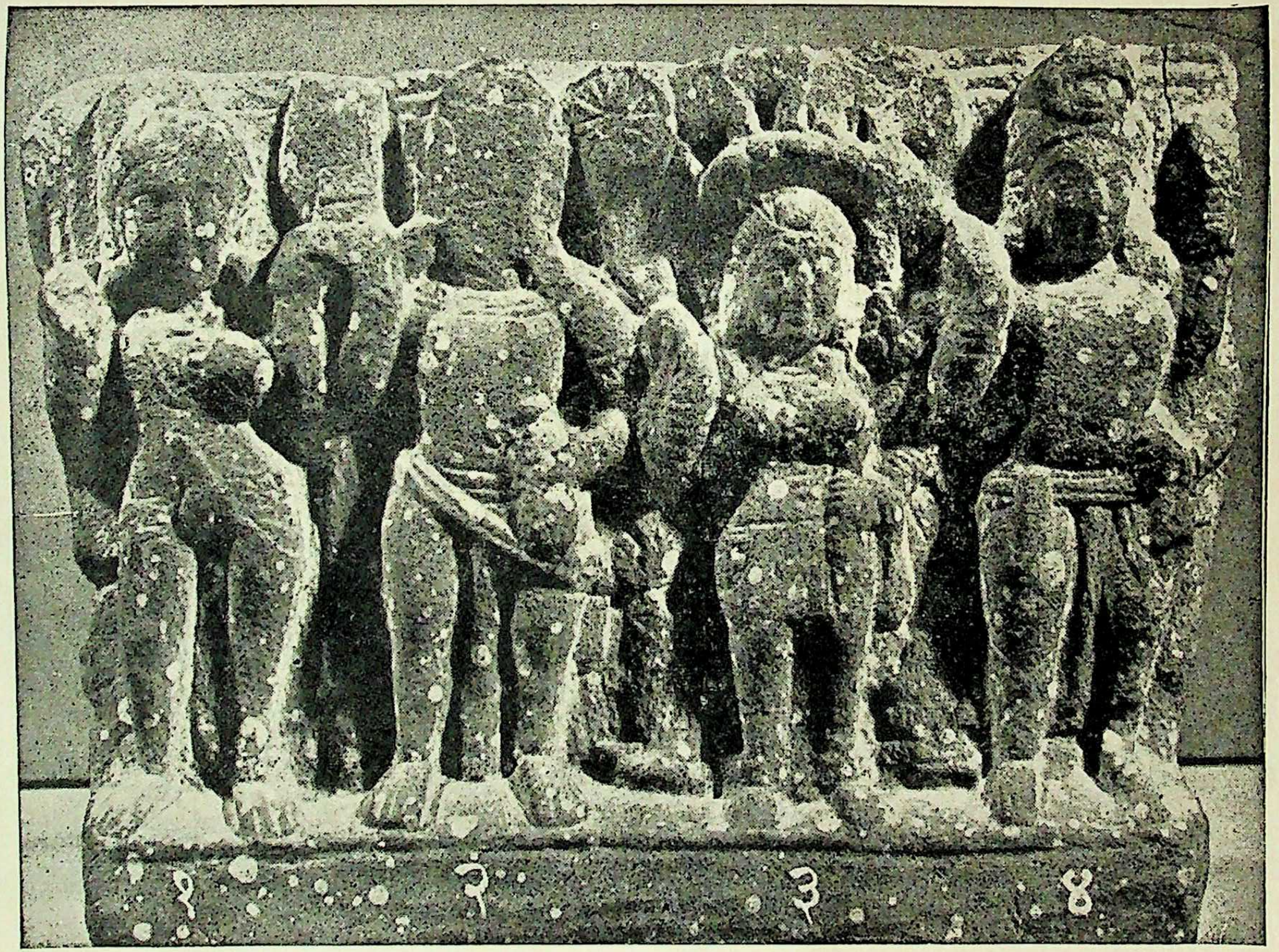
चित्र सं० १७ : दक्षिणामूर्त्ति (लकुलीश), तिलभाण्डेश्वर, वाराणसी (पृ० ४०)



चित्र-सं० १८ : भिक्षाटन-मूर्ति—शिव और त्रिशूल-पुरुष, मथुरा (पृ० ४१)



चित्र-सं० १९ : मृत्फलक में महाभैरव (अहिच्छत्रा) (पृ० ४२)



चित्र-सं० २० : अर्धनारीश्वर, विष्णु, गजलक्ष्मी और कार्त्तिकेय (पृ० २७)

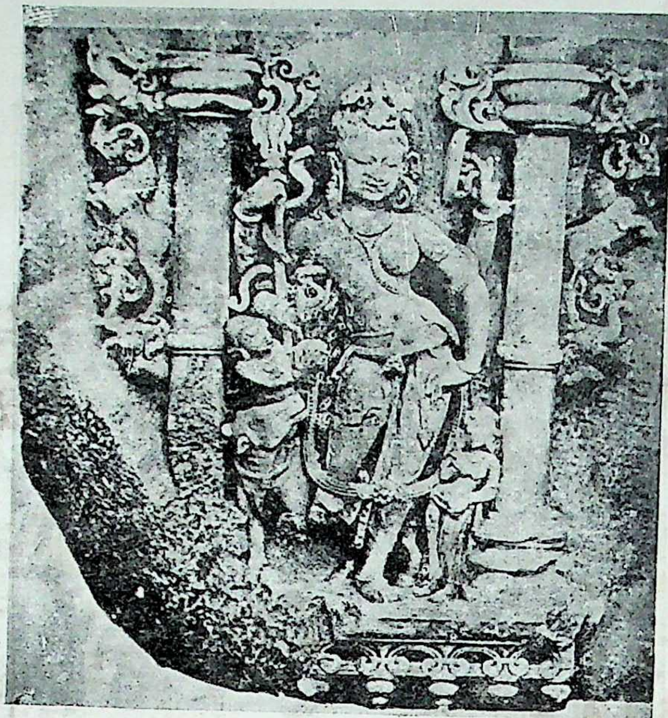


चित्र-सं० २१ : अर्धनारीश्वर (मस्तक, (म० सं०)

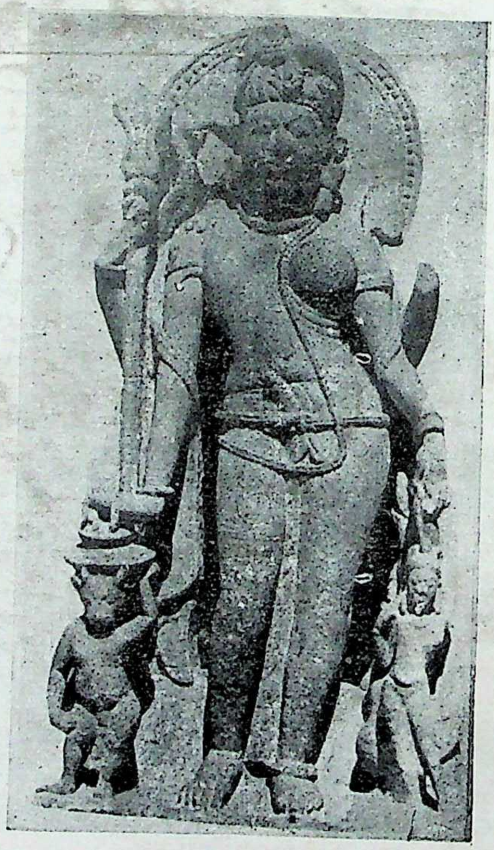




चित्र-सं० २२ : अर्धनारीश्वर (मस्तक), (रा० सं०, दिल्ली) (पृ० ३१)



चित्र-सं० २३ : अर्धनारीश्वर (वृष के साथ), राजस्थान



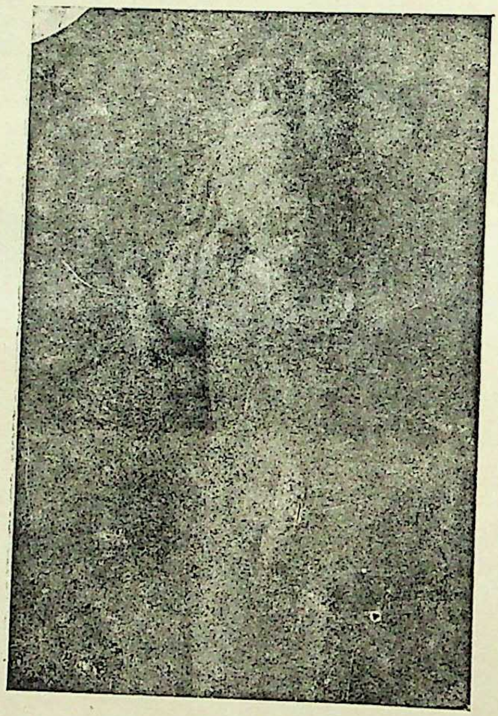
चित्र-सं० २४ : अर्धनारीश्वर (वृष-पुरुष के साथ), राजस्थान (पृ० ३९)



चित्र-सं० ३५ : हरिहर मूर्ति, मस्तक (सं० सं० १९३६)



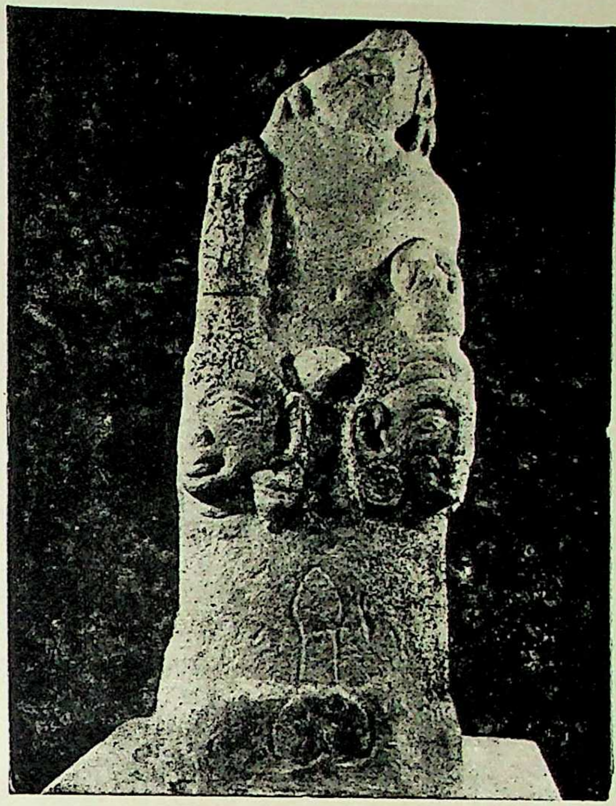
चित्र-सं० २५-ए : हरिहर-मस्तक (म० सं०) (पृ० ४४)



चित्र-सं० २६ : हरिहर (रा० सं०, दिल्ली) (पृ० ४३)



चित्र-सं० २७ : वासुदेव कुषाण की सुवर्णमुद्रा पर उत्कीर्ण शिव (पृ० २९)

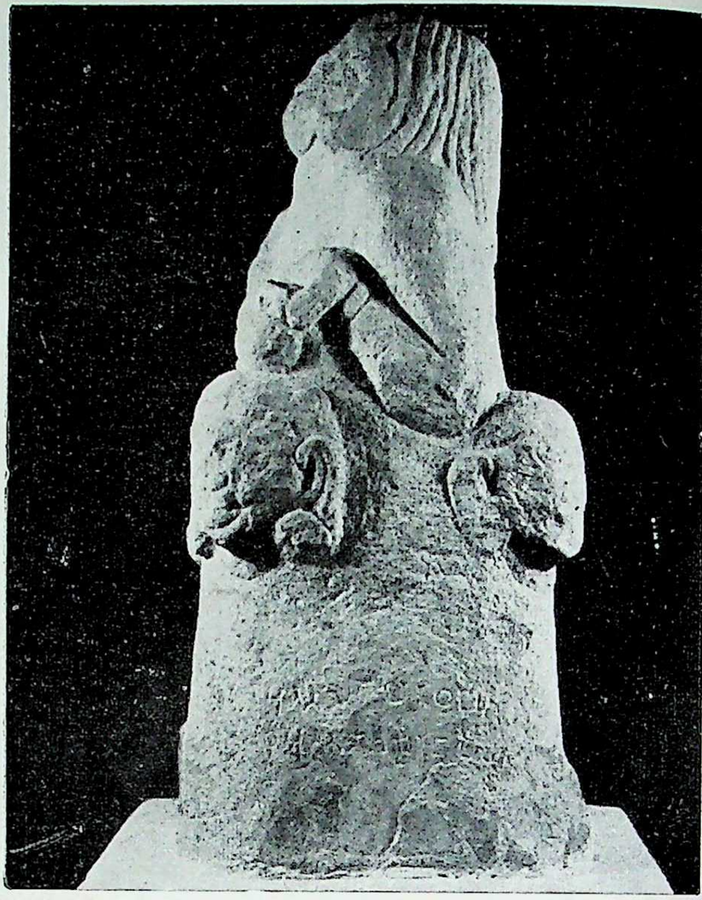


चित्र-सं० २८ : पंचास्य शिवलिंग-१ (पृ० सं० ५२,५५)



चित्र-सं० २९ : पंचास्य शिवलिंग-२ (पृ० सं० ५२, ५५)

चित्र-सं० ३१ :
पंचास्य शिवलिंग, भीटा ४
(पृ० सं०५२ ५५।

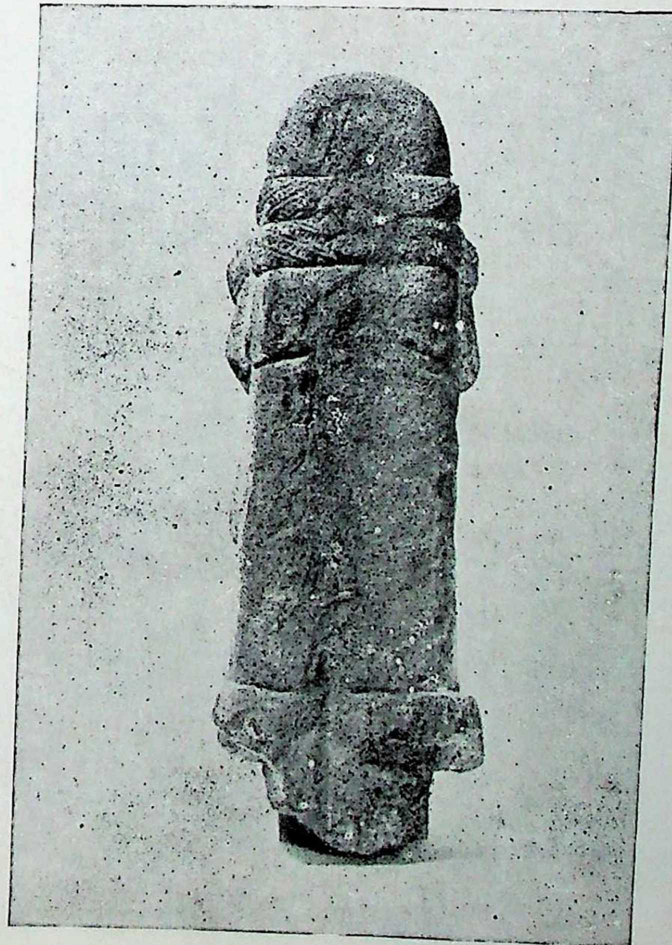




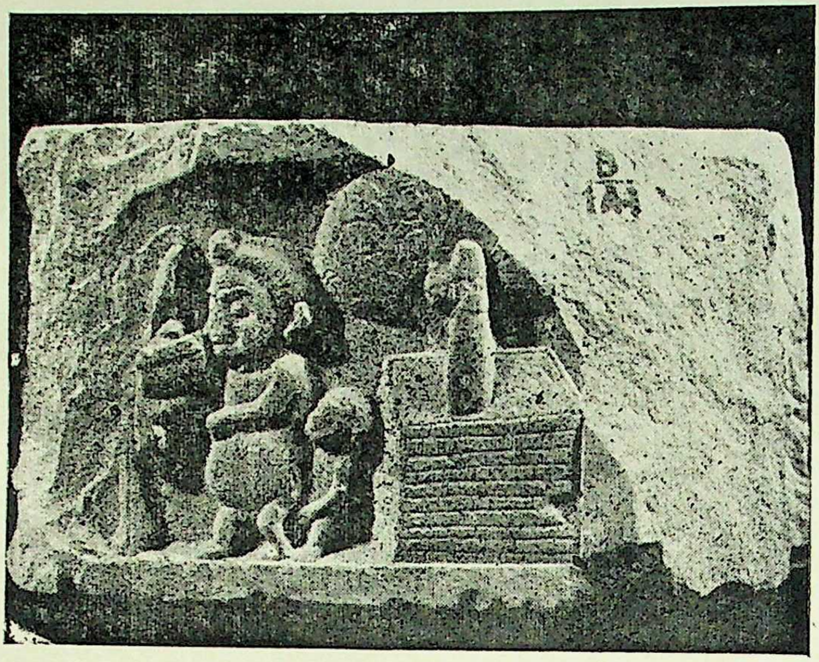
चित्र-सं० ३२ : एकमुख लिंग (पृ० ५४)



चित्र-सं० ३३-ए : शिवलिंग पर शिव



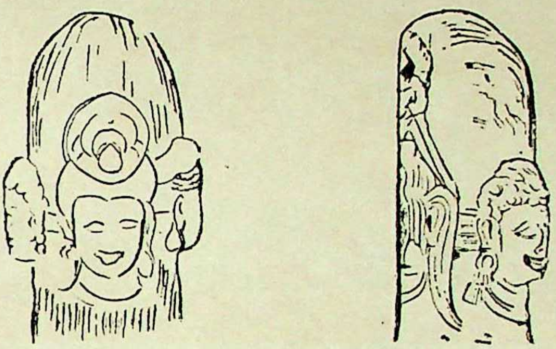
चित्र-सं० ३३-बी : शिवलिंग, पृष्ठ भाग



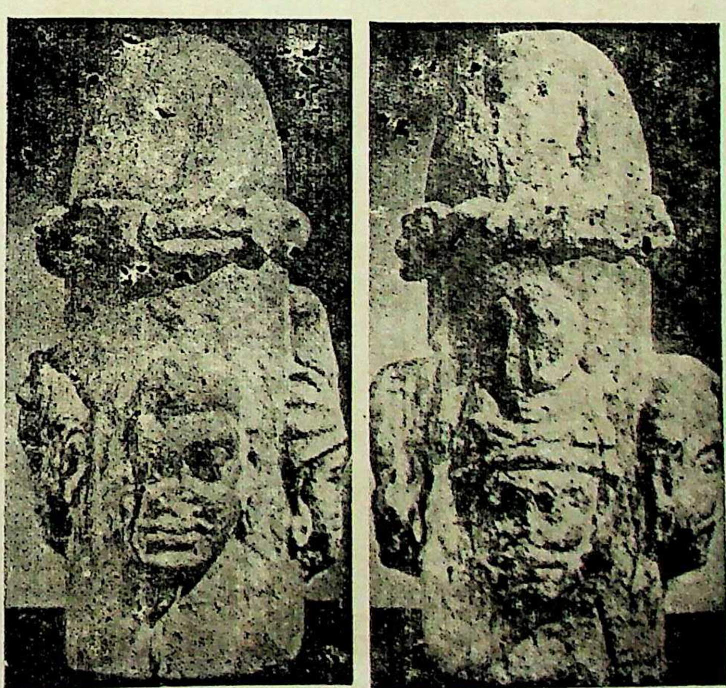
चित्र-सं० ३४ : पीपल-वृक्ष के नीचे शिवमुख लिंग (पृ० सं० ५४, ५८)



चित्र-सं० ३५ : एकमुख लिंग



चित्र-सं० ३६-३७ : चतुर्मुख शिवलिंग, कौशाम्बी (अघोरमुख, उष्णीषिन्) (पृ० ३६, ५३)



चित्र-सं० ३८ : चतुर्मुख शिवलिंग (रा० सं०, दिल्ली) (पृ० सं० ३६, ५५)



चित्र-स० ३९ : चतुर्मुख शिवलिंग (पृ० सं० ३६, ५५)



चित्र-सं० ४० : एकमुख शिवलिंग (मथुरा सं०) (पृ० ५७)

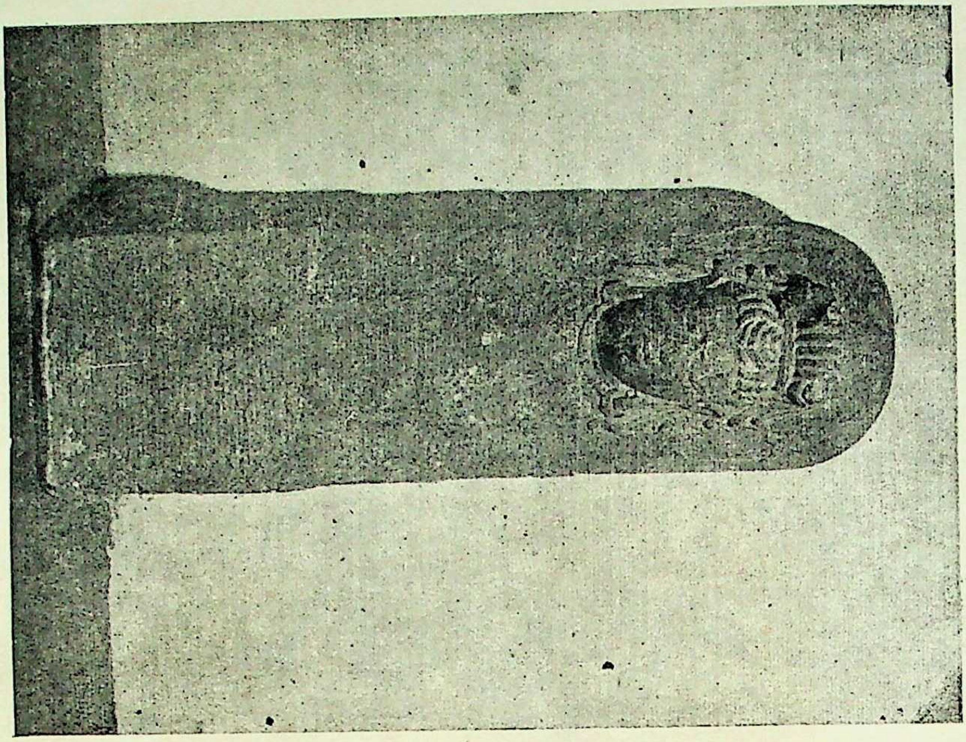


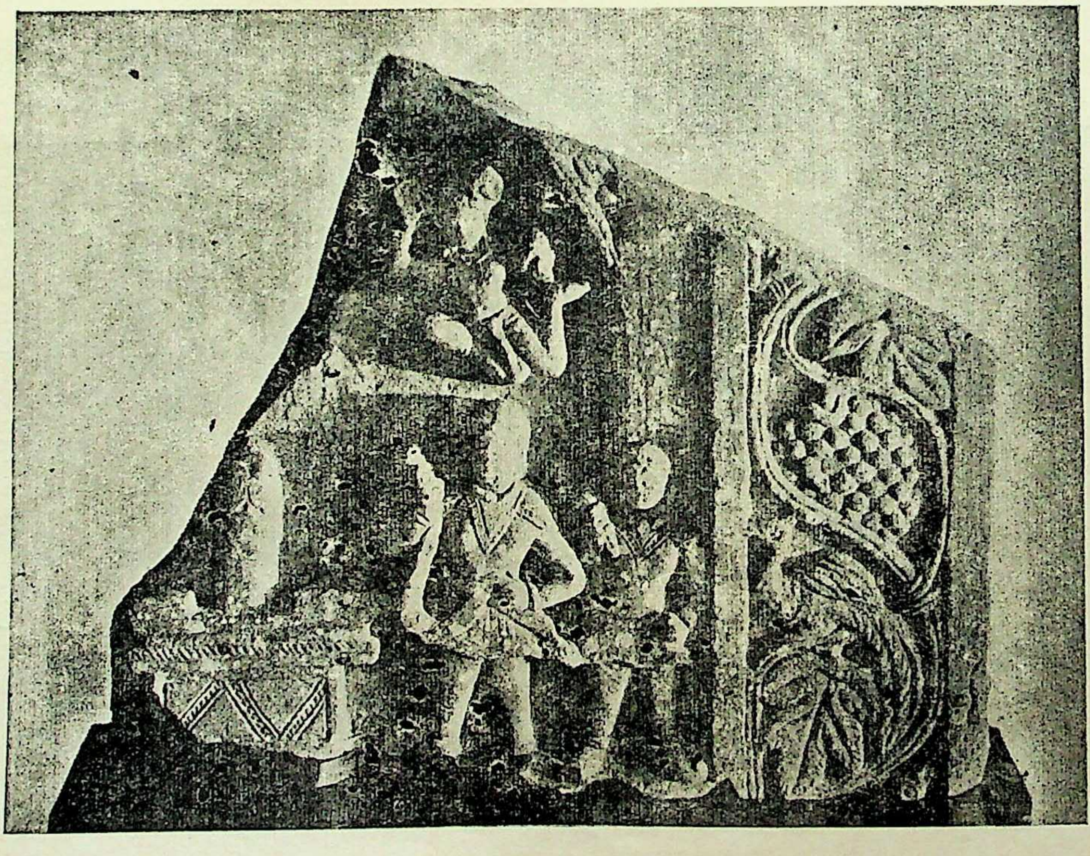
चित्र-सं० ४१ : एकमुख लिंग (मथुरा सं०) (पृ० ५७)



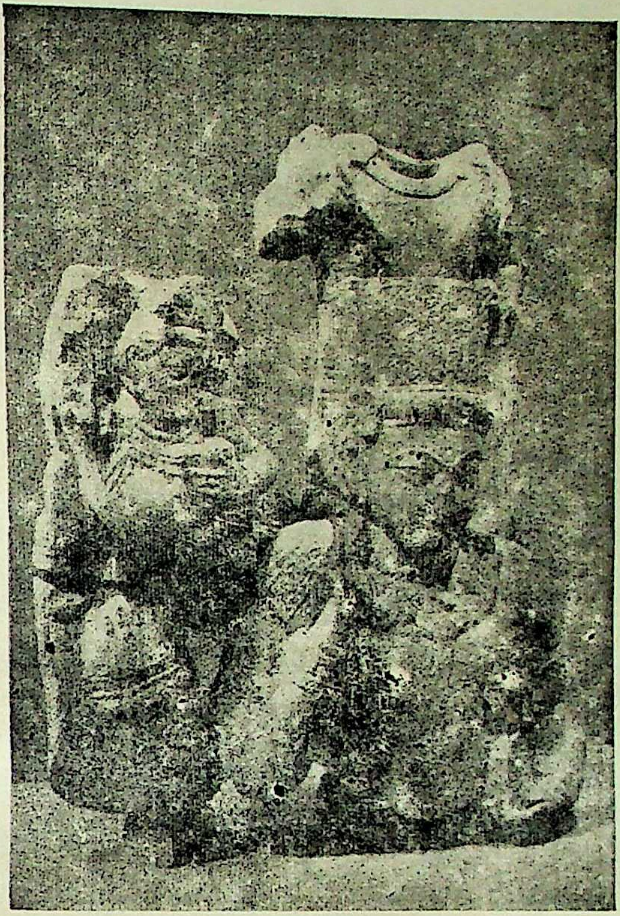
चित्र-सं० ४२ : एकमुख लिंग, खोह (पृ० ५७)

चित्र-सं० ४३ : त्रिभागयुक्त एकमुख लिंग, कलकत्ता (पृ० ५७)





चित्र-सं० ४५ : [illegible] एकमुख लिंग—कुषाणकला (मथुरा सं०)



चित्र-सं० ४६-ए : चतुर्व्यूह विष्णु (मथुरा सं०) (पृ० सं० ७४, ७५)

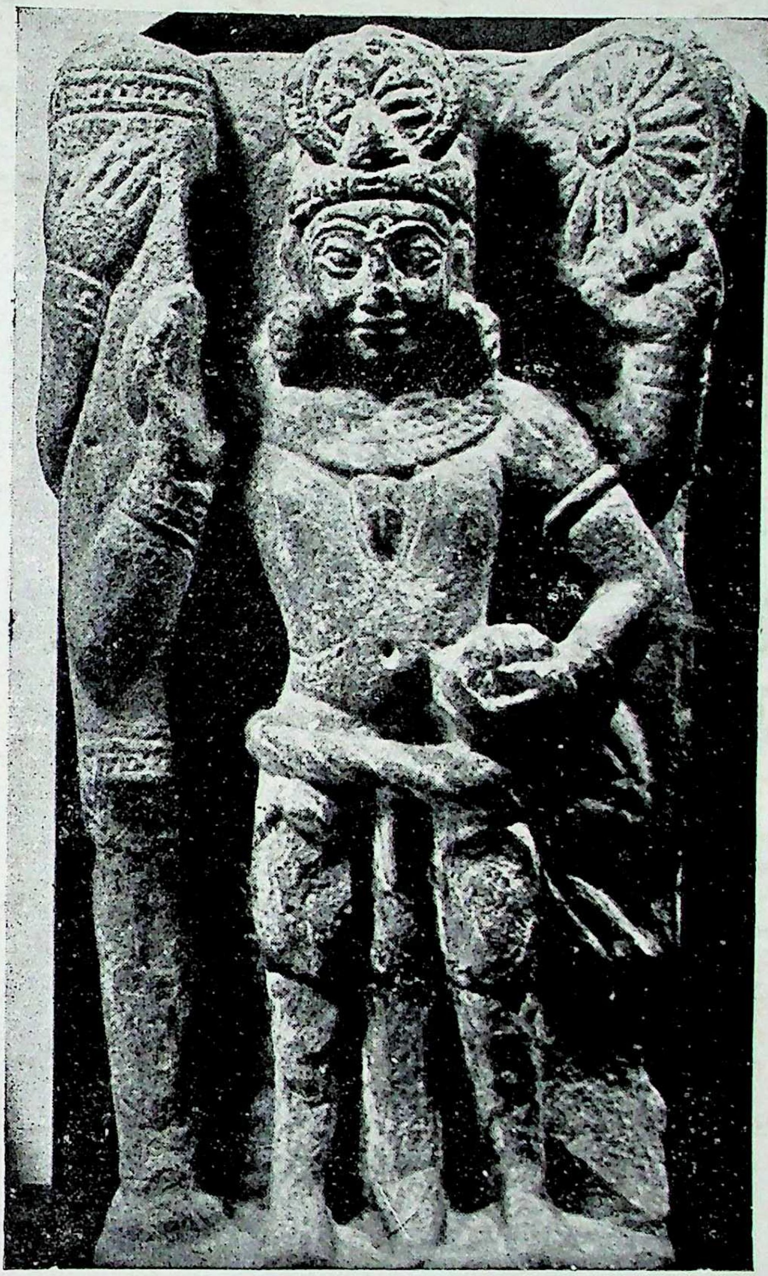


चित्र-सं० ४६-बी : चतुर्व्यूह विष्णु (पृष्ठभाग) (पृ० सं० ७४, ७५)

चित्र-सं० ४८ : विष्णु, शंखधर (पृ० ७७)



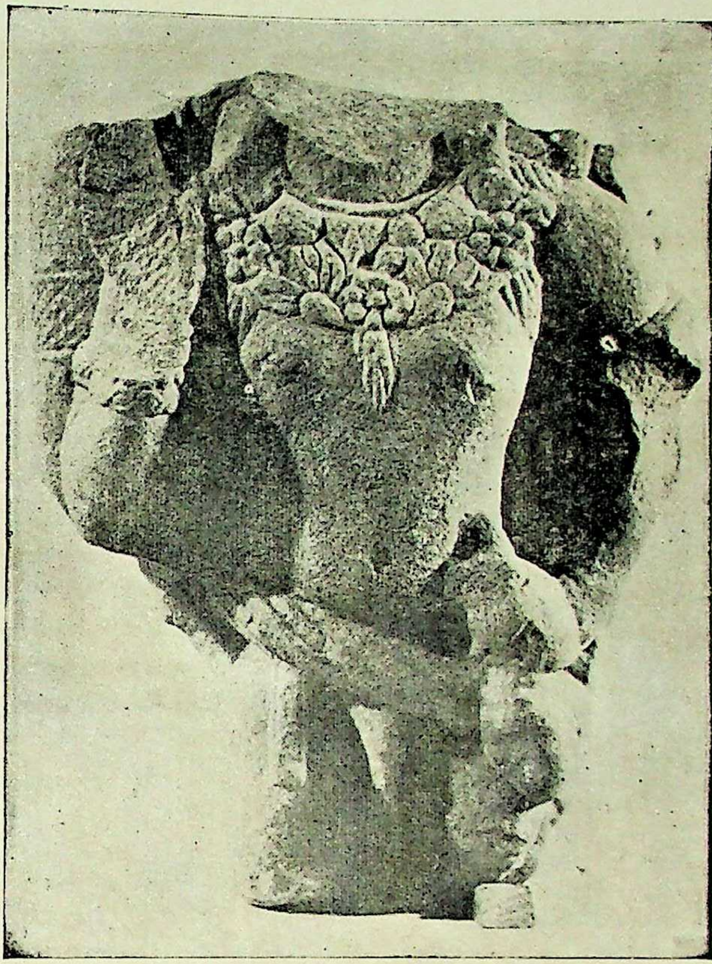
चित्र-सं० ४७ : विष्णु—जलपात्रधारी (मथुरा सं०) ([illegible])



चित्र-सं० ४८ : विष्णु, शंखधर (पृ० ७७)



चित्र-सं० ४९ : विष्णु, त्रिविक्रम (?)



चित्र-सं० ५१ : विष्णु—वनमालायुक्त



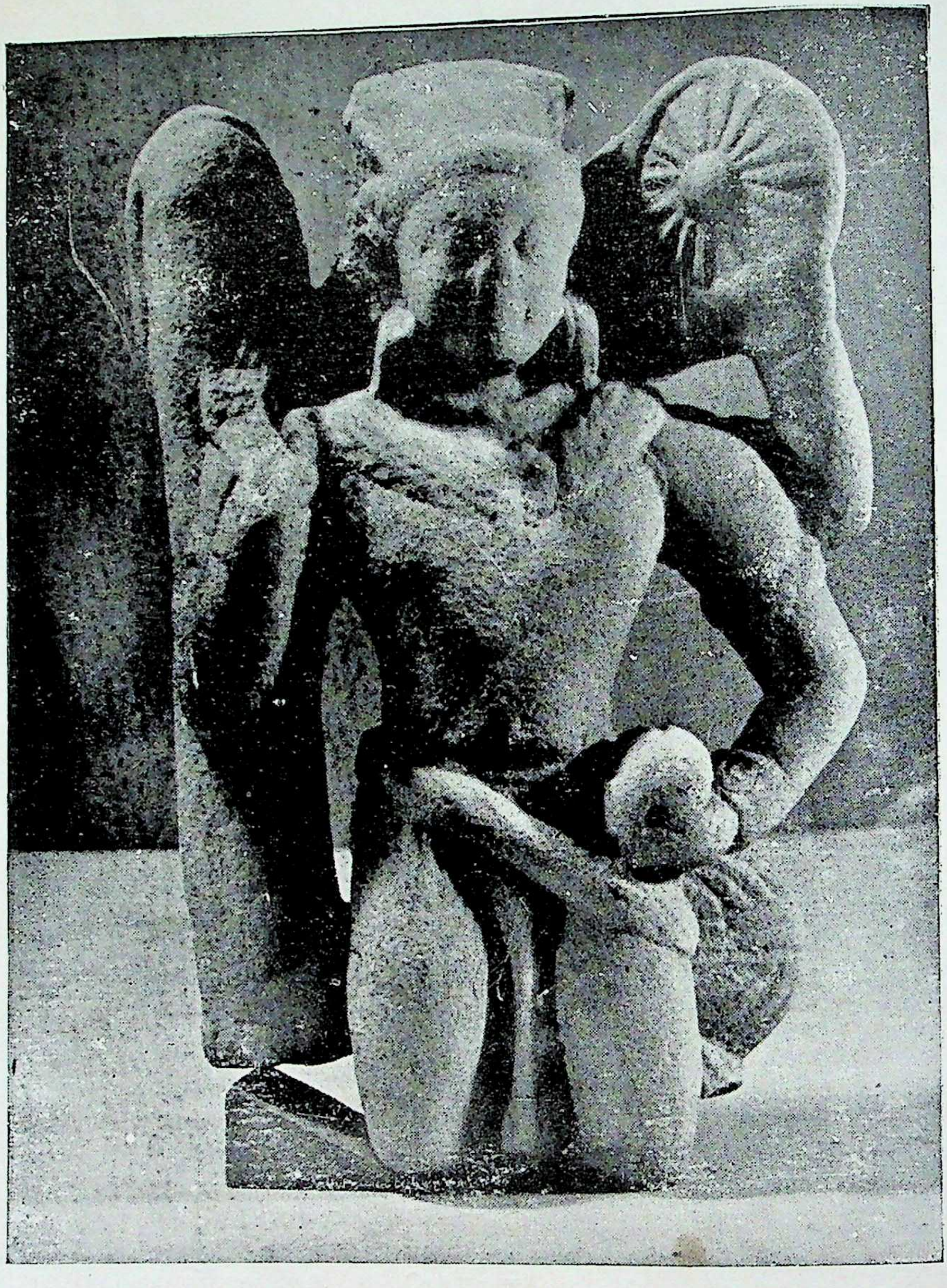
चित्र-सं० ५२-बी : विष्णु (पृष्ठभाग)
(पृ० सं० ७५, ७६)



चित्र-सं० ५३-ए : कमलासन विष्णु
(पृ० सं० ७५)



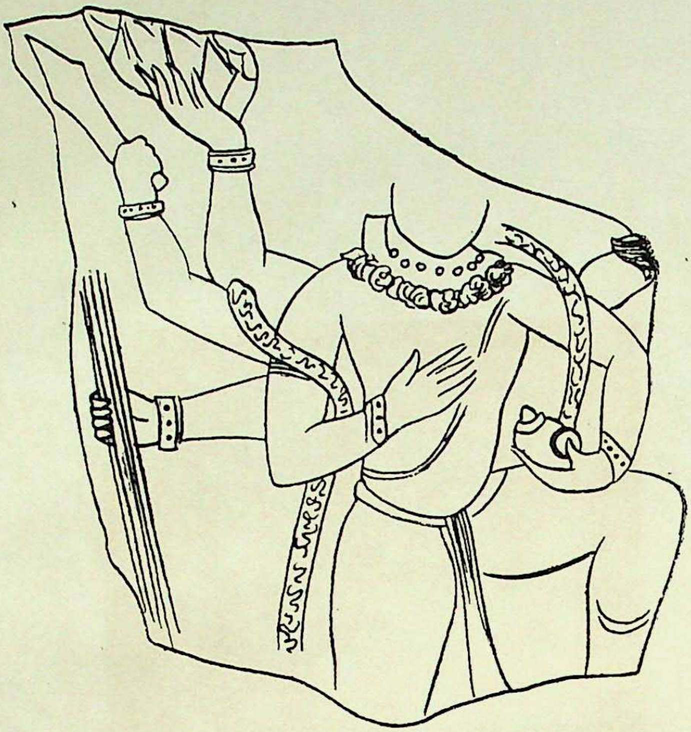
चित्र-सं० ५३-बी : विष्णु (पृष्ठभाग)
(पृ० सं० ७५-७६, ८०)



चित्र-सं० ५२-ए : विष्णु (मथुरा) (पृ० सं० ७५, ८०)



चित्र-सं० ५४ : आसनस्थ विष्णु (म० सं०)



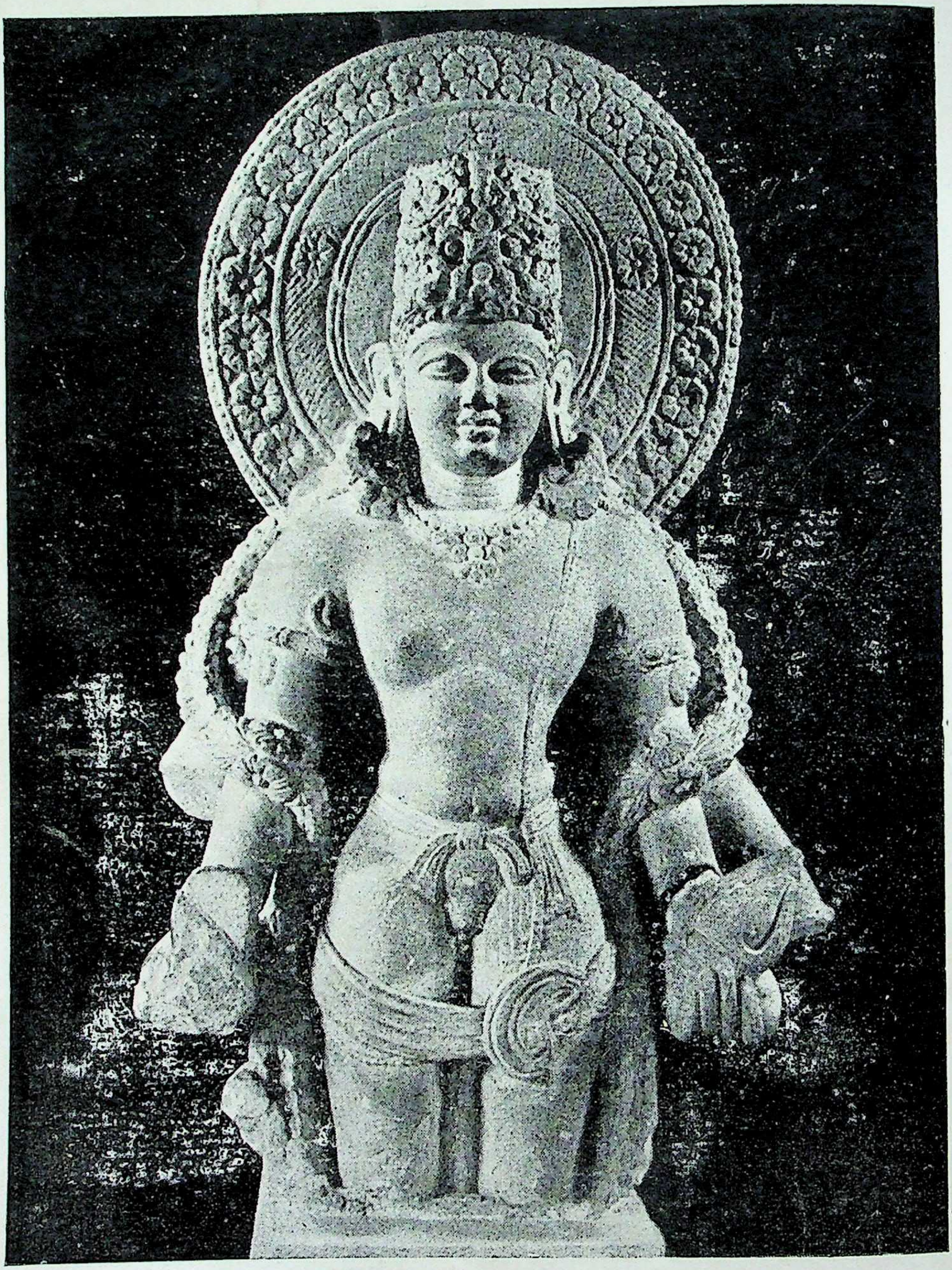
चित्र-सं० ५५ : अष्टभुज विष्णु (पृ० १०८)



चित्र-सं० ५६ : गरुडारूढ विष्णु (म० सं०) (पृ० ७७)



चित्र-सं० ५७ : फलधारी विष्णु, मृण्मूर्त्ति





चित्र-सं० ६० : नृवराह, श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान, मथुरा (पृ० ७५)



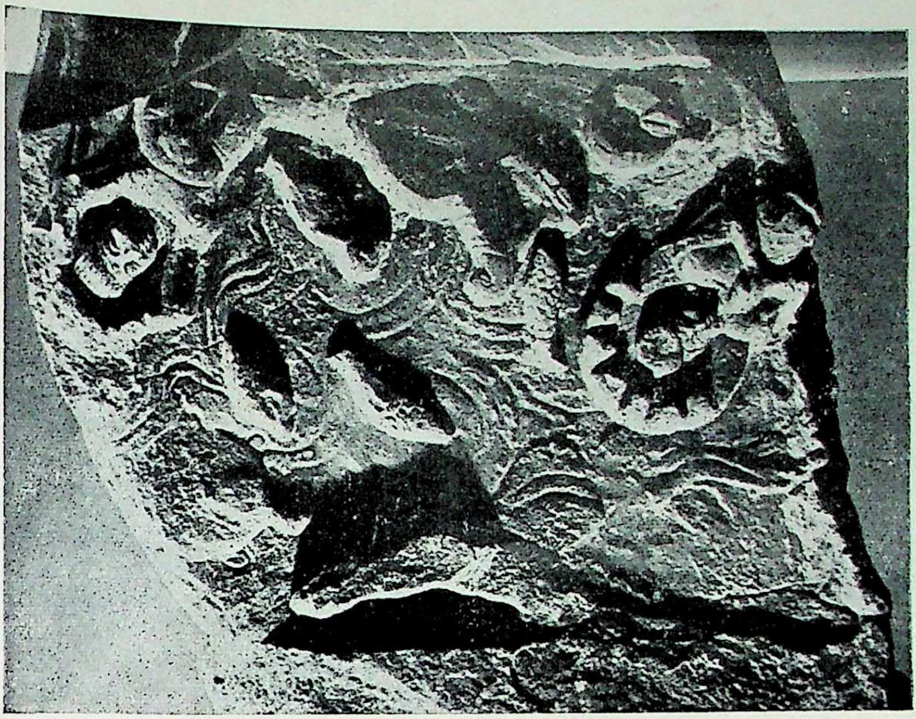
चित्र-सं० ६१ : प्रलम्बभुज नरसिंह (भा० क० भवन)



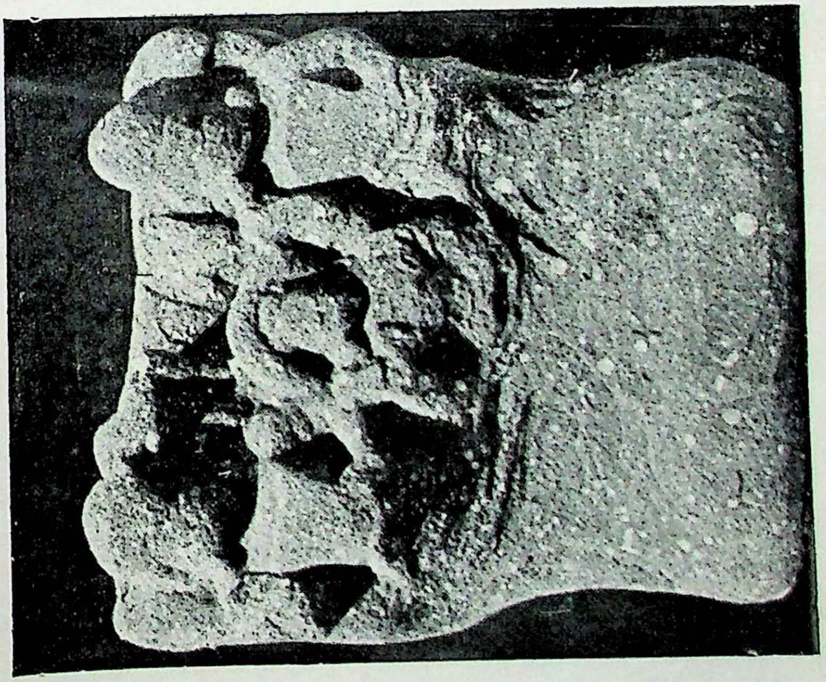
चित्र-सं० ६२ : नरसिंह—हिरण्यकशिपु-वध (भा० क० भवन)



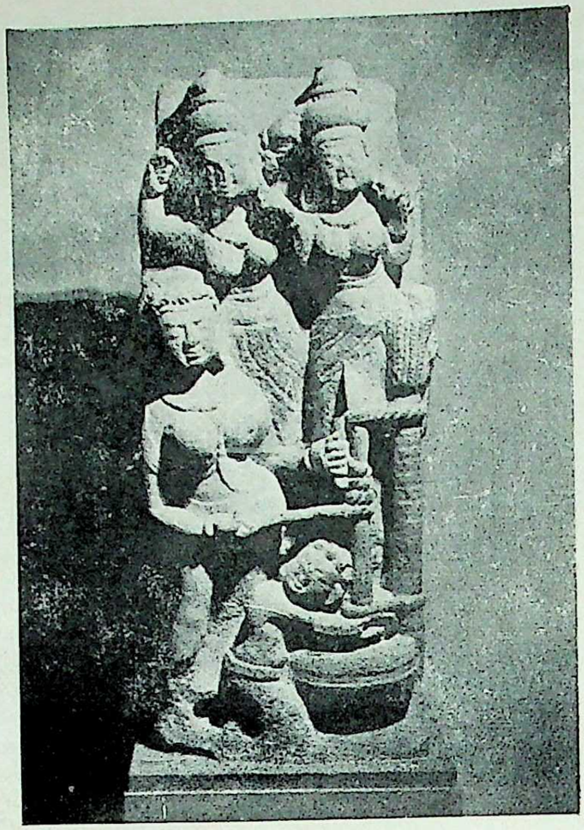
चित्र-सं० ६३ : त्रिविक्रम (म० सं०)



चित्र-सं० ५४ : वसुदेव द्वारा बालकृष्ण-वहन (म० सं०)



चित्र-सं० ५५ : संकर्षण, एकानंशा, कृष्ण



चित्र-सं० ६६ : यशोदा का दधिमन्थन : बालकृष्ण का मथानी पकड़ना (भा० क० भवन)



चित्र-सं० ६७ : भीम-जरासन्ध का मल्लयुद्ध (गढ़वा)



चित्र-सं० ६८ : सिंहमुख हलधारी बलराम (भा० क० भवन)



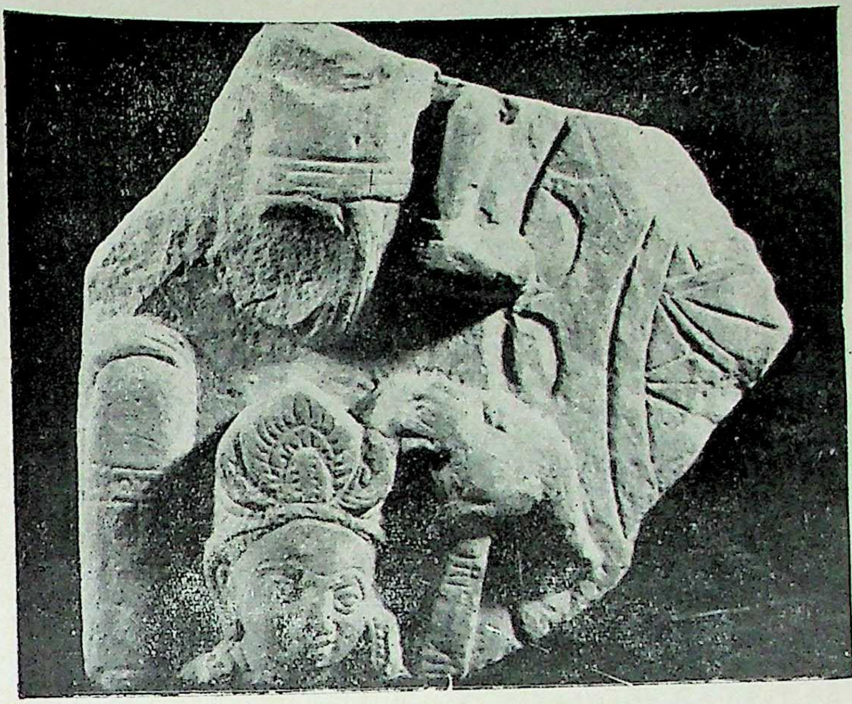
चित्र-सं० ६९ : बलराम-हलमूसलधारी



चित्र-सं० ७० : हल-मूसलधारी बलराम (उमँन)



चित्र-सं० ७१ : एककुण्डली द्विभुज बलराम (म० सं०)



चित्र-स० ७२ : एककुण्डली सिंह-हलधारी चतुर्भुज बलराम, जैन



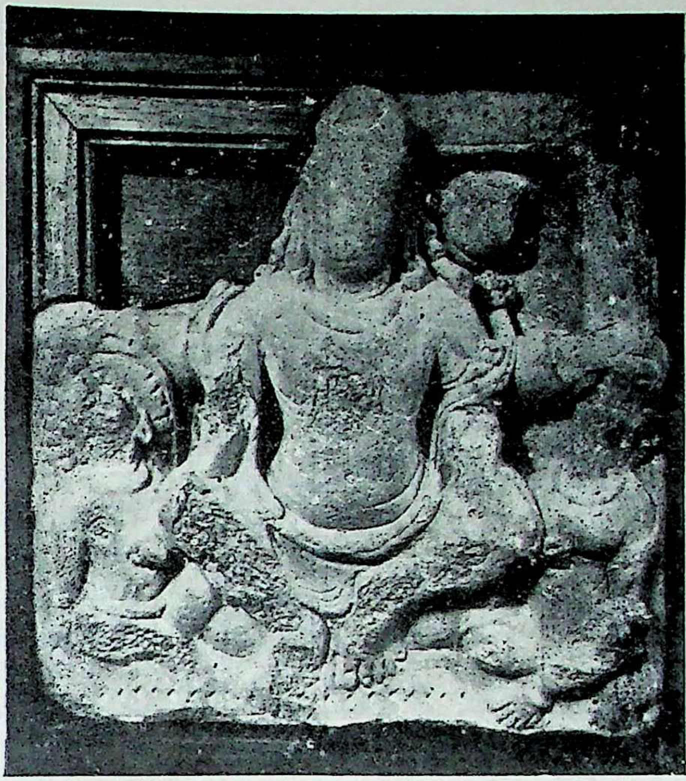
चित्र-स० ७३ : मधु[illegible]



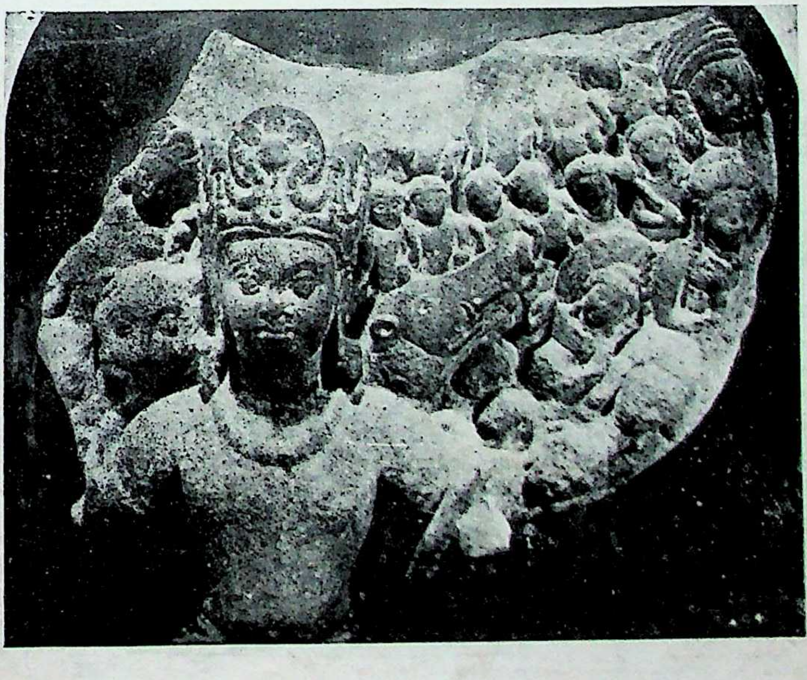
चित्र-सं० ७६ : हरि, गजेन्द्र-मोक्ष (देवगढ़, झाँसी)



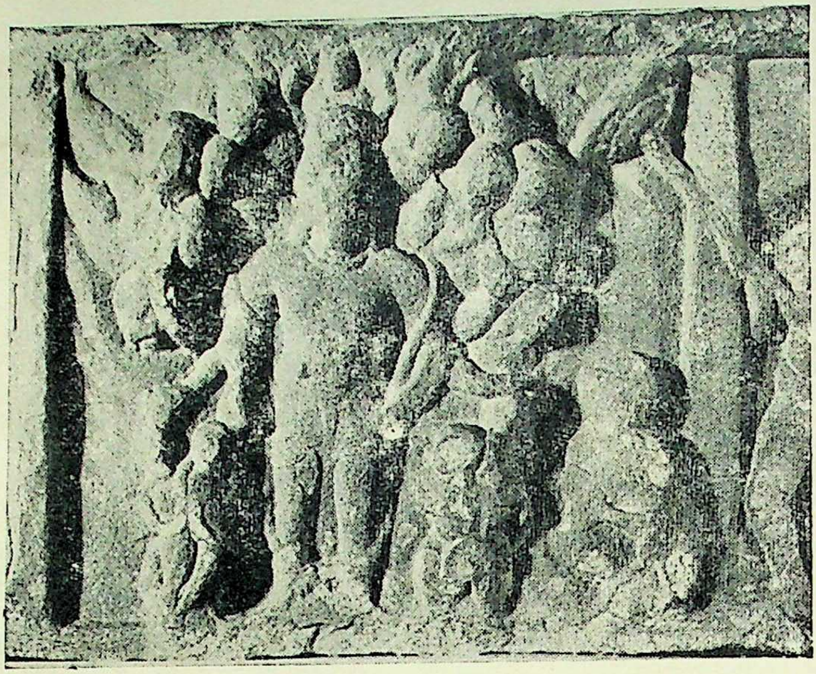
चित्र-सं० ७७ : वराह-विष्णु-नृसिंह (पृ० १०७)



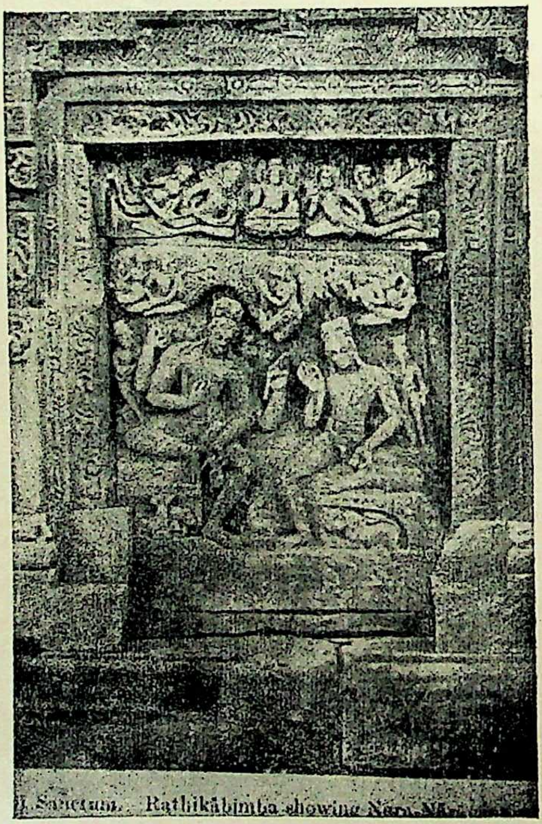
चित्र-सं० ७८ : बराह-विष्णु-नृसिंह (मृण्मूर्त्ति—म० सं०) (पृ० १०७)



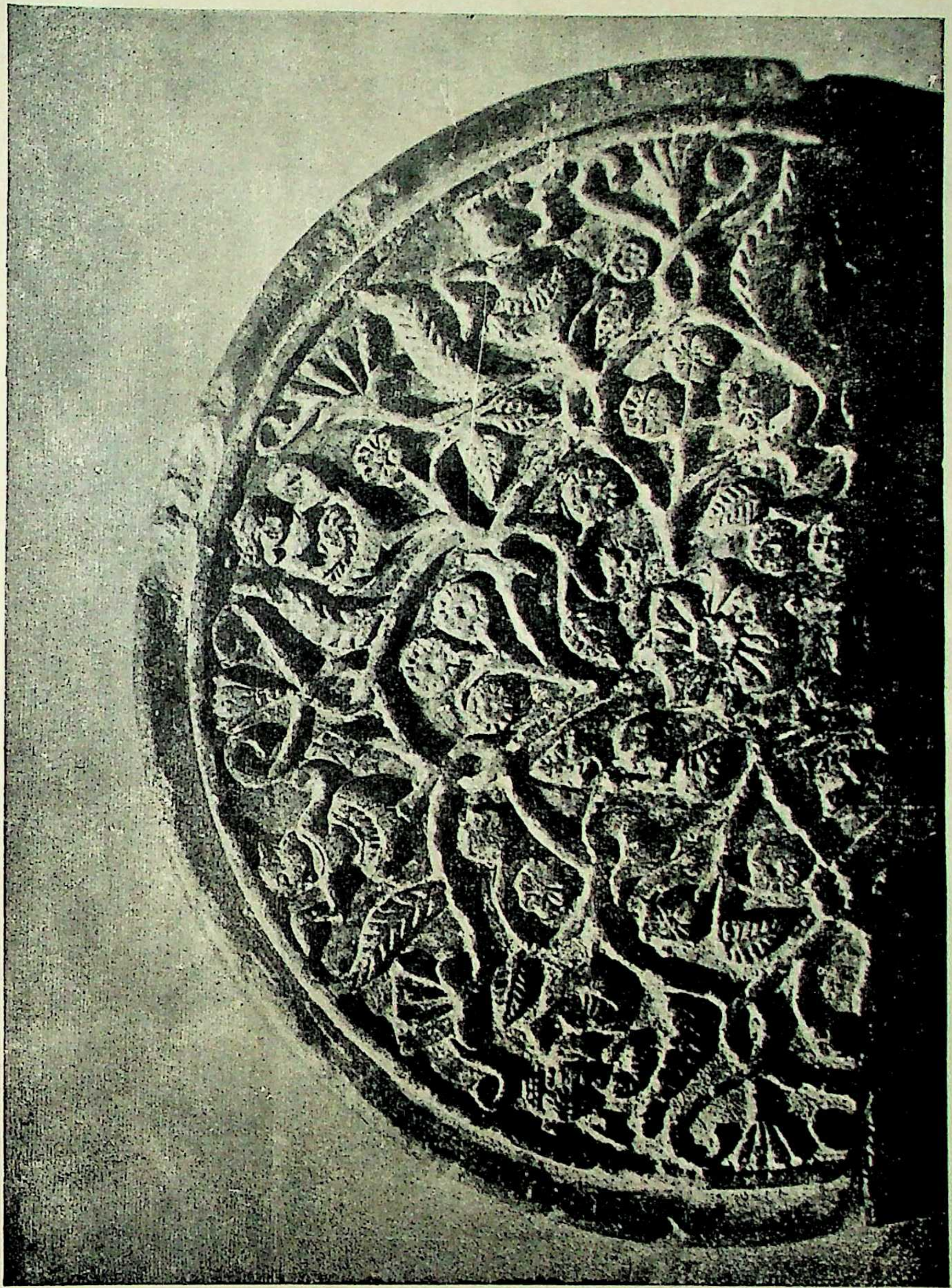
चित्र-सं० ७९ : विश्वरूप (म० सं०)



चित्र-सं० ८० : विश्वरूप विष्णु



चित्र-सं० ८१ : नरनारायण (देवगढ़)



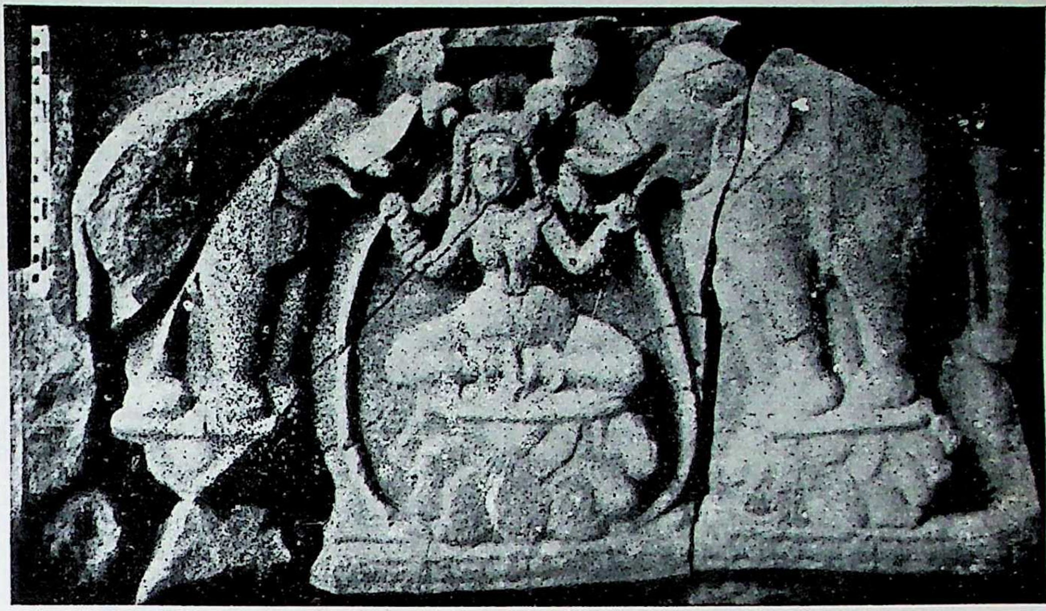
चित्र-सं० ८२ : मिट्टी की चकिया पर मातृदेवियाँ—लता के बीच



चित्र-सं० ८३ : मातृदेवी—मृत्तिका



चित्र-सं० ८४ : मातृदेवी-मृत्तिका (म० सं०) (पृ० १३२)



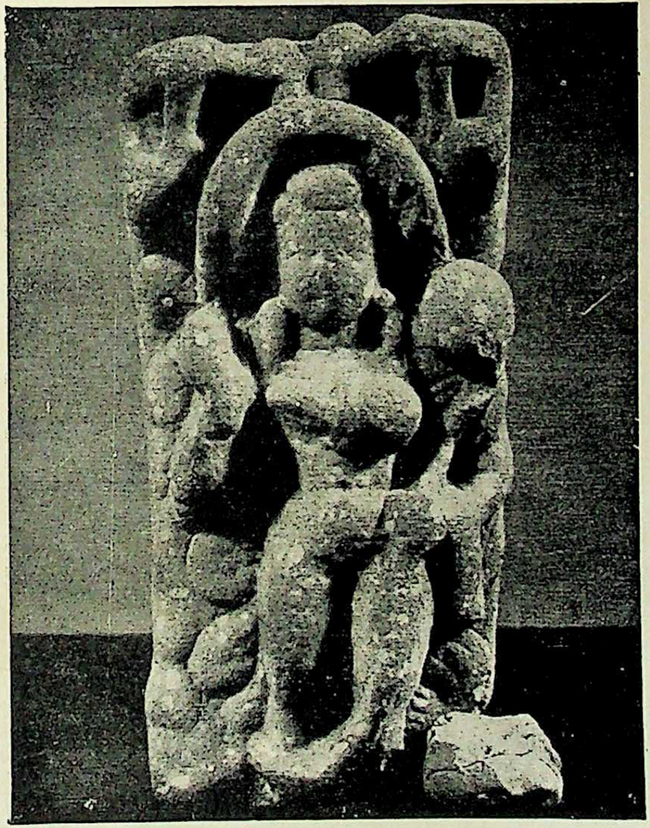
चित्र-सं० ८५ : गजलक्ष्मी(भरहुत) (पृ० सं० १२१, १३२)



चित्र-सं० ८६ : [illegible] (पृ० सं० [illegible])



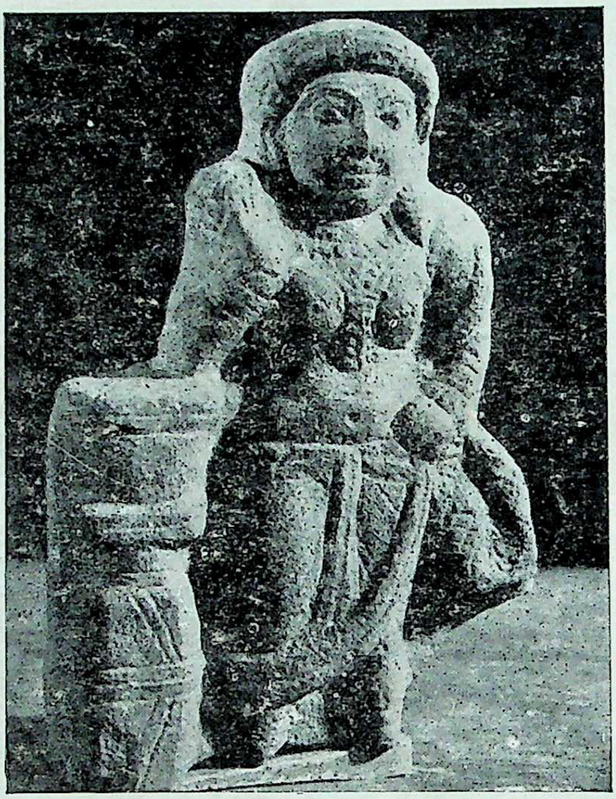
चित्र-सं० ८८ : लक्ष्मी (मथुरा) (पृ० १२१)



चित्र-सं० ८९ : गजलक्ष्मी (पृ० १२२)



चित्र-सं० ९० : सोने के पत्तल की बनी लक्ष्मी (कुबेर के साथ)



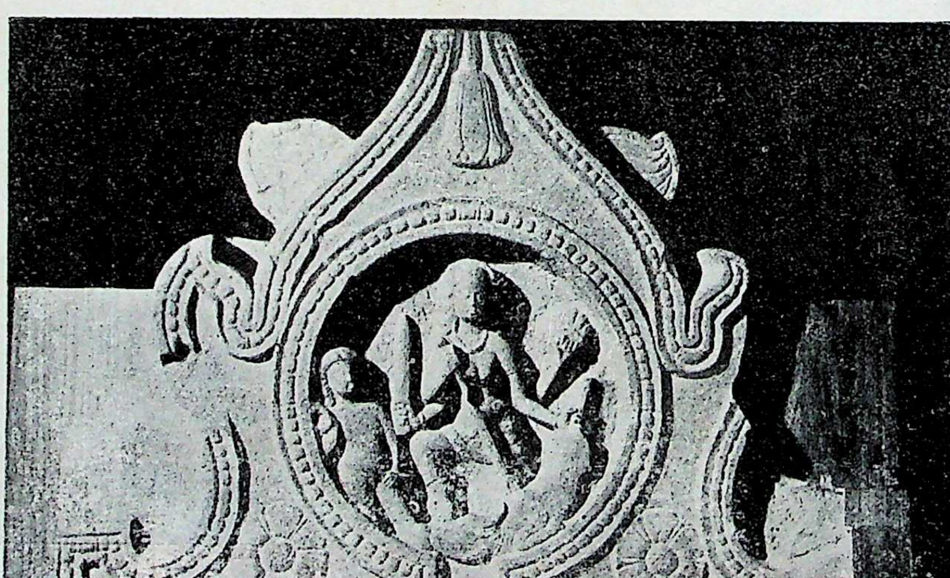
चित्र-सं० ९१ : वसुधारा (पृ० १२२)



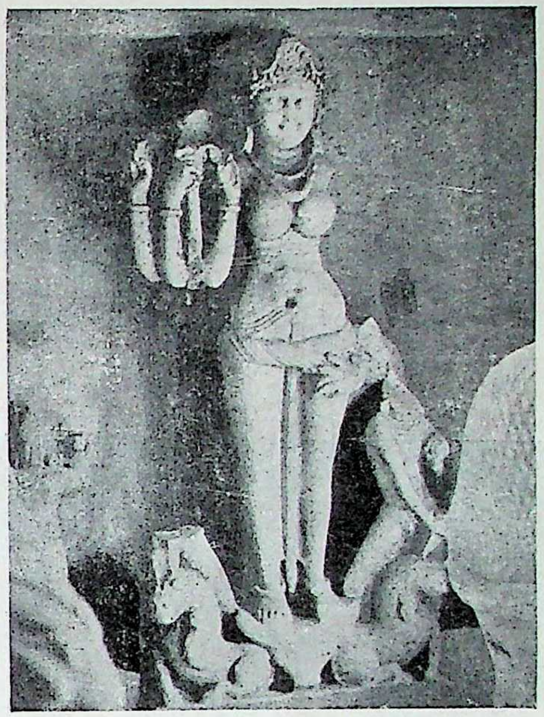
चित्र-सं० १२ : व्याघ्रमुखी माता, कार्त्तिकेय और घड़ा (पृ० सं० १२८-१२९)



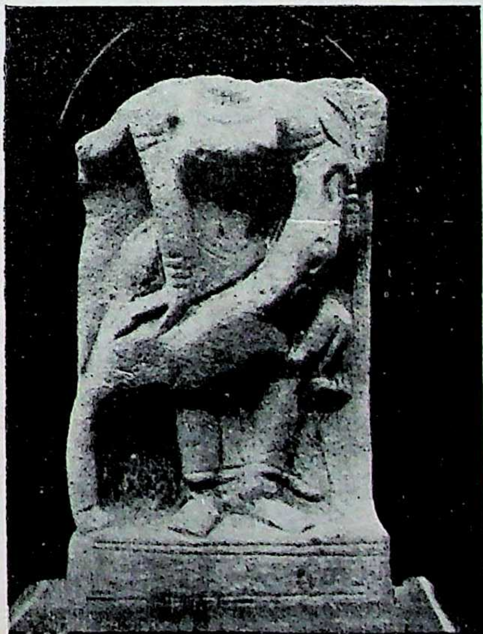
चित्र-सं० ९४ : महिषमर्दिनी मृत्तिका (म० सं०) (पृ० १३५)



चित्र-सं० ९५ : महिषमर्दिनी, इलाहाबाद (पृ० १३६)



चित्र-सं० ९६ : षड्भुज महिषमर्दिनी दुर्गा, ग्वालियर (पृ०१३६)



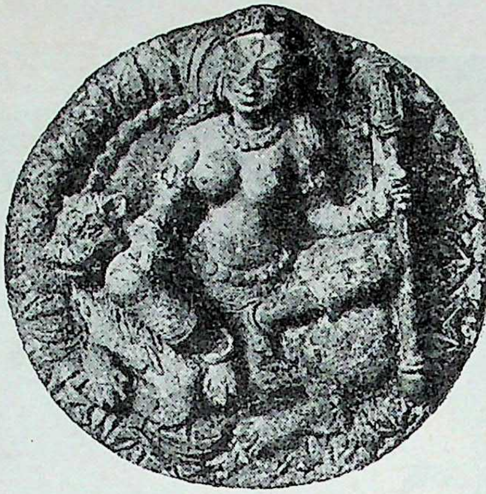
चित्र-सं० ९७ : महिषमर्दिनी (म० सं०)



चित्र-सं० ९८ : पार्वती—मस्तक (मृण्मूर्ति) अहिच्छत्रा (पृ० १३८)



चित्र नं० १०० : प र्वती और कार्त्तिकेय (पृ० सं०१३२-१३३)



चित्र-सं० १०१ : सिंहवाहिनी दुर्गा, मृण्मूर्त्ति (पृ० सं० १३७-१३८)



चित्र-सं० १०२ : अभिलिखित कार्त्तिकेय (म० सं०) (पृ० सं० १५१-१५२)



चित्र-सं० १०३ : अभिलिखित कार्त्तिकेय—पृष्ठभाग (पृ० सं०१५१—१५३)



चित्र-सं० १०४ : मोर पर कार्त्तिकेय, (गान्धार-कला)



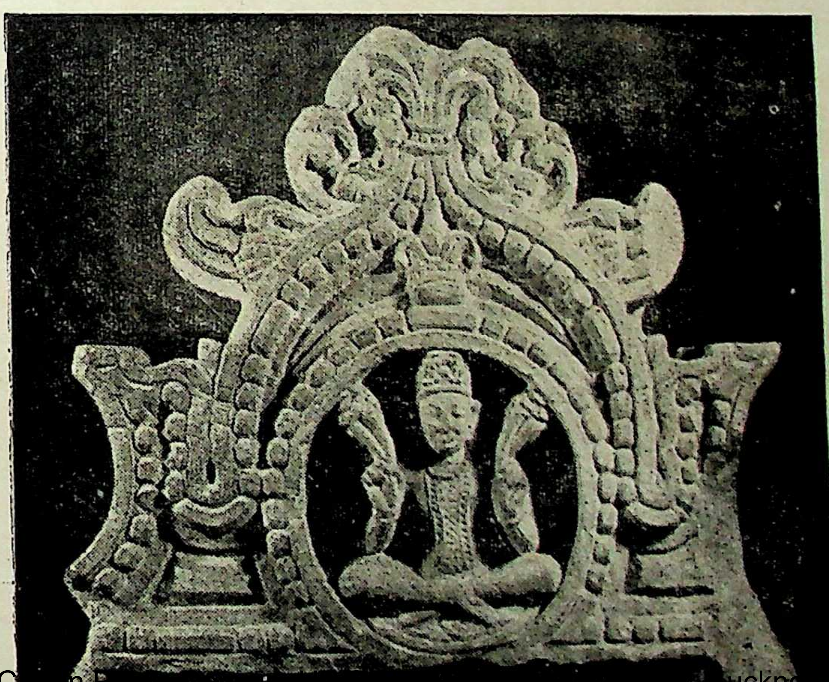
चित्र-सं० १०५ : शक्तिधर कार्त्तिकेय

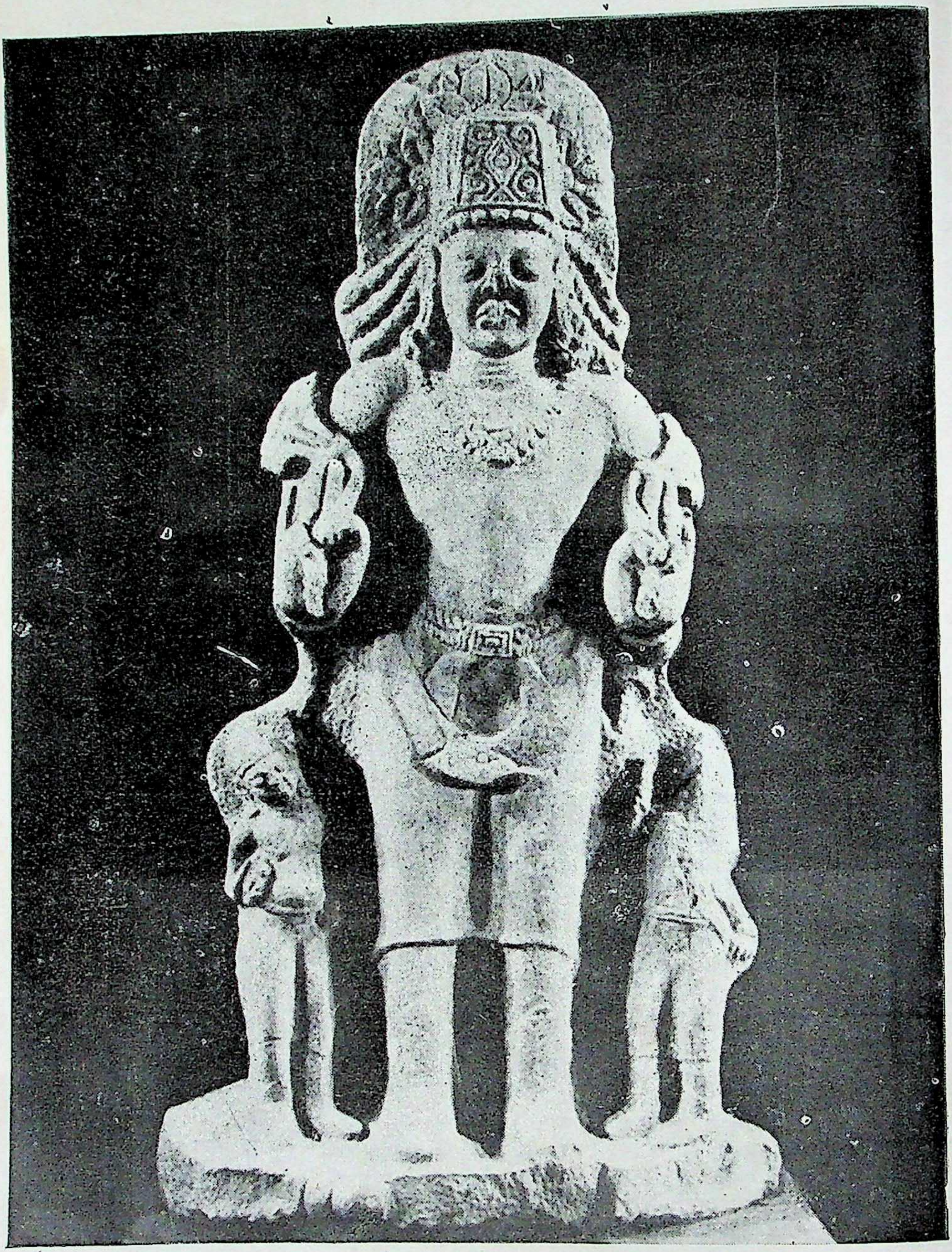


चित्र-सं० १०६ : मोरवाहन कार्त्तिकेय (इलाहाबाद) (पृ० १५३)



चित्र-सं० १०७ : सूर्य (म० सं०) (पृ० सं० १५८, १५९ तथा १६१)

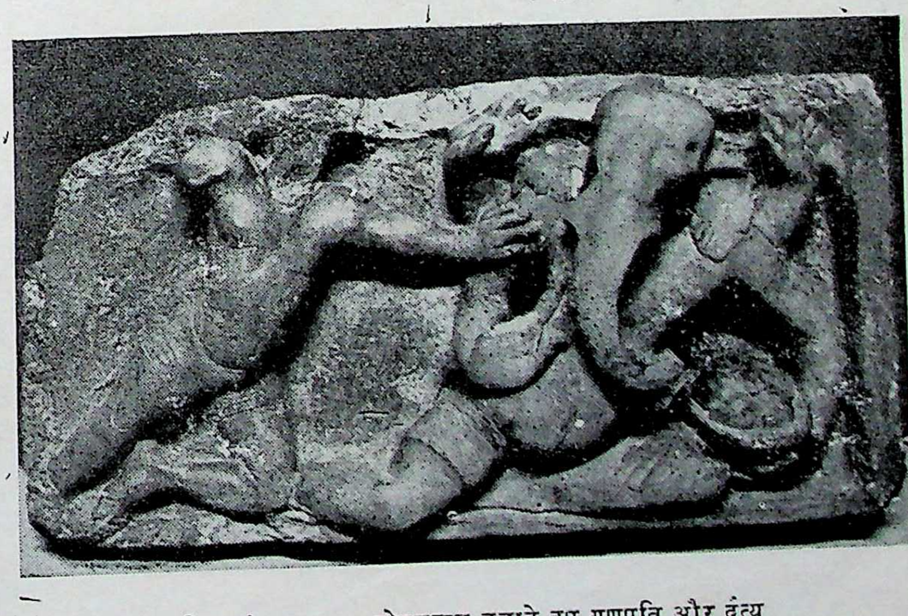




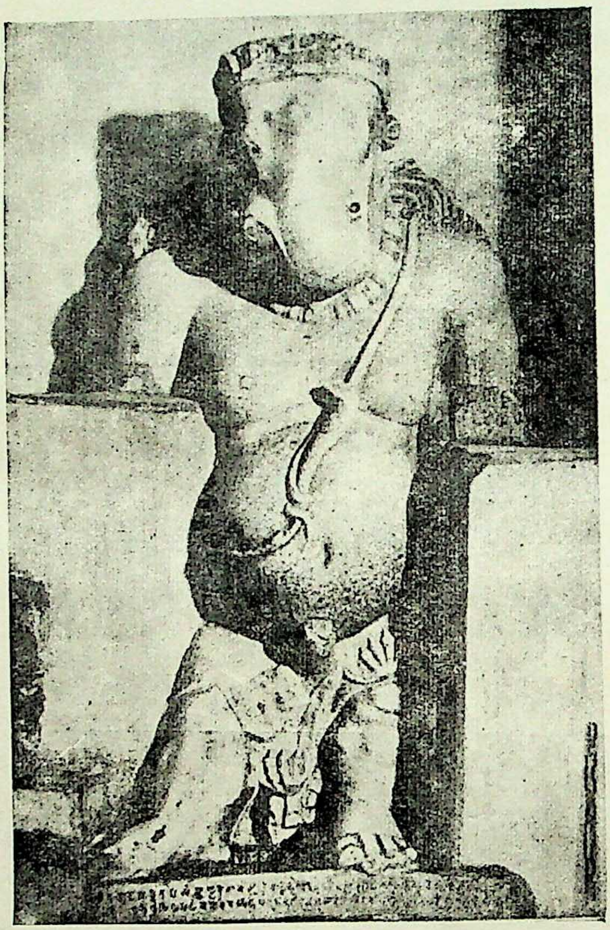
चित्र-सं० १०९ : कमलधारी—सूर्य खड़े (पृ० १६०)



चित्र-सं० ११० : प्रभामण्डल के अन्दर रथारूढ़ सूर्य (पृ० सं० १६२)



चित्र-सं० १११ : [illegible] बजाते हुए गणपति और दैत्य



चित्र-सं० ११२ : ऊर्ध्वमेढ़्र महाविनायक (काबुल) (पृ० १६८)



रे० चि० सं० १ : शिव-बैठे (मूसानगर)



रे० चि० सं० २ : गदाधारी शिव



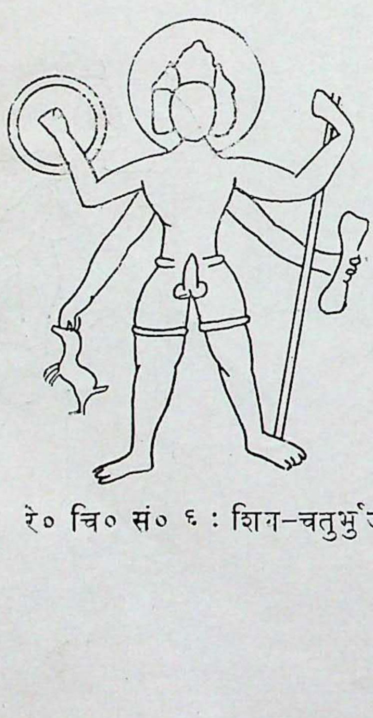
रे० चि० सं० ३ : शिव



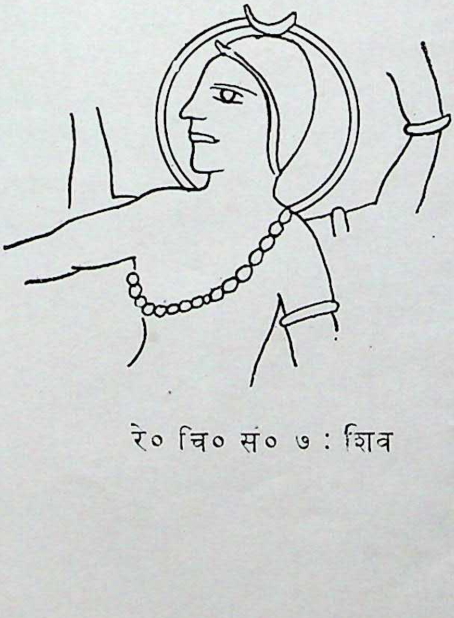
रे० चि० सं० ४ : शिव (वृषारूढ)



रे० चि० सं० ५ : शिव-चतुर्भुज



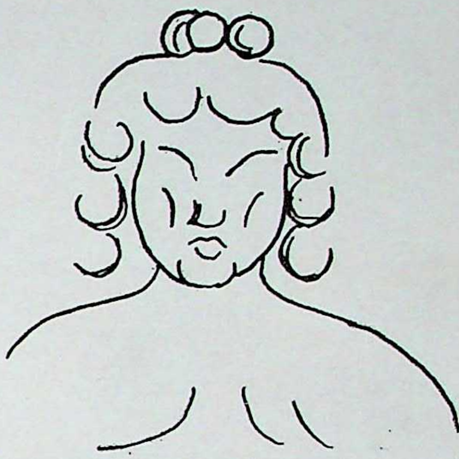
रे० चि० सं० ६ : शिव-चतुर्भुज



रे० चि० सं० ७ : शिव



रे० चि० सं० ८ : शिव (त्रिमूर्त्ति)



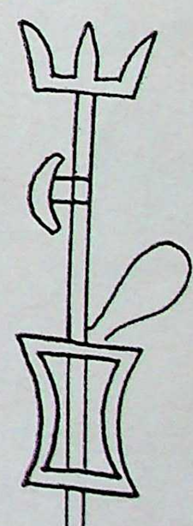
रे० चि० स० ९ : शिव



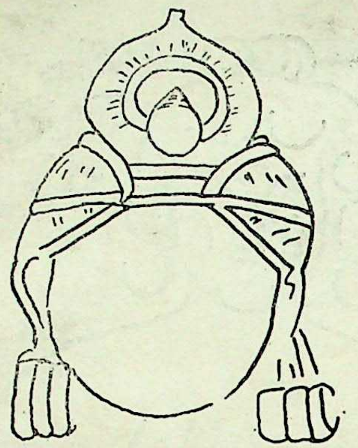
रे० चि० स० १० : शिव–उष्णीषिन्
(भरतपुर)



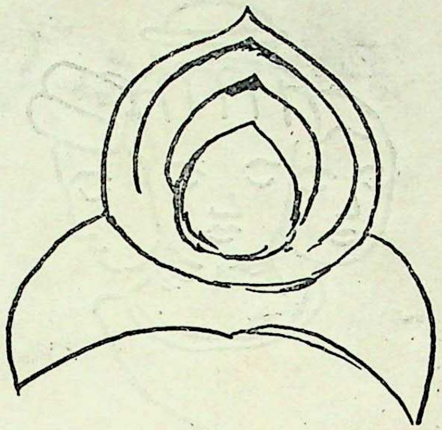
रे० चि० सं० ११ : शिव–उष्णीषिन् (भीटा)



रे० चि० सं० १२ : शिव–प्रतीक



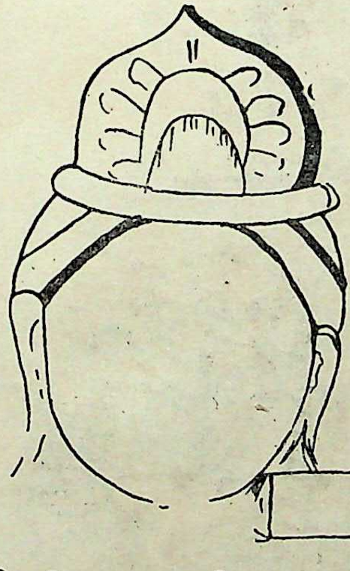
रे० चि० सं० १३ : शिव-उष्णीषिन्
(मूसानगर)



रे० चि० सं० १४ : शिव-उष्णीषिन्
(कौशाम्बी)



रे० चि० सं० १५ : शिव-उष्णीषिन्
(नई दिल्ली)



रे० चि० सं० १६ : शिव-उष्णीषिन्
(फिलाडेल्फिया)



रे० चि० सं० १७ :
शिवमुख–जटाभार
(दिल्ली)



रे० चि० सं० १८ :
शिवमुख–जटाभार
(लखनऊ)



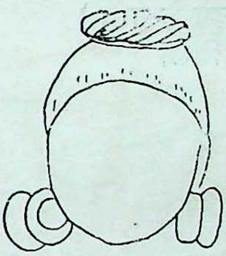
रे० चि० सं० १९ :
शिवमुख–जटाभार
(मथुरा)



रे० चि० सं० २० :
शिवमुख–जटाभार
(लखनऊ)



रे० चि० सं० २१ :
अघोरमुख (भीटा)



रे० चि० सं० २२ :
कपर्दिन् (मथुरा)



रे० चि० सं० २३ :
शिवमुख–जटाभार (लखनऊ)



रे० चि० सं० २४ :
शिवमुख–जटाभार (मूसानगर)



रे० चि० सं० २५ :
हरिहर (इलाहाबाद)



रे० चि० सं० २६ :
शिवमुख–मृण्मूर्त्ति(मथुरा)



रे० चि० सं० २७ :
शिवमुख–भिक्षाटन



रे० चि० सं० २८ :
त्रिमूर्त्ति (वृष के साथ)
तक्षशिला



रे० चि० सं० २६ :
शिव पार्वती (राजस्थान)



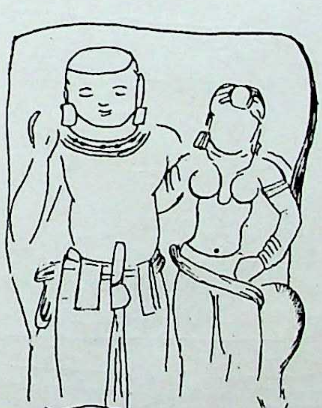
रे० चि० सं० ३० : शिव ताण्डवगुप्त



रे० चि० सं० ३१ : शिव-पार्वती कैलासोद्वहन



रे० चि० सं० ३२ : लिंगोद्भव-त्रिमूर्त्ति
(वाराणसी)



रे० चि० सं० ३३ : शिव-पार्वती
(मथुरा)



रे० चि० सं० ३४ : अर्धनारीश्वर
मध्यप्रदेश



रे० चि० सं० ३५ : अर्धनारीश्वर
(मथुरा संग्रहालय)



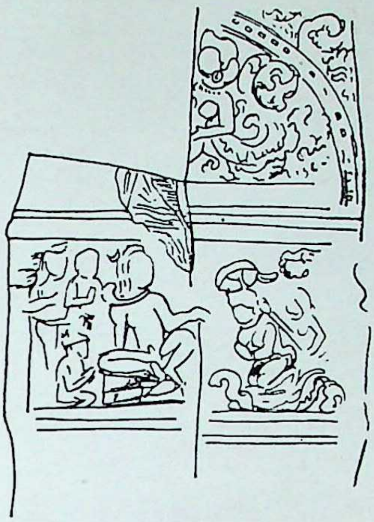
रे० चि० सं० ३६ : वामन
(इलाहाबाद)



रे० चि० सं० ३७ : अज-एकपाद
(राजस्थान)



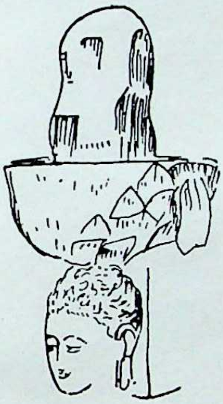
रे० चि० सं० ३८ : गदाधारी शिव-पार्वती
(पाकिस्तान)



रे० चि० सं० ३९ : गंगावतरण



रे० त्रि० स० ४० : लिंगोद्भव (भा०क०भ०)



रे० चि० सं० ४१ : शिवोद्वाही(भा०क०भ०)



रे० चि० सं० ४२ : द्विभुज विष्णु, विदिशा



रे० चि० सं० ४३ : द्विभुज विष्णु, विदिशा (पृष्ठभाग)



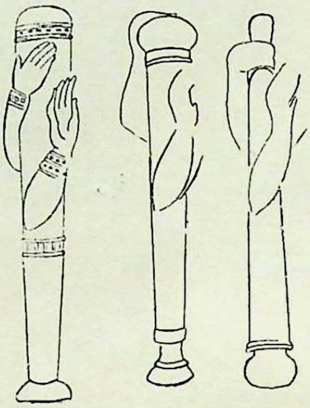
रे० चि० सं० ४४ : चतुर्भुज विष्णु, पवाया



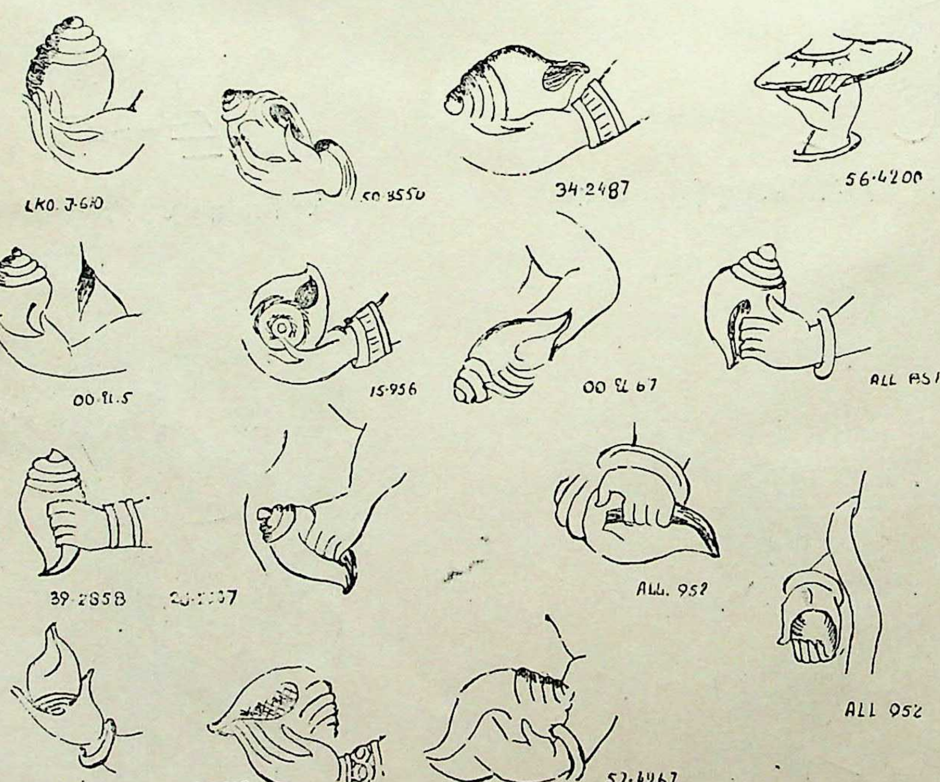
रे० चि० सं० ४५ : पटिया पर उकेरी विष्णु की मूर्त्ति, मथुरा



रे० चि० सं० ४६ : त्रिविक्रम, पदम-पवाया, ग्वालियर



रे० चि० सं० ४७ : गदा पकड़ने के तीन प्रकार



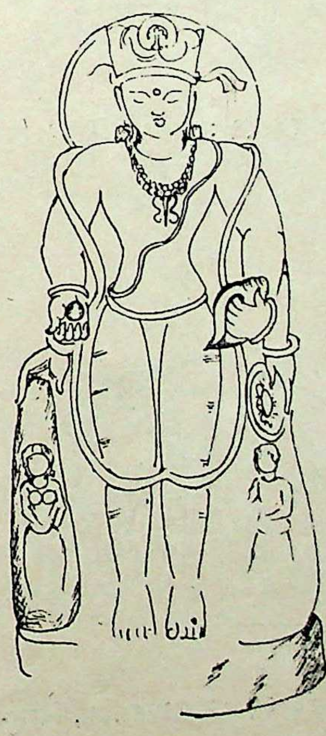
रे० चि० सं० ४८ : शंख पकड़ने के तेरह प्रकार



रे० चि० सं० ४९ : विष्णु, ऊँचाडीह



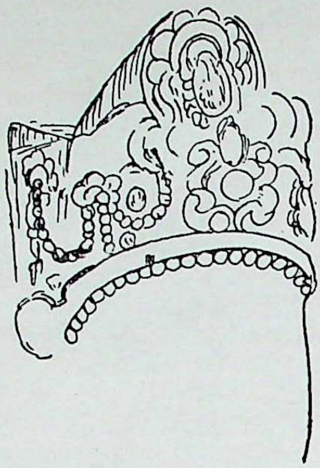
रे० चि० सं० ५० : विष्णु, झूँसी



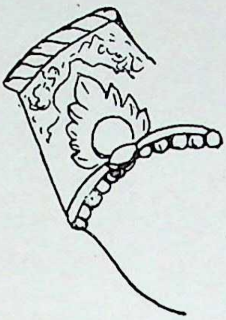
रे० चि० सं० ५१ : विष्णु, राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली



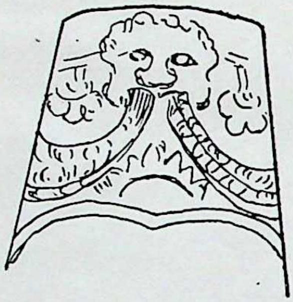
रे० चि० सं० ५२ : आसनस्थ नरसिंह, कोण्डामोतु



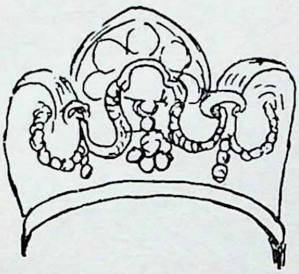
रे० चि० सं० ५६ : विष्णु-मुकुट, मुक्तामाला



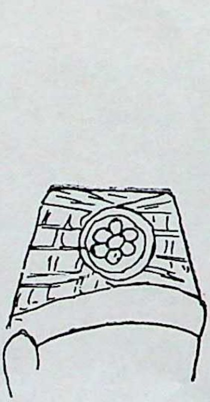
रे० चि० सं० ५७ : करण्डक विष्णु मुकुट



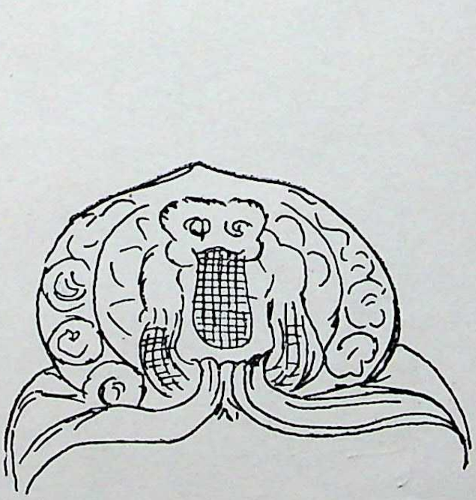
रे० चि० सं० ५८ : सिंहमुख से शोभित विष्णु-मुकुट



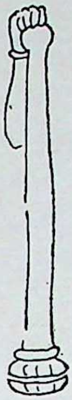
रे० चि० सं० ५९ : माला-शोभित विष्णु-मुकुट, मथुरा



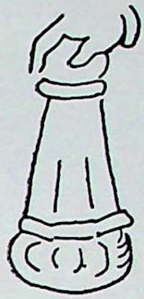
रे० चि० सं० ६० : करण्डक विष्णु-मुकुट (दूसरा प्रकार)



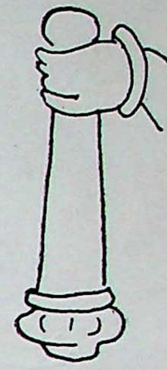
रे० चि० सं० ६१ : मालाधर सिंह, विष्णु-मुकुट (कुषाण)



रे० चि० सं० ६२ : गदा-कुम्भयुक्त (अहिच्छत्रा)



रे० चि० सं० ६३ : गदा-कुम्भयुक्त (मथुरा-संग्रहालय)



रे० चि० सं० ६४ : गदा-कुम्भयुक्त (देवगढ़)



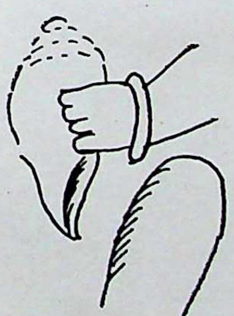
रे० चि० सं० ६५ : गदा और गदादेवी (मथुरा-संग्रहालय)



रे० चि० सं० ६६ : शंख-उदग्र



रे० चि० सं० ६७ : शंख-अधोऽग्र (ल० सं०)



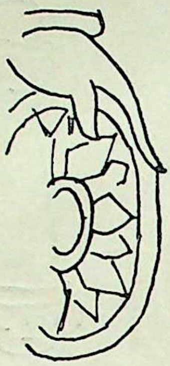
रे० चि० सं० ६८ : शंख-अधोऽग्र (म० सं०)



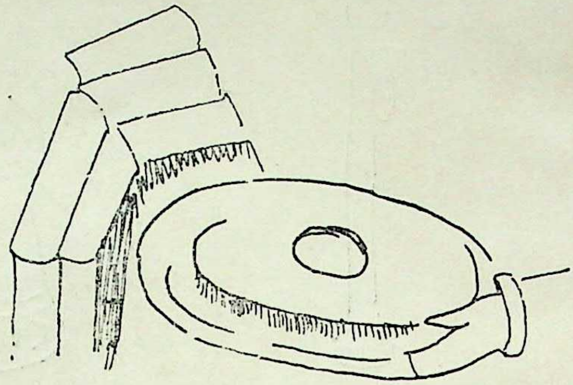
रे० चि० सं० ६९ : शंख-अधोऽग्र (ल० सं०)



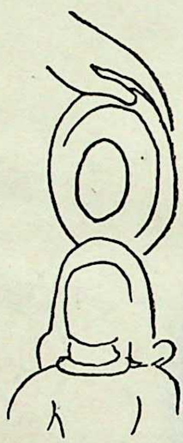
रे० चि० सं० ७० : चक्र की पकड़



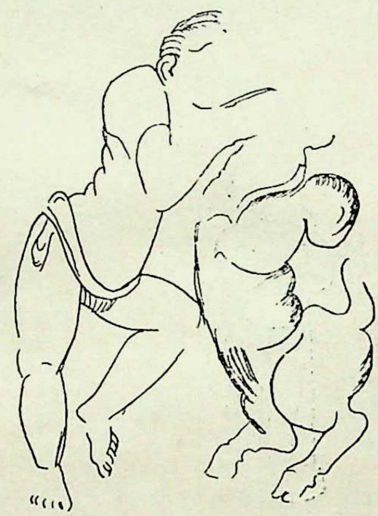
रे० चि० सं० ७१ : चक्र की पकड़ (गुप्तकाल)



रे० चि० सं० ७२ : चक्र (वेदिका-स्थित) की पकड़



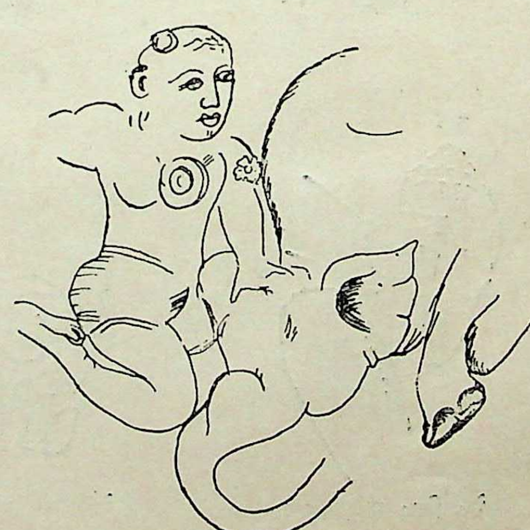
रे० चि० सं० ७३ : चक्र और चक्र-पुरुष



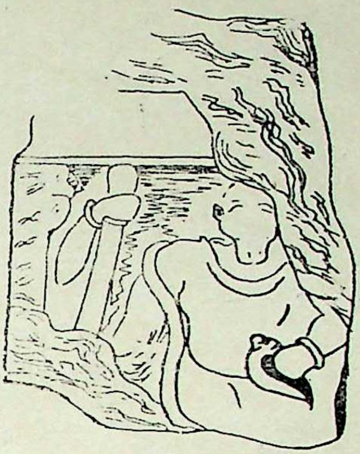
रे० चि० सं० ७४ : वृषभासुर-वध, मृत्फलक (भितरगाँव)



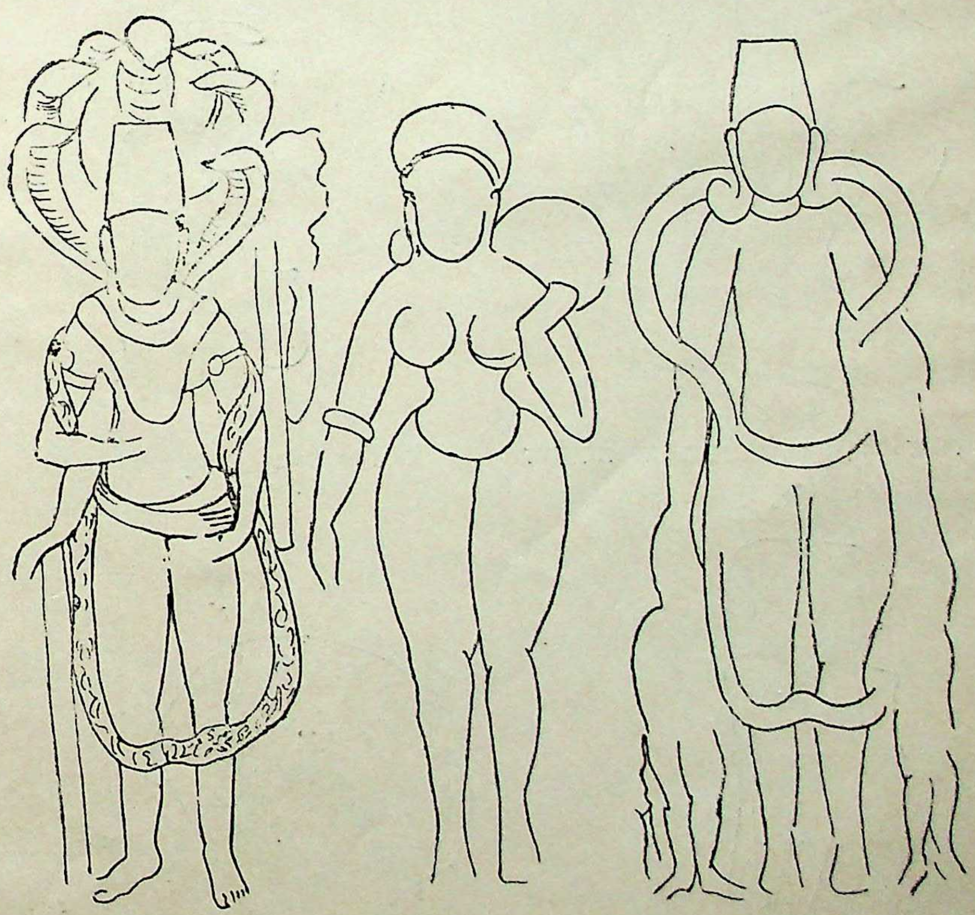
रे० चि० सं० ७६ : केशी-वध



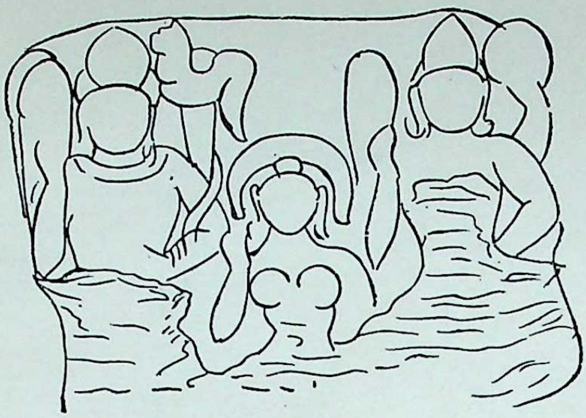
रे० चि० सं० ७७ : कुवलयापीड़-वध (भितरगाँव)



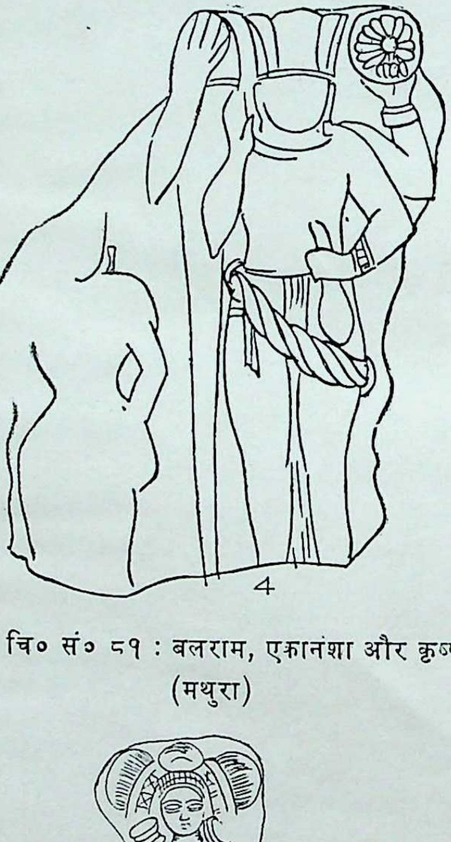
रे० चि० सं० ७८ : हयग्रीव (भितरगाँव)



रे० चि० सं० ७९ : बलराम, एकानंशा और कृष्ण (लक्ष्मीकुण्ड, वाराणसी)



रे० चि० सं० ८० : बलराम, एकानशा और कृष्ण (मथुरा)



रे० चि० सं० ८१ : बलराम, एकानंशा और कृष्ण (मथुरा)



रे० चि० सं० ८२ : वसुधारा (म० सं०)



रे० चि० सं० ८३ : वसुधारा (मृण्मूर्त्ति)



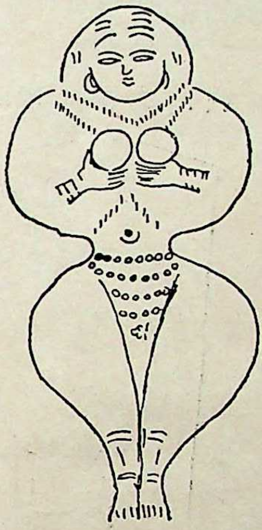
रे० चि० सं० ८४ : षण्मुखी या षष्ठी (मथुरा)



रे० चि० सं० ८५ : विशाख और षष्ठी, मथुरा



रे० चि० सं० ८६ : षष्ठी, स्कन्द और विशाख, मथुरा



रे० चि० सं० ८७ : मातृदेवी (मृण्मूर्त्ति) (अभारतीय)



रे० चि० सं० ८८ : दुर्गा—महिषमर्दिनी (म० सं०)



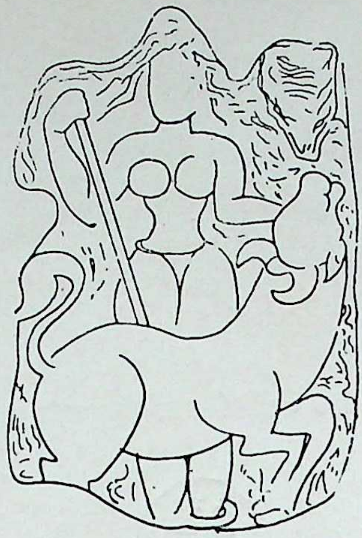
रे० चि० सं० ८९ : दुर्गा—षड्भुजी (म० सं०)



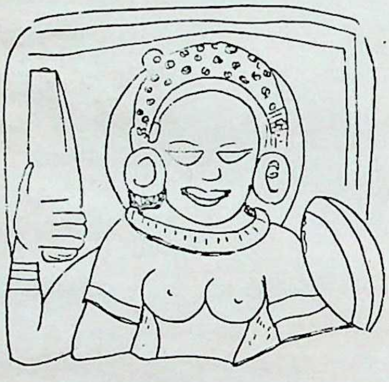
रे० चि० सं० ९० : दुर्गा-षड्भुजी, महिषमर्दिनी (म० सं०)



रे० चि० सं० ९१ : मातृदेवी (चषक के साथ)



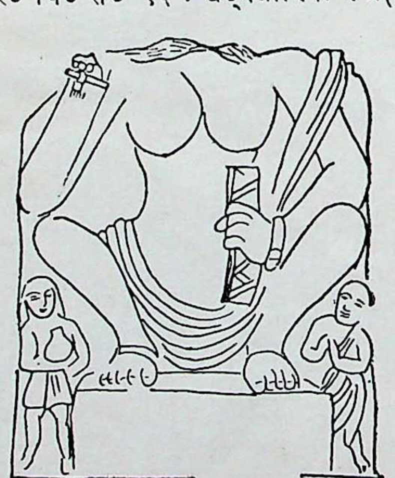
रे० चि० सं० ९२ : दुर्गा, महिषमर्दिनी (मृण्मूर्त्ति)



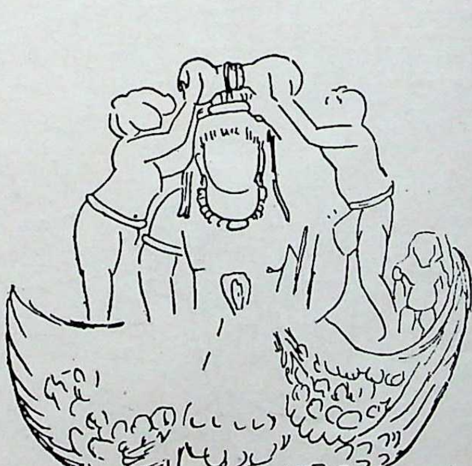
रे० चि० सं० ९३ : खड्गधारिणी देवी(मृण्मूर्त्ति)



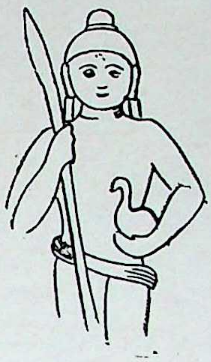
रे० चि० सं० ९४ : लक्ष्मी, मातृका-रूपा



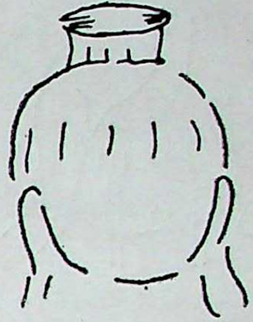
रे० चि० सं० ९५ : सरस्वती (ल० सं०)



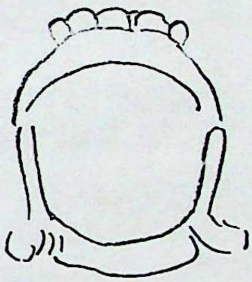
रे० चि० सं० ९६ : स्कन्दाभिषेक (म० सं०)



रे० चि० सं० ९७ : कार्त्तिकेय (कुक्कुट के साथ)



रे० चि० सं० ९८ : कार्त्तिकेय—केशरचना (म० सं०)



रे० चि० सं० ९९ : कार्त्तिकेय—केशरचना (म० सं०)



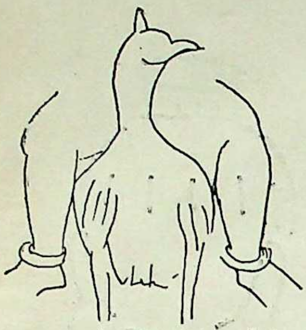
रे० चि० सं० १०० : कार्त्तिकेय—केशरचना (म० सं०)



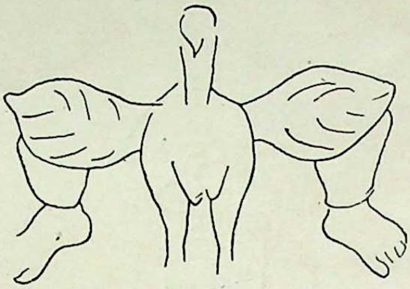
रे० चि० सं० १०१ : कार्त्तिकेय—केशरचना



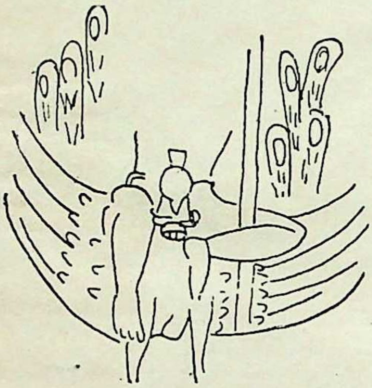
रे० चि० सं० १०२ : कार्त्तिकेय — केशरचना



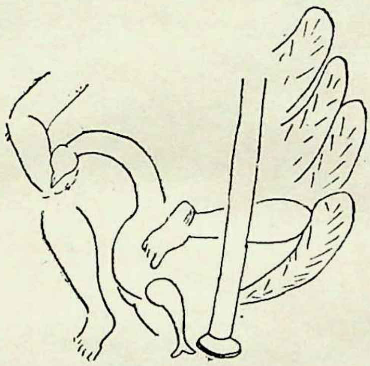
रे० चि० सं० १०३ : कार्त्तिकेय—मयूरारूढ



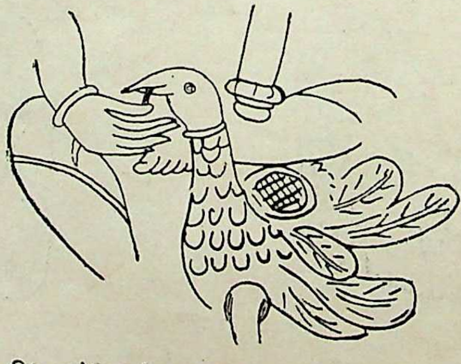
रे० चि० सं० १०४ : कार्त्तिकेय—मयूरारूढ



रे० चि० सं० १०५ : कार्त्तिकेय—मयूर के गले में घण्टी

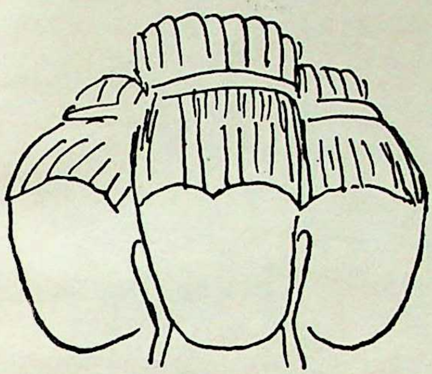


रे० चि० सं० १०६ : कार्त्तिकेय—मयूर को खिलाते हुए

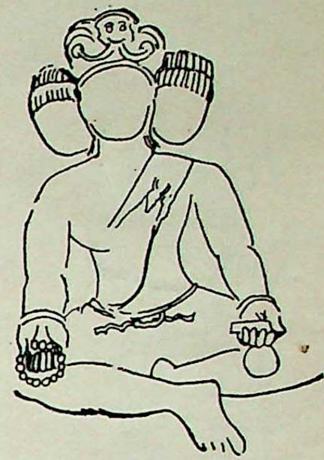


रे० चि० सं० १०७ : स्कन्द—मयूर को खिलाते हुए

सूचीबद्ध रेखाचित्रों के अतिरिक्त कुछ रेखाचित्र



रे० चि० सं० १०८ : ब्रह्मा, शीर्षभाग (पृ० १७४)



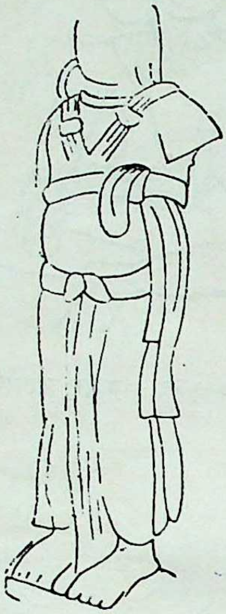
रे० चि० सं० १०९ : ब्रह्मा, चापागऊ, नेपाल



... सपत्नीक (पृ० १७८)



रे० चि० सं० १११ : ईहामृग, मथुरा (पृ० १८६)



रे० चि० सं० ११२ : यक्ष, परखम (पृ० १८१)



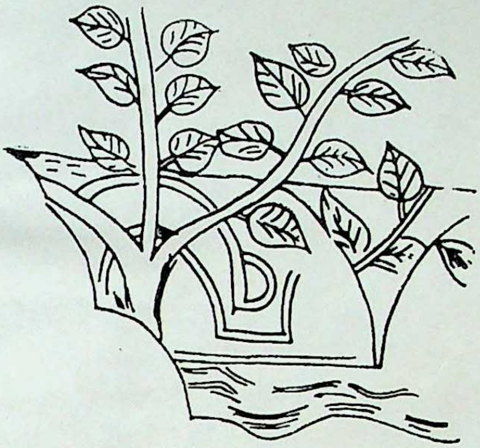
रे० चि० सं० ११३ : यक्ष, विदिशा (पृ० १८१)



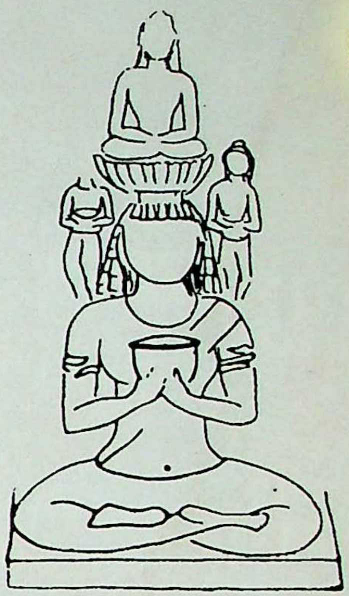
रे० चि० सं० ११४ : विकृतमुख यक्ष, मथुरा (पृ० १८१)



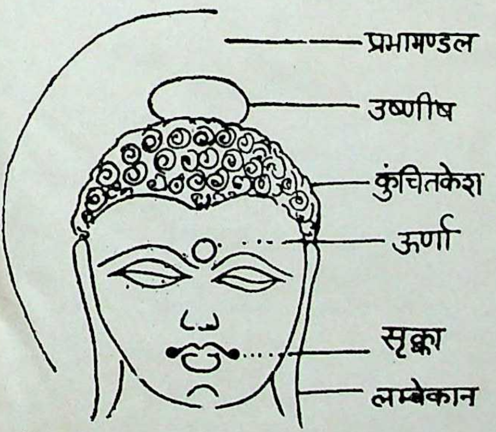
रे० चि० सं० ११५ : सर्पमुख मानवाकार नाग;
छोंक (मथुरा) (पृ० १८२)



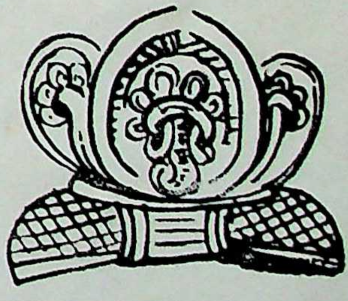
रे० चि० सं० ११६ : बोधिघर, कुषाण, मथुरा(पृ० १९३)



रे० चि० सं० ११७ : नीलकण्ठ लोकेश्वर, सारनाथ (पृ० २०४)



रे० चि० सं० ११८ : बुद्धमुख (पृ० १९८)



रे० चि० सं० ५४ : बलराम का तीन कलंगीवाला मुकुट (पृ० ९०)